विषय सूची ।

निवेदन ।

इस खण्डके साथ साथ यह ग्रन्थ भी पूरा होता है । इस बातकी बड़ी खुशी है कि मंगलमय जिन भगवान्‌की कृपासे इतने बड़े ग्रन्थका अनुवाद निर्विघ्न पूरा हो गया । अनुवादके सम्बन्धमें हमें जो लिखना थां वह पहले खण्डकी प्रस्तावनामें हम लिख चुके हैं । सारे ग्रन्थमें हमने उसी शैलीका अनुसरण किया है ।

एक बात और ऐसी रह गई जो अब तक न लिखी गई । वह है— 'आराधना-कथाकोश' की आलोचना—इसकी रचना आदिके सम्बन्धमें गुण-दोषोंका विचार । परंतु इस ग्रन्थके प्रकाशक हमारे उन आलोचना सम्बन्धी विचारोंको पसन्द करेंगे या नहीं, इस खयालसे उसे हम यहाँ नहीं लिख सके । हमें इतने बड़े ग्रन्थका अनुवाद लिखते समय जो-जो अनुभव हुआ, उसे पाठकों पर विदित करना हमारा कर्त्तव्य था । इसलिए कि वे उस आलोचनासे जानने योग्य बातोंको जानकर उनके द्वारा कुछ लाभ उठाते । अस्तु, इसके लिए हम पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं और साथ ही उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि किसी जैनपत्र द्वारा इस विषयको बहुत जल्दी प्रगट कर हम अपने कर्त्तव्यके इस शेषांशको पूरा करेंगे ।

ता० ९-११-१५.
बम्बई.

विनीत—
उदयलाल काशलीवाल.

आराधना-कथाकोश ।

तीसरा भाग ।

६३-धर्मघोष मुनिकी कथा ।

स त्य धर्मका उपदेश करनेवाले और एव सारे संसारके स्वामी-जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर श्रीधर्मघोष मुनिकी कथा लिखी जाती है ।

एक महीनाके उपवासे धर्ममूर्ति श्रीधर्मघोष मुनि एक दिन पुरीके किसी मुहल्लेमें पारणा कर तपोवनकी ओर लौट । रास्ता भूल जानेसे उन्हें बड़ी दूरतक हरी हरी घास पर पड़ा । चलनेमें अधिक परिश्रम होनेसे थकावटके मारे प्यास लग आई । वे आकर गंगाके किनारे एक छायादार नीचे बैठ गये । उन्हें प्यासले कुछ व्याकुलसे देखकर गंगा पवित्र जलका भरा एक लोटा लेकर उनके पास आई । से बोली-योगिराज, मैं आपके लिए ठंडा पानी लाई

हूँ, आप इसे पीकर प्यास शान्त कीजिए। मुनिने कहा— देवी, तूने अपना कर्त्तव्य बजाया, यह तेरे लिए उचित ही था; पर हमारे लिए देवों द्वारा दिया गया आहार-पानी काम नहीं आता। देवी सुनकर बड़ी चकित हुई। वह उसी समय इसका कारण जाननेके लिए विदेहक्षेत्रमें गई और वहाँ सर्वज्ञ भगवान्को नमस्कार कर उसने पूछा—भगवन्, एक प्यासे मुनिको मैं जल पिलाने ले गई, पर उन्होंने मेरे हाथका पानी नहीं पिया; इसका क्या कारण है ? तब भगवान्ने इसके उत्तरमें कहा—देवोंका दिया आहार मुनिलोग नहीं कर सकते। भगवानका उत्तर सुन देवी निरुपाय हुई। तब उसने मुनिको शान्ति प्राप्त हो, इसके लिए उनके चारों ओर सुगन्धित और ठंडे जलकी वर्षा करना शुरू की। उससे मुनिको शान्ति प्राप्त हुई। इसके बाद शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मोंका नाशकर उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। स्वर्गके देव उनकी पूजा करनेको आये। अनेक भव्य-जनोंको आत्म-हितके रास्ते पर लगा कर अन्तमें उन्होंने निर्वाण लाभ किया।

वे धर्मघोष मुनिराज आपको तथा मुझे भी सुखी करें; जो पदार्थोंकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्थिति देखनेके लिए केवल-ज्ञानरूपी नेत्रके धारक हैं, भव्य-जनोंको हितमार्गमें लगाने-वाले हैं, लोक तथा अलोकके जाननेवाले हैं, देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं और भव्य-जनोंके मिथ्यात्व, मोहरूपी गाढ़े अन्धकारको नाश करनेके लिए सूर्य हैं।

६४–श्रीदत्त मुनिकी कथा।

केवलज्ञानरूपी सर्वोच्च लक्ष्मीके जो स्वामी हैं, ऐसे जिनेन्द्रभगवान्‌को नमस्कार कर श्रीदत्त मुनिकी कथा लिखी जाती है, जिन्होंने देवों द्वारा दिये हुए कष्टको बड़ी शान्तिसे सहा।

श्रीदत्त इलावर्द्धन पुरीके राजा जितशत्रुकी रानी इलाके पुत्र थे। अयोध्याके राजा अंशुमानकी राजकुमारी अंशुमतीसे इनका व्याह हुआ था। अंशुमतीने एक तोतेको पाल रक्खा था। जब ये पति-पत्नी विनोदके लिए चौपड़ वगैरह खेलते तब तोता कौन कितनी वार जीता, इसके लिए अपने पैरके नखसे रेखा खींच दिया करता था। पर इसमें यह दुष्टता थी कि जब श्रीदत्त जीतता तब तो यह एक ही रेखा खींचता और जब अपनी मालकिनकी जीत होती तब दो रेखाएँ खींच दिया करता था। आश्चर्य है कि पक्षी भी ठगाई कर सकते हैं। श्रीदत्त तोतेकी इस चालाकीको कई वार तो सहम गया। पर आखिर उसे तोते पर बहुत गुस्सा आया। सो उसने तोतेकी गरदन पकड़ कर मरोड़ दी। तोता उसी दम मर गया। बड़े कष्टके साथ मरकर वह व्यन्तरदेव हुआ।

इधर सांझको एक दिन श्रीदत्त अपने महल पर बैठा हुआ प्रकृतिदेवीकी सुन्दरताको देख रहा था। इतनेमें एक

बादलका बड़ा भारी टुकड़ा उसकी आँखोंके सामनेसे गुजरा। वह थोड़ी दूर न गया होगा कि देखते देखते छिन्नभिन्न हो गया। उसकी इस क्षण नश्वरताका श्रीदत्तके चित्त पर बहुत असर पड़ा। संसारकी सब वस्तुएँ उसे बिजलीकी तरह नाशवान् देख पड़ने लगीं। सर्पके समान भयंकर विषय-भोगोंसे उसे डर लगने लगा। शरीर, जिसे कि वह बहुत प्यार करता था सर्व अपवित्रताका स्थान जान पड़ने लगा। उसे ज्ञान हुआ कि ऐसे दुःखमय और देखते देखते नष्ट होनेवाले संसारके साथ जो प्रेम करते हैं—माया-ममता बढ़ाते हैं, वे बड़े बे-समझ हैं। वह अपने लिए भी बहुत पछताया कि हाय! मैं कितना मूर्ख हूँ जो अब तक अपने लिये न सोच सका। मतलब यह कि संसारकी दशासे उसे बड़ा वैराग्य हुआ और अन्तमें वह सुखकी कारण जिनदीक्षा ले ही गया।

इसके बाद श्रीदत्त मुनिने बहुतसे देशों और नगरोंमें भ्रमण कर अनेक भव्य-जनोंको सम्बोधा—उन्हें आत्महितकी ओर लगाया। घूमते फिरते वे एक बार अपने शहरकी ओर आ गये। समय जाड़ेका था। एक दिन श्रीदत्त मुनि शहर बाहर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। उन्हें ध्यानमें खड़ा देख उस तोतेको जीवको, जिसे श्रीदत्तने गरदन मरोड़ मार डाला था और जो मरकर व्यन्तर हुआ था, अपने वैरी पर बड़ा क्रोध आया। उस वैरका बदला लेनेके अभिप्रायसे उसने

मुनि पर बड़ा उपद्रव किया । एक तो वैसे ही जाड़ेका समय, उस पर इसने बड़ी जोरकी ठंडी गार हवा चलाई, पानी बरसाया, ओले गिराये । मतलब यह कि उसने अपना बदला चुकानेमें कोई बात उठा न रखकर मुनिको बहुत ही कष्ट दिया । श्रीदत्त मुनिराजने इन सब कष्टोंको बड़ी शान्ति और धीरजके साथ सहा । व्यन्तर इनका पूरा दुश्मन था, पर तब भी इन्होंने उस पर रंच मात्र भी क्रोध न किया । वे वैरी और हितूको सदा समान भावसे देखते थे । अन्तमें शुक्ल-ध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर वे कभी नाश न होनेवाले मोक्ष स्थानको चले गये ।

जितशत्रु राजाके पुत्र श्रीदत्त मुनि देवकृत कष्टोंको बड़ी शान्तिके साथ सहकर अन्तमें शुक्लध्यान द्वारा सब कर्मोंका नाश कर मोक्ष गये । वे केवलज्ञानी भगवान् मुझे अपनी भक्ति प्रदान करें, जिससे मुझे भी शान्ति प्राप्त हो ।

६५--वृषभसेनकी कथा ।

जिन्हें सारा संसार बड़े आनन्दके साथ सिर झुकाता है, उन जिन भगवान्‌को नमस्कार कर वृषभसेनका चरित लिखा जाता है ।

उज्जैनके राजा प्रद्योत एक दिन उन्मत्त हाथी पर बैठकर हाथी पकड़नेके लिए स्वयं किसी एक

घने जंगलमें गये। हाथी इन्हें वड़ी दूर ले भागा और आगे आगे भागता ही चला जाता था। इन्होंने उसके ठहरानेकी वड़ी कोशिश की, पर उसमें ये सफल नहीं हुए। भाग्यसे हाथी एक झाड़के नीचे होकर जा रहा था कि इन्हें सुवुद्धि सूझ गई। ये उसकी टहनी पकड़ कर लटक गये और फिर धीरे धीरे नीचे उत्तर आये। यहाँसे चलकर ये खेट नामके एक छोटेसे पर वहुत सुन्दर गाँवके पास पहुँचे। एक पनघट पर जाकर ये बैठ गये। इन्हें वड़ी प्यास लग रही थी। इन्होंने उसी समय पनघट पर पानी भरनेको आई हुई जिनपालकी लड़की जिनदत्तासे जल पिला देनेके लिए कहा। उसने [illegible]के चेहरेके रंग-ढंगसे इन्हें कोई वड़ा आदमी समझ जल पिला दिया। वाद अपने घर पर आकर उसने प्रद्योतका हाल अपने पितासे कहा। सुनकर जिनपाल दौड़ा हुआ आकर इन्हें अपने घर लिवा लाया और वड़े आदर सत्कारके साथ इसने उन्हें स्नान-भोजन कराया। प्रद्योत उसकी इस मेहमानीसे वड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने जिनपालको अपना सव परिचय दिया। जिनपालने ऐसे महान् अतिथि द्वारा अपना घर पवित्र होनेसे अपनेको वड़ा भाग्यशाली माना। वे कुछ दिन वहाँ और ठहरे। इतनेमें उनके सव नौकर चाकर भी उन्हें लिवानेको आ गये। प्रद्योत अपने शहर जानेको तैयार हुए। इसके पहले एक वात यह कह देनेकी है कि जिनदत्ताको जवसे प्रद्योतने देखा तभीसे

उनका उस पर अत्यन्य प्रेम हो गया था और इसीसे जिनपा-लकी सम्मति पा उन्होंने उसके साथ ब्याह भी कर लिया था। दोनों नव दम्पती सुखके साथ अपने राज्यमें आ गये। जिनदत्ताको तब प्रद्योतने अपनी पट्टरानीका सम्मान दिया। सच है, समय पर दिया हुआ थोड़ा भी दान बहुत ही सुखोंका देनेवाला होता है। जैसे वर्षाकालमें बोया हुआ बीज बहुत फलता है। जिनदत्ताके उस जलदानसे, जो उसने प्रद्योतको किया था, जिनदत्ताको एक राजरानी होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। ये नये दम्पती सुखसे संसार-यात्रा बिताने लगे—प्रतिदिन नये नये सुखोंका स्वाद लेनेमें इनके दिन कटने लगे।

कुछ दिनों बाद इनके एक पुत्र हुआ। जिस दिन पुत्र होने वाला था, उसी रातको राजा प्रद्योतने सपनेमें एक सफेद बैलको देखा था। इस लिए पुत्रका नाम भी उन्होंने वृषभसेन रख दिया। पुत्र-लाभ हुए बाद राजाकी प्रवृत्ति धर्म-कार्योंकी ओर और अधिक झुक गई। वे प्रतिदिन पूजा-प्रभावना, अभिषेक, दान-आदि पवित्र कार्योंको बड़ी भक्ति श्रद्धाके साथ करने लगे। इसी तरह सुखके साथ कोई आठ बरस बीत गये। जब वृषभसेन कुछ हुशियार हुआ तब एक दिन राजाने उससे कहा—बेटा, अब तुम अपने इस राज्यके कारभारको सम्हालो। मैं अब जिन भगवान्‌के उपदेश किये पवित्र तपको ग्रहण करता हूँ। वही शान्ति प्राप्तिका कारण है। वृषभसेनने तब कहा—पिताजी, आप तप

क्यों ग्रहण करते हैं, क्या सर्वार्थसिद्धि-मोक्षप्राप्ति राज्य करते हुए नहीं हो सकती ? राजाने कहा-बेटा हाँ, जिसे सच्ची सिद्धि या मोक्ष कहते हैं, वह बिना तप किये नहीं होती। जिन भगवान्‌ने मोक्षका कारण एक मात्र तप बताया है । इस लिए आत्महित करनेवालोंको उसका ग्रहण करना अत्यन्त ही आवश्यक है । राजपुत्र वृषभसेनने तब कहा-पिताजी, यदि यह बात है तो फिर मैं ही इस दुःखके कारण राज्यको लेकर क्या करूँगा ? कृपाकर यह भार मुझ पर न रखिए। राजाने वृषभसेनको बहुत समझाया, पर उसके ध्यानमें तप छोड़कर राज्यग्रहण करनेकी बात बिलकुल न आई। लाचार हो राजा राज्यभार अपने भतीजेको सौंपकर आप पुत्रके साथ जिनदीक्षा ले गये।

यहाँसे वृषभसेन मुनि तपस्या करते हुए अकेले ही देश, विदेशोंमें धर्मोपदेशार्थ घूमते-फिरते एक दिन कौशाम्बीके पास आ एक छोटीसी पहाड़ी पर ठहरे। समय गर्मीका था। बड़ी तेज धूप पड़ती थी। मुनिराज एक पवित्र शिला पर कभी बैठे और कभी खड़े इस कड़ी धूपमें योग साधा करते थे। उनकी इस कड़ी तपस्या और आत्मतेजसे दिपते हुए उनके शारीरिक सौन्दर्यको देख लोगोंकी उन पर बड़ी श्रद्धा हो गई। जैनधर्म पर उनका विश्वास खूब दृढ़ जम गया।

एक दिन चारित्र-चूड़ामणि श्रीवृषभसेन मुनि भिक्षार्थ शहरमें गये हुए थे कि पीछेसे किसी जैनधर्मके प्रभावको न

सहनेवाले बुद्धदास नामके बुद्धधर्मीने मुनिराजके ध्यान करनेकी शिलाको आगसे तपाकर लाल सुर्ख कर दिया। सच है, साधु-महात्माओंका प्रभाव दुर्जनोंसे नहीं सहा जाता। जैसे सूरजके तेजको उल्लू नहीं सह सकता। जब मुनिराज आहार कर पीछे लौटे और उन्होंने शिलाको अग्नि-से तपी हुई देखा, यदि वे चाहते—भौतिक शरीरसे उन्हें मोह होता तो विलाशक वे अपनी रक्षा कर सकते थे। पर उनमें यह बात न थी; वे कर्त्तव्यशील थे—अपनी प्रतिज्ञाओंका पालना वे सर्वोच्च समझते थे। यही कारण था कि वे संन्यास-की शरण ले उस आगसे धधकती शिला पर बैठ गये। उस समय उनके परिणाम इतने ऊँचे चढ़े कि उन्हें शिला पर बैठते ही केवलज्ञान हो गया और उसी समय अघातिया कर्मोंका नाश कर उन्होंने निर्वाण-लाभ किया। सच है, महा पुरुषोंका चारित्र मेरुसे भी कहीं अधिक स्थिर होता है।

जिसके चित्तरूपी अत्यन्त ऊँचे पर्वतकी तुलनामें बड़े बड़े पर्वत एक ना कुछ चीज परमाणुकी तरह दीखने लगते हैं, समुद्र दूबाकी अणी पर ठहरे जलकणसा प्रतीत होता है, वे गुणोंके समुद्र और कर्मोंको नाश करनेवाले वृषभसेन जिन मुझे अपने गुण प्रदान करें, जो सब मनचाही सिद्धि-योंके देनेवाले हैं।

६६--कार्त्तिकेय मुनिकी कथा।

संसारके सूक्ष्मसे सूक्ष्म पदार्थोंको देखने जाननेके लिए केवलज्ञान जिनका सर्वोत्तम नेत्र है और जो पवित्रताकी प्रतिमा और सब सुखोंके दाता हैं, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर कार्त्तिकेय मुनिकी कथा लिखी जाती है।

कार्तिकपुरके राजा अग्निदत्तकी रानी वीरवतीके कृत्तिका नामकी एक लड़की थी। एक बार अठाईके दिनोंमें उसने आठ दिनके उपवास किये। अन्तके दिन वह भगवान्की पूजा कर शेषाको–भगवान्के लिए चढ़ाई फूलमालाको लाई। उसे उसने अपने पिताको दिया। उस समय उसकी दिव्य रूपराशिको देखकर उसके पिता अग्निदत्तकी नियत ठिकाने न रही। कामके वश हो उस पापीने बहुतसे अन्यधर्मी और कुछ जैनसाधुओंको इकट्ठा कर उनसे पूछा–योगी-महात्माओ, आप कृपा कर मुझे बतलावें कि मेरे घरमें पैदा हुए रत्नका मालिक मैं ही हो सकता हूँ या कोई और? राजाका प्रश्न पूरा होता है कि सब ओरसे एक ही आवाज आई कि महाराज, उस रत्नके तो आप ही मालिक हो सकते हैं, न कि दूसरा। पर जैनसाधुओंने राजाके प्रश्न पर कुछ गहरा विचार कर इस रूपमें राजाके प्रश्नका उत्तर दिया–राजन्, यह बात ठीक

है कि अपने यहाँ उत्पन्न हुए रत्नके मालिक आप हैं, पर एक कन्या-रत्नको छोड़कर ! उसकी मालिकी पिताके नातेसे ही आप कर सकते हैं, और रूपमें नहीं। जैनसाधुओंका यह हितभरा उत्तर राजाको वड़ा बुरा लगा, और लगना ही चाहिए; क्योंकि पापियोंको हितकी बात कब सुहाती है ? राजाने गुस्सा होकर उन मुनियोंको देश बाहर कर दिया और अपनी लड़कीके साथ स्वयं व्याह कर लिया। सच है, जो पापी हैं, कामी हैं और जिन्हें आगामी दुर्गतियोंमें दुःख उठाना है उनमें कहाँ धर्म, कहाँ लाज, कहाँ नीति-सदाचार और कहाँ सुबुद्धि ?

कुछ दिनों बाद कृत्तिकाके दो सन्तान हुईं। एक लड़का और लड़की। लड़केका नाम था कार्तिकेय और लड़कीका वीरमती। वीरमती वड़ी खूबसूरत थी। उसका व्याह रोहेड़ नगरके राजा क्रौंचके साथ हुआ। वीरमती वहाँ रहकर सुखके साथ दिन विताने लगी।

इधर कार्तिकेय भी वड़ा हो गया। अब उसकी उमर कोई चौदह बरसकी हो गई थी। एक दिन कार्तिकेय अपने साथी और राजकुमारोंके साथ खेल रहा था। वे सब अपने नानाके यहाँसे आये हुए अच्छे अच्छे कपड़े और गहने पहरे हुए थे। पूछने पर कार्तिकेयको जान पड़ा कि वे वस्त्राभरण उन सब राजाकुमारोंके नाना-मामाके यहाँसे आये हैं। तब उसने अपनी मासे जाकर पूछा—क्यों मा, मेरे साथी राज-

पुत्रोंके लिए तो उनके नाना-मामा अच्छे अच्छे कपड़े दागीने भेजते हैं, भला फिर मेरे नाना-मामा मेरे लिए क्यों नहीं भेजते हैं? अपने प्यारे बच्चेकी ऐसी भोली बात सुनकर कृत्तिकाका हृदय भर आया। आँखोंसे आँसू वह चले। अब वह उसे क्या कहकर समझावे और कहनेको जगह ही कौनसी बच रही थी। पर बे-समझ बच्चेके आग्रहसे उसे सच्ची हालत कह देनेको बाध्य होना पड़ा। वह रोती हुई बोली–बेटा, मैं इस महा पापकी बात तुझसे क्या कहूँ। कहते हुए छाती फटती है। जो बात कभी नहीं हुई, वही बात मेरे तेरे सम्बन्धमें है। वह केवल यही कि जो मेरा बाप है वही तेरा भी बाप है। मेरे पिताने मुझसे बलात् ब्याह कर मेरी जिन्दगी कलंकित की। उसीका तू फल है। कार्तिकेयको काटो तो खून नहीं। उसे अपनी माका हाल सुनकर बेहद दुःख हुआ। लज्जा और आत्मग्लानिसे उसका हृदय तलमला उठा। इसके लिए वह नाइलाज था। उसने फिर अपनी मासे पूछा–तो क्यों मा, उस समय मेरे पिताको ऐसा अनर्थ करते किसीने रोका नहीं–सब कानोंमें तेल डाले पड़े रहे! उसने कहा—बेटा, क्यों नहीं रोका? रोका था उन्हें मुनियोंने, पर उनकी कोई बात न सुनी जाकर उलटा वे देशसे ही निकाल दिये गये।

कार्तिकेयने तब कहा—मा, वे गुणवान् मुनि कैसे होते हैं? कृत्तिका बोली–बेटा, वे शान्त रहते हैं, किसीसे लड़ते

झगड़ते नहीं। कोई दश गालियाँ भी उन्हें दे जाय तो वे उससे कुछ भी नहीं कहते और न क्रोध ही करते हैं। बेटा, वे बड़े पण्डित होते हैं, उनके पास धन-दौलत तो दूर रहे एक फूटी कौड़ी भी नहीं रहती। वे कभी कपड़ा नहीं पहरते, उनका वस्त्र केवल यह आकाश है। चाहे कैसी ही ठंड या गर्मी पड़े, चाहे कैसी ही बरसात हो उनके लिए सब समान है। बेटा, वे बड़े ही दयावान् होते हैं, कभी किसी जीवको जरा भी नहीं सताते। इसी दयाको पूरी तौरसे पालनेके लिए वे अपने पास सदा मोरके अत्यन्त कोमल पीखोंकी एक पींछी रखते हैं और जहाँ बैठते-उठते वहाँकी जमीनको पहले उस पींछीसे झाड़-पोंछ कर साफ कर लेते हैं। उनके हाथमें एक लकड़ेका कमण्डलु होता है, जिसमें वे शौच वगैरहके लिए प्रासुक-जीवरहित पानी रखते हैं। बेटा, उनकी चर्या बड़ी ही कठिन है। वे भिक्षाके लिए श्रावकोंके यहाँ जाते हैं जरूर, पर कभी माँगकर नहीं खाते। किसीने उन्हें आहार नहीं दिया तो वे भूखे ही पीछे तपोवनमें लौट आते हैं। वे आठ आठ, पन्द्रह पन्द्रह दिनके उपवास करते हैं। बेटा, मैं तुझे उनके आचार-विचारकी बातें कहाँ तक बताऊँ। तू इतनेमें समझले कि संसारके सब साधुओंमें वे ही सच्चे साधु हैं। अपनी माता द्वारा जैन साधुओंकी तारीफ सुनकर कार्तिकेयकी उन पर बड़ी श्रद्धा हो गई। उसे अपने पिताके कार्यसे वैराग्य तो पहले ही हो चुका था, उस पर माताके इस प्रकार

समझानेसे उसकी जड़ और मजबूत हो गई। वह उसी समय सब मोह-ममता तोड़कर घरसे निकल गया और मुनियोंके स्थान तपोवनमें जा पहुँचा। मुनियोंका संघ देख उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने बड़ी भक्तिसे उन सब साधुओंको हाथ जोड़ प्रणाम किया, और दीक्षाके लिए उनसे प्रार्थना की। संघके स्वामी आचार्यने उसे दीक्षा देकर मुनि बना लिया। कुछ दिनोंमें ही कार्तिकेय मुनि आचार्य द्वारा शास्त्राभ्यास कर बड़े विद्वान् हो गये।

कार्तिकेयकी माताने पुत्रके सामने मुनियोंकी बहुत तारीफ अवश्य की, पर उसे यह मालूम न था कि उसकी की हुई तारीफका कार्तिकेय पर उलटा असर पड़कर वह दीक्षा ले जायगा। इस लिए जब उसने यह जान पाया कि कार्तिकेय योगी बनना चाहता है तो उसका उसे बड़ा दुःख हुआ। वह कार्तिकेयके सामने बहुत रोई-धोई, गिड़-गिड़ाई। इस लिए कि वह दीक्षा न ले, पर कार्तिकेय अपने निश्चयसे नहीं फिरा और तपोवनमें जाकर साधु बन ही गया। कार्तिकेयकी जुदाईका दुःख सहना उसकी माके लिए बड़ा कठिन हो गया। दिनों दिन उसका स्वास्थ्य बिगड़ने लगा और आखिर वह इस पुत्र-शोकसे मर ही गई, मरते समय भी वह पुत्रके आर्त्तध्यानसे मरी। मरकर यह व्यन्तर देवी हुई।

उधर कार्तिकेयमुनि घूमते-फिरते एक बार रोहेड़ नगरकी ओर आ गये, जहाँ कि इनकी बहिन ब्याही गई थी। जेठका

महीना था। गर्मी खूब तेजीसे तप रही थी। अमावसके दिन कार्तिकेय मुनि शरहमें भिक्षाके लिए गये। राजमहलके नीचे होकर वे जा रहे थे कि उन पर महल पर बैठी हुई उनकी बहिन वीरमतीकी नजर पड़ गई। वह उसी समय अपनी गोदमें सिर रखकर लेटे हुए पतिके सिरको नीचे रखकर दौड़ी हुई भाईके पास आई और बड़ी भक्तिसे उसने भाईको हाथ जोड़कर नमस्कार किया। प्रेमके वश हो वह उनके पाँवोंमें गिर पड़ी। और ठीक है भाई होकर फिर मुनि हो तब किसका प्रेम उन पर न हो? क्रौंचराजने जब एक नंगे भिखारीके पाँव पड़ते अपनी रानीको देखा तब उनके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। उन्होंने आकर मुनिको खूब मार लगाई। यहाँतक कि मुनि मूर्च्छा खाकर जमीन पर गिर पड़े। सच है, पापी, मिथ्यात्वी और जैनधर्मसे द्वेष करनेवाले लोग ऐसा कौन नीच कर्म नहीं कर गुजरते जो जन्म जन्ममें अनन्त दुःखोंका देनेवाला न हो।

कार्तिकेयको अचेत पड़े देखकर उनकी पूर्व जन्मकी मा, जो कि इस जन्ममे व्यन्तर देवी हुई है, मोरनीका रूपले उनके पास आई और उन्हें उठा लाकर बड़े यत्नसे शीतलनाथ भगवानके मंदिरमें एक निरापद जगहमें रख दिया। कार्तिकेय मुनिकी हालत बहुत खराब हो चुकी थी। उनके अच्छे होनेकी कोई सूरत न थी। इस लिए ज्यों ही मुनिको मूर्च्छासे कुछ चेत हुआ उन्होंने समाधि लेली। उसी दशामें शरीर छोड़कर वे स्वर्गधाम सिधारे। तब देवोंने आकर

उनकी भक्तिसे बड़ी पूजा की। उसी दिनसे वह स्थान भी कार्तिकेयतीर्थके नामसे प्रसिद्ध हुआ। और वे वीरमतीके भाई थे, इस लिए 'भाईबीज' के नामसे दूसरा लौकिक पर्व प्रचलित हुआ।

आप लोग जिनभगवान्के उपदेश किये ज्ञानका अभ्यास करें। वह सब संदेहोंका नाश करनेवाला और स्वर्ग तथा मोक्षके सुखका देनेवाला है। जिनका ऐसा उच्च ज्ञान संसारके पदार्थोंका स्वरूप दिखानेके लिए दियेकी तरह सहायता करनेवाला है वे देवों द्वारा, पूजे जानेवाले जिनेन्द्र भगवान् मुझे भी कभी नाश न होनेवाला सुख देकर अपनासा बनावें।

६७—अभयघोष मुनिकी कथा।

देवों द्वारा पूजा-भक्ति किये गये जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर अभयघोष मुनिका चरित लिखा जाता है।

अभयघोष काकन्दीके राजा थे। उनकी रानीका नाम अभयमती था। अभयमती पर राजाका बहुत प्यार था।

एक दिन अभयघोष घूमनेको जंगलमें गये हुए थे। इसी समय एक मल्लाह एक बड़े और जीते कछुएके चारों पाँव

बाँधकर उसे लकड़ीमें लटकाये हुए लिए जा रहा था। पापी अभयघोषकी उस पर नजर पड़ गई। उन्होंने मूर्खताके वश हो अपनी तलवारसे उसके चारों पाँवोंको काट दिया। बड़े दुःखकी बात है कि पापी लोग बेचारे ऐसे निर्दोष जीवोंको निर्दयताके साथ मार डालते हैं और न्याय अन्यायका कुछ विचार नहीं करते। कछुआ उसी समय तड़फड़ा कर गत-प्राण हो गया। मरकर वह अकाम-निर्जराके फलसे इन्हीं अभयघोषके यहाँ चंडवेग नामका पुत्र हुआ।

एक दिन राजाको चन्द्र-ग्रहण देखकर बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने विचार किया—जो एक महान् तेजस्वी ग्रह है, जिसकी तुलना कोई नहीं कर सकता, और जिसकी गणना देवोंमें है, वह भी जब दूसरोंसे हार खा जाता है तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या? जिनके कि सिर पर काल सदा चक्कर लगाता रहता है। हाय, मैं बड़ा ही मूर्ख हूँ जो आज तक विषयोंमें फँसा रहा और कभी अपने हितकी ओर मैंने ध्यान नहीं दिया। मोहरूपी गाढ़े अँधेरेने मेरी दोनों आँखोंको ऐसी अन्धी बना डाला, जिससे मुझे अपने कल्याणका रास्ता देखने या उस पर सावधानीके साथ चलनेको सूझ ही न पड़ा। इसी मोहके पापमय जालमें फँसकर मैंने जैनधर्मसे विमुख होकर अनेक पाप किये। हाय, मैं अब इस संसाररूपी अथाह समुद्रको पारकर सुखमय किनारेको कैसे प्राप्त कर सकूँगा? प्रभो, मुझे शक्ति प्रदान

कीजिए, जिससे मैं आत्मिक सच्चा सुख लाभ कर सकूँ। इस विचारके बाद उन्होंने स्थिर किया कि जो हुआ सो हुआ। अब भी मुझे अपने कर्त्तव्यके लिए बहुत समय है। जिस प्रकार मैंने संसारमें रहकर विषय सुख भोगा—शरीर और इन्द्रियोंको खूब सन्तुष्ट किया, उसी तरह अब मुझे अपने आत्महितके लिए कड़ीसे कड़ी तपस्या कर अनादि कालसे पीछा किये हुए इन आत्मशत्रु कर्मोंका नाश करना उचित है—यही मेरे पहले किये कर्मोंका पूर्ण प्रायश्चित्त है। और ऐसा करनेसे ही मैं शिव-रमणीके हाथोंका सुख-स्पर्श कर सकूँगा। इस प्रकार स्थिर विचार कर अभयघोषने सब राजभार अपने कुँवर चण्डवेगको सौंप जिन दीक्षा ग्रहण करली, जो कि इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर उन्हें आत्मशक्तिके बढ़ानेको सहायक बनाती है। इसके बाद अभयघोष मुनि संसार-समुद्रसे पार करनेवाले और जन्म-जरा-मृत्युको नष्ट करनेवाले अपने गुरु महाराजको नमस्कार कर और उनकी आज्ञा ले देश विदेशोंमें धर्मोपदेशार्थ अकेले ही विहार कर गये। इसके कितने ही वर्षों बाद वे घूमते-फिरते फिर एक बार अपनी राजधानी काकन्दीकी ओर आ निकले। एक दिन ये वीरासनसे तपस्या कर रहे थे। इसी समय इनका पुत्र चण्डवेग इस ओर आ निकला। पाठकोंको याद होगा कि चण्डवेगकी और इसके पिता अभयघोषकी शत्रुता है। कारण—चण्डवेग पूर्व जन्ममें कछुआ था और उसके पाँव

अभयघोषने काट डाले थे। सो चण्डवेगकी जैसे ही इन पर नजर पड़ी उसे अपने पूर्व वैरकी याद आ गई। उसने क्रोधसे अन्धे होकर उनके भी हाथ पाँवोंको काट डाला। सच है धर्महीन अज्ञानी जन कौन पाप नहीं कर डालते।

अभयघोष मुनि पर महान् उपसर्ग हुआ, पर वे तब भी मेरुके समान अपने कर्त्तव्यमें दृढ़ बने रहे। अपने आत्मध्यानसे वे रत्तीभर भी न चिगे। इसी ध्यान बलसे केवलज्ञान प्राप्त कर अन्तमें उन्होंने अक्षयानन्त मोक्ष लाभ किया। सच है, आत्मशक्ति बड़ी गहन है—आश्चर्य पैदा करनेवाली है। देखिए कहाँ तो अभयघोष मुनि पर दुःसह कष्टका आना और कहाँ मोक्ष प्राप्तिका कारण दिव्य आत्मध्यान!

सत्पुरुषों द्वारा सेवा किये गये वे अभयघोष मुनि मुझे भी मोक्षका सुखदें, जिन्होंने दुःसह परीषहको जीता, आत्मशत्रु राग, द्वेष, मोह, क्रोध, माना, माया, लोभ—आदिको नष्ट किया, और जन्म जन्ममें दारुण दुःखोंके देनेवाले कर्मोंका क्षय कर मोक्षका सर्वोच्च सुख, जिस सुखकी कोई तुलना नहीं कर सकता, प्राप्त किया।

६८—विद्युच्चर मुनिकी कथा

सब सुखोंके देनेवाले और संसारमें सर्वोच्च गिने जानेवाले जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर शास्त्रोंके अनुसार विद्युच्चर मुनिकी कथा लिखी जाती है।

मिथिलापुरके राजा वामरथके राज्यमें इनके समय कोतवालके ओहदे पर एक यमदण्ड नामका मनुष्य नियुक्त था। यहीं एक विद्युच्चर नामका चोर रहता था। यह अपने चोरीके फनमें बड़ा चलता हुआ था। सो यह क्या करता कि दिनमें तो एक कोढ़ीके वेषमें किसी सूनसान मन्दिरमें रहता और ज्यों ही रात होती कि एक सुन्दर मनुष्यका वेष धारण कर खूब मजा-मोज मारता। यही ढंग इसका बहुत दिनोंसे चला आता था। पर इसे कोई पहिचान न सकता था। एक दिन विद्युच्चर राजाके देखते देखते खास उन्हींके ही हारको चुरा लाया। पर राजासे तब कुछ भी न बन पड़ा। सुबह उठकर राजाने कोतवालको बुलाकर कहा—देखो, कोई चोर अपनी सुन्दर वेषभूषासे मुझे मुग्ध बनाकर मेरा रत्न-हार उठा ले गया है। इस लिए तुम्हें हिदायत की जाती है कि सात दिनके भीतर उस हारको या उसके चुरा ले-जानेवालेको मेरे सामने उपस्थित करो, नहीं तो तुम्हें इसकी पूरी सजा भोगनी पड़ेगी। जान पड़ता है तुम अपने कर्तव्य

पालनमें वहुत त्रुटि करते हो। नहीं तो राजमहलमेंसे चोरी हो जाना कोई कम आश्चर्यकी वात नहीं है। 'हुक्म हुजूरका' कहकर कोतवाल चोरके ढूँढ़नेको निकला। उसने सारे शहरकी गली-कूँची, घर-वार आदि एक एक करके छान डाला पर उसे चोरका पता कहीं न चला। ऐसे उसे छह दिन वीत गये। सातवें दिन वह फिर घर वाहर हुआ। चलते चलते उसकी नजर एक सूनसान मन्दिर पर पड़ी। वह उसके भीतर घुस गया। वहाँ उसने एक कोढ़ीको पड़ा पाया। उस कोढ़ीका रंगढंग देखकर कोतवालको कुछ सन्देह हुआ। उसने उससे कुछ वातें-चीतें इस ढंगसे की कि जिससे कोतवाल उसके हृदयका कुछ पता पासके। यद्यपि उस वात-चीतसे कोतवालको जैसी चाहिए थी वैसी सफलता न हुई, पर तव भी उसके पहले शकको सहारा अवश्य मिला। कोतवाल उस कोढ़ीको राजाके पास ले गया और वोला–महाराज, यही आपके हारका चोर है। राजाके पूछने पर उस कोढ़ीने साफ इंकार कर दिया कि मैं चोर नहीं हूँ। मुझे ये जवरदस्ती पकड़ लाये हैं। राजाने कोतवालकी ओर तव नजर की। कोतवालने फिर भी दृढ़ताके साथ कहा कि-महाराज, यही चोर है। इसमें कोई सन्देह नहीं। कोतवालको विना कुछ सुवूतके इस प्रकार जोर देकर कहते देखकर कुछ लोगोंके मनमें यह विश्वास जम गया कि यह अपनी रक्षाके लिए जवरन इस वेचारे गरीव

भिखारीको चोर वताकर सजा दिलवाना चाहता है। उसकी रक्षा हो जाय, इस आशयसे उन लोगोंने राजासे प्रार्थना की कि महाराज, कहीं ऐसा न हो कि विना ही अपराधके इस गरीव भिखारीको कोतवाल साहवकी मार खाकर वेमौत मर जाना पड़े और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये इसे मारेंगे अवश्य। तव कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे अपना हार भी मिल जाय और वेचारे गरीवकी जान भी न जाय। जो हो, राजाने उन लोगोंकी प्रार्थना पर ध्यान दिया या नहीं, पर यह स्पष्ट है कि कोतवाल साहव उस गरीव कोढ़ीको अपने घर लिवा ले गये और जहाँ तक उनसे वन पड़ा उन्होंने उसके मारने-पीटने, दझादेने, वाँधने आदिमें कोई कसर न की। वह कोढ़ी इतने दुःसह कष्ट दिये जाने पर भी हर वार यही कहता रहा कि मैं हर्गिज चोर नहीं हूँ। दूसरे दिन कोतवालने फिर उसे राजाके सामने खड़ा करके कहा–महाराज, यही पक्का चोर है। कोढ़ीने फिर भी यही कहा कि महाराज मैं हर्गिज चोर नहीं हूँ। सच है, चोर वड़े ही कट्टर साहसी होते हैं।

तव राजाने उससे कहा–अच्छा, मैं तेरा सव अपराध क्षमाकर तुझे अयभ देता हूँ, तू सच्चा सच्चा हाल कहदे कि तू चोर है या नहीं? राजासे जीवदान पाकर उस कोढ़ी या विद्युच्चरने कहा–यदि ऐसा है तो लीजिए कृपानाथ, मैं सव सच्ची वात आपके सामने प्रगट करे देता हूँ। यह

कहकर वह बोला—राजाधिराज, अपराध क्षमा हो। वास्तवमें मैं ही चोर हूँ। आपके कोतवाल साहबका कहना सत्य है। सुनकर राजा चकित हो गये। उन्होंने तब विद्युच्चरसे पूछा-जब कि तू चोर था तब फिर तूने इतनी मार-पीट कैसे सह-ली रे? विद्युच्चर बोला—महाराज, इसका तो कारण यह है कि मैंने एक मुनिराज द्वारा नरकोंके दुःखोंका हाल सुन रक्खा था। तब मैंने विचारा कि नरकोंके दुःखोंमें और इन दुःखोंमें तो पर्वत और राईकासा अन्तर है। और जब मैंने अनन्त बार नरकोंके भयंकर दुःख, जिनके कि सुनने मात्रसे ही छाती दहल उठती है, सहे हैं तब इन तुच्छ—ना कुछ चीज दुःखोंका सहलेना कौन बड़ी बात है। यही विचार कर मैंने सब कुछ सहकर चूँ तक भी नहीं की। विद्युच्चरसे उसकी सच्ची घटना सुनकर राजाने खुश होकर उसे वर दिया कि तुझे 'जो कुछ माँगना हो वह माँग'। मुझे तेरी बातें सुननेसे बड़ी प्रसन्नता हुई। तब विद्युच्चरने कहा—महाराज, आपकी इस कृपाका मैं अत्यन्त उपकृत हूँ। इस कृपाके लिए आप जो कुछ मुझे देना चाहते हैं वह मेरे मित्र इन कोतवाल साहबको दीजिए। राजा सुनकर और भी अधिक अचम्भेमें पड़ गये। उन्होंने विद्युच्चरसे कहा—क्यों यह तेरा मित्र कैसे है? विद्युच्चरने तब कहा—सुनिए महाराज, मैं सब आपको खुलासा सुनाता हूँ। यहाँसे दक्षिणकी ओर आभीर प्रान्तमें बहनेवाली वेना नदीके किनारे पर वेनातट नामका एक शहर बसा

हुआ है। उसके राजा जितशत्रु और उनकी रानी जयावती, ये मेरे माता पिता हैं। मेरा नाम विद्युच्चर है। मेरे शहरमें ही एक यमपाश नामके कोतवाल थे। उनकी स्त्री यमुना थी। ये आपके कोतवाल यमदण्ड साहब उन्हींके पुत्र हैं। हम दोनों एक ही गुरुके पास पढ़े हुए हैं। इस लिए तभीसे मेरी इनके साथ मित्रता है। विशेषता यह है कि इन्होंने तो कोतवाली संबंधका शास्त्राभ्यास किया था और मैंने चौर्यशास्त्रका। यद्यपि मैंने यह विद्या केवल विनोदके लिए पढ़ी थी, तथापि एक दिन हम दोनों अपनी अपनी चतुरताकी तारीफ कर रहे थे; तब मैंने जरा घमण्डके साथ कहा–भाई, मैं अपने फनमें कितना हुशियार हूँ, इसकी परीक्षा मैं इसीसे कराऊँगा कि जहाँ तुम कोतवालीके ओहदे पर नियुक्त होगे, वहीं मैं आकर चोरी करूँगा। तब इन महाशयने कहा–अच्छी बात है, मैं भी उसी जगहँ रहूँगा जहाँ तुम चोरी करोगे और मैं तुमसे शहरकी अच्छी तरह रक्षा करूँगा–तुम्हारे द्वारा मैं उसे कोई तरहकी हानि न पहुँचने दूँगा।

इसके कुछ दिनों बाद मेरे पिता जितशत्रु मुझे सब राजभार दे जिनदीक्षा ले गये। मैं तब राजा हुआ। और इनके पिता यमपाश भी तभी जिनदीक्षा लेकर साधु बन गये। इनके पिताकी जगह तब इन्हें मिली। पर ये मेरे डरके मारे मेरे शहरमें न रहकर यहाँ आकर आपके कोतवाल नियुक्त हुए। मैं अपनी प्रतिज्ञाके वश

चोर बनकर इन्हें ढूँढ़नेको यहाँ आया। यह कहकर फिर विद्युच्चरने उनके हारके चुरानेकी सब बातें कह सुनाईं और फिर यमदण्डको साथ लिए वह अपने शहरमें आ गया।

विद्युच्चरको इस घटनासे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने राजमहलमें पहुँचते ही अपने पुत्रको बुलाया और उसके साथ जिनेन्द्र भगवान्का पूजा-अभिषेक किया। इसके बाद वह सब राजभार पुत्रको सौंपकर आप और बहुतसे राजकुमारोंके साथ जिनदीक्षा ले मुनि बन गया।

यहाँसे विहार कर विद्युच्चर मुनि अपने सारे संघको साथ लिए देश विदेशोंमें बहुत घूमे-फिरे। बहुतसे बे-समझ या मोह-मायामें फँसे हुए जनोंको इन्होंने आत्महितके मार्ग पर लगाया और स्वयं भी काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेषादि आत्म-शत्रुओंका प्रभुत्व नष्ट कर उन पर विजय लाभ किया। आत्मोन्नतिके मार्गमें दिन बदिन बे-रोक टोक ये बढ़ने लगे। एक दिन घूमते-फिरते ये तामलिप्तपुरीकी ओर आये। अपने संघके साथ ये पुरीमें प्रवेश करनेको ही थे कि इतनेमें यहाँकी चामुण्डा देवीने आकर भीतर घुसनेसे इन्हें रोका और कहा—योगिराज, जरा ठहरिए, अभी मेरी पूजाविधि हो रही है। इस लिए जब तक वह पूरी न हो जाये तब तक आप यहीं ठहरें—भीतर न जायें। देवीके इस प्रकार मना करने पर भी अपने शिष्योंके आग्रहसे वे न रुककर भीतर चले गये और पुरीके पश्चिम तरफके परकोटेके पास कोई पवित्र

जगह देखकर वहीं सारे संघने ध्यान करना शुरू कर दिया। अब तो देवीके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा। उसने अपनी मायासे कोई कबूतरके बराबर डाँस तथा मच्छर आदि खून पीनेवाले जीवोंकी सृष्टि रचकर मुनि पर घोर उपद्रव किया। विद्युच्चर मुनिने इस कष्टको बड़ी शान्तिसे सहकर बारह भावनाओंके चिन्तनसे अपने आत्माको वैराग्यकी ओर खूब दृढ़ किया और अन्तमें शुक्ल-ध्यानके बलसे कर्मोंका नाश कर अक्षय और अनन्त मोक्षके सुखको अपनाया।

उन देवों, विद्याधरों, चक्रवर्त्तियों, तथा राजों-महाराजों द्वारा, जो अपने मुकुटोंमें जड़े हुए बहुमूल्य दिव्य रत्नोंकी कान्तिसे चमक रहे हैं, बड़ी भक्तिसे पूजा किये गये और केवलज्ञानसे विराजमान वे विद्युच्चर मुनि मुझे और आप भव्य-जनोंको मंगल-मोक्ष सुखदें, जिससे संसारका भटकना छूटकर शान्ति मिले।

६९—गुरुदत्त मुनिकी कथा।

जिनकी कृपासे केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति हो सकती है, उन पञ्च परमेष्ठी—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको नमस्कार कर गुरुदत्त मुनिका पवित्र चरित लिखा जाता है।

गुरुदत्त हस्तिनागपुरके धर्मात्मा राजा विजयदत्तकी रानी विजयाके पुत्र थे । वचपनसे ही इनकी प्रकृतिमें गंभीरता, धीरता सरलता तथा सौजन्यता थी । खूबसूरतीमें भी ये एक ही थे । अस्तु, पुण्यकी महिमा अपरंपार है ।

विजयदत्त अपना राज गुरुदत्तको सौंपकर आप मुनि हो गये और अपना आत्महित करने लगे । राज्यकी वाग्डोर गुरुदत्तने अपने हाथमें लेकर बड़ी सावधानी और नीतिके साथ उसका शासन आरंभ किया । प्रजा उनसे वहुत खुश हुई । वह हजार हजार साधुवाद अपने नये राजाको भी देने लगी । दुःख किसे कहते हैं, यह बात गुरुदत्तकी प्रजा जानती ही न थी । कारण--किसीको कुछ थोड़ा भी कष्ट हो पाता था तो गुरुदत्त फौरन ही उसकी सहायता करता--तनसे, मनसे और धनसे वह सभीके काम आता था ।

लाट देशमें द्रोणीमान पर्वतके पास एक चन्द्रपुरी नामकी सुन्दर नगरी वसी हुई थी । उसके राजा थे चन्द्रकीर्ति । इनकी रानीका नाम चन्द्रलेखा था । इनके अभयमती नामकी एक लड़की थी । गुरुदत्तने चन्द्रकीर्तिसे अभयमतीके लिए प्रार्थना की कि वे अपनी कुमारीका ब्याह मेरे साथ करदें । परन्तु चन्द्रकीर्तिने उनकी इस वातसे साफ इंकार करदिया---वे गुरुदत्तके साथ अभयमतीका ब्याह करनेको राजी न हुए । गुरुदत्तने इससे कुछ अपना अपमान हुआ समझा । चन्द्रकीर्ति पर उसे गुस्सा आया । उसने उसी समय

चन्द्रपुरी पर चढ़ाई करदी और आकर चारों ओरसे चन्द्र-पुरीको घेर लिया। कुमारी अभयमती गुरुदत्त पर पहलेहीसे मुग्ध थी, और जब उसने उसका चन्द्रपुरीको घेर लेना सुना तो वह अपने पिताके पास आकर बोली—पिताजी, अपने सम्बन्धमे मैं आपसे कुछ कहना उचित नहीं समझती; पर मेरे संसारको सुखमय होनेमें कोई वाधा या विघ्न न आये, इस लिए कहना या प्रार्थना करना उचित जान पड़ता है। क्योंकि मुझे दुःखमें देखना तो आप सपनेमें भी पसन्द न करेंगे। वह प्रार्थना यह है कि आप गुरुदत्तजीके साथ ही मेरा ब्याह करदें—इसीमें मुझे सुख होगा। उदार हृदय चन्द्रकीर्तिने अपनी पुत्रीकी वातको मान लिया। इसके वाद ही अच्छा दिन देख खूब उच्छव आनन्दके साथ उन्होंने अभय-मतीका व्याह गुरुदत्तके साथ कर दिया। इस सम्वन्धसे कुमार और कुमारी दोनों ही सुखी हुए। दोनोंकी मनचाही वात पूरी हुई।

ऊपर जिस द्रोणीमान पर्वतका उल्लेख हुआ है, उसमें एक वड़ा ही भयंकर सिंह रहता था। उसने सारे शहरको वहुत ही त्रास दे रखा था। सबके प्राण सदा मुट्ठीमें रहा करते थे। कौन जाने कब आकर सिंह खाले, इस चिन्तासे सव हर समय घवराये हुएसे रहते थे। इस समय कुछ लोगोंने गुरुदत्तसे जाकर प्रार्थना की कि राजाधिराज, इस पर्वत पर एक वड़ा भारी हिंसक सिंह रहता है। उससे हमें वड़ा

कष्ट है । इस लिए आप कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिससे हम लोगोंका कष्ट दूर हो। गुरुदत्त उन लोगोंको धीरज बँधाकर आप अपने कुछ वीरोंको साथ लिये पर्वत पर पहुँचा । सिंहको उसने सब ओरसे घेर लिया। पर मौका पाकर वह भाग निकला और जाकर एक अँधेरी गुफामें घुसकर छिप गया । गुरुदत्तने तब इस मौकेको अपने लिए और भी अच्छा समझा। उसने उसी समय बहुतसे लकड़े गुहामें भरवा कर सिंहके निकलनेका रास्ता बन्द कर दिया। और बाहर गुहाके मुँह पर भी एक लकड़ोंका ढेर लगवा कर उसमें आग लगवा दी। लकड़ोंकी खाकके साथ साथ उस सिंहकी भी देखते देखते खाक हो गई । सिंह बड़े कष्टके साथ मरकर इसी चन्द्रपुरीमें भरत नामके ब्राह्मणकी विश्वदेवी स्त्रीके कपिल नामका लड़का हुआ। यह जन्मसे ही बड़ा क्रूर हुआ । और यह ठीक भी है कि पहले जैसा संस्कार होता है, वह दूसरे जन्ममें भी आता है।

इसके बाद गुरुदत्त अपनी प्रियाको लिए राजधानीमें लौट आया । दोनों नव दम्पती बड़े सुखसे रहने लगे। कुछ दिनों बाद अभयमतीके एक पुत्रने जन्म लिया । इसका नाम रखा गया सुवर्णभद्र । यह सुन्दर था, सरलता और पवित्रताकी प्रतिमा था और बुद्धिमान् था । इसी लिए सब ही इसे बहुत प्यार करते थे। जब इसकी उमर योग्य हो गई और सब कामोंमें यह हुशियार हो गया तब जिनेन्द्र-

भगवान्‌के सच्चे भक्त इसके पिता गुरुदत्तने अपना राज्यभार इसे देकर आप वैरागी बन मुनि हो गये। इसके कुछ वर्षों बाद ये अनेक देशों, नगरों और गावोंमें धर्मोपदेश करते, भव्य-जनोंको सुलटाते एक वार चन्द्रपुरीकी ओर आये।

एक दिन गुरुदत्त मुनि कपिल ब्राह्मणके खेत पर कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। इसी समय कपिल घर पर अपनी स्त्रीसे यह कहकर, कि प्रिये, मैं खेत पर जाता हूँ, तुम वहाँ भोजन लेकर जल्दी आना, खेत पर आ गया। जिस खेत पर गुरुदत्त मुनि ध्यान कर रहे थे, उसे तब जोतने योग्य न समझ वह दूसरे खेत पर जाने लगा। जाते समय मुनिसे वह यह कहता गया कि मेरी स्त्री यहाँ भोजन लिए हुए आवेगी सो उसे आप कह दीजिएगा कि कपिल दूसरे खेत पर गया है। तू भोजन वहीं लेजा। सच है, मूर्ख लोग महामुनिके मार्गको न समझ कर कभी कभी बड़ा ही अनर्थ कर बैठते हैं। इसके बाद जब कपिलकी स्त्री भोजन लेकर खेत पर आई और उसने अपने स्वामीको खेत पर न पाया तब मुनिसे पूछा—क्यों साधु महाराज, मेरे स्वामी यहाँसे कहाँ गये हैं? मुनि चुप रहे, कुछ बोले नहीं। उनसे कुछ उत्तर न पाकर वह घर पर लौट आई। इधर समय पर समय बीतने लगा ब्राह्मण देवता भूकके मारे छट-पटाने, पर ब्राह्मणीका अभी तक पता नहीं; यह देख उन्हें बड़ा गुस्सा आया। वे क्रोधसे गुर्राते हुए घर पर आये और लगे

बेचारी ब्राह्मणी पर गालियोंकी बोछार करने! राँड, मैं तो भूखके मारे मरा जाता हूँ और तेरा अभी तक आनेका ठिकाना ही नहीं! उस नंगेको पूछकर खेत पर चली आती। बेचारी ब्राह्मणी घबराती हुई बोली—अजी तो इसमें मेरा क्या अपराध था! मैंने उस साधुसे तुम्हारा ठिकाना पूछा। उसने कुछ न बताया। तब मैं वापिस घर पर आ गई। ब्राह्मणनें दाँत पीसकर कहा—हाँ उस नंगेने तुझे मेरा ठिकाना नहीं बताया! और मैं तो उससें कह गया था! अच्छा, मैं अभी ही जाकर उसे इसका मजा चखाता हूँ। पाठकोंको याद होगा कि कपिल पहले जन्ममें सिंह था, और उसे इन्हीं गुरुदत्त मुनिने राज अवस्थामें जलाकर मार डाला था। तब इस हिसाबसे कपिलके वे शत्रु हुए। यदि कपिलको किसी तरह यह ज्ञान पड़ता कि ये मेरे शत्रु हैं, तो उस शत्रुताका वदला उसने कभीका ले लिया होता। पर उसे इसके जाननेका न तो कोई जरिया मिला और न था ही। तब उस शत्रुताको जाग्रत करनेके लिए, कपिलकी स्त्रीको कपिलके दूसरे खेत-पर जानेका हाल जो मुनिने न बताया, यह घटना सहायक हो गई। कपिल गुस्सेसे लाल होता हुआ मुनिके पास पहुँचा। वहाँ बहुतसी सेमलकी रुई पड़ी हुई थी। कपिलने उस रुईसे मुनिको लपेट कर उसमें आग लगादी! मुनि पर बड़ा उपसर्ग हुआ। पर उसे उन्होंने बड़ी धीरतासे सहा। उस समय शुक्लध्यानके बलसे घातिया कर्मोंका नाश होकर

उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया । देवोंने आकर उन पर फूलोंकी वरसा की, आनन्द मनाया । कपिल ब्राह्मण यह सब देखकर चकित हो गया । उसे तब जान पड़ा कि जिन साधुको मैंने अत्यन्त निर्दयतासे जला डाला उनका कितना महात्म्य था ! उसे अपनी इस नीचता पर बड़ा ही पछतावा हुआ । उसने बड़ी भक्तिसे भगवान्‌को हाथ जोड़कर अपने अपराधकी उनसे क्षमा माँगी । भगवान्‌के उपदेशको उसने बड़े चावसे सुना । उसे वह बहुत रुचा भी । वैराग्य पूर्ण भगवान्‌के उपदेशने उसके हृदय पर गहरा असर किया । वह उसी समय सब छोड़-छाड़ कर अपने पापका प्रायश्चित्त करनेके लिए मुनि हो गया । सच है, सत्पुरुषों-महात्माओंकी संगति सदा सुख देनेवाली होती है । यही तो कारण था कि एक महाक्रोधी ब्राह्मण पल भरमें सब छोड़-छाड़ कर योगी बन गया । इस लिए भव्य-जनोंको सत्पुरुषोंकी संगितसे अपनेको, अपनी सन्तानको और अपने कुलको सदा पवित्र करनेका यत्न करते रहना चाहिए । यह सत्संग परम सुखका कारण है ।

वे कर्मोंके जीतनेवाले जिनेन्द्र भगवान् सदा संसारमें रहें--उनका शासन चिरकाल तक जय लाभ करे जो सारे संसारको सुख देनेवाले हैं, सब सन्देहोंके नाश करनेवाले हैं और देवों द्वारा जो पूजा-स्तुति किये जाते हैं । तथा दुःसह उपसर्ग आने पर भी जो मेरुकी तरह स्थिर रहे और जिन्होंने

अपना आत्मस्वभाव प्राप्त किया ऐसे गुरुदत्त मुनि तथा मेरे परम गुरु श्रीप्रभाचन्द्राचार्य, ये मुझे आत्मीक सुख प्रदान करें।

७०–चिलात-पुत्रकी कथा।

केवलज्ञान जिनका प्रकाशमान नेत्र है, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर चिलात-पुत्रकी कथा लिखी जाती है।

राजगृहके राजा उपश्रेणिक एक वार हवाखोरीके लिए शहर वाहर हुए। वे जिस घोड़े पर सवार थे, वह वड़ा दुष्ट था। सो उसने उन्हें एक भयानक वनमें जा छोड़ा। उस वनका मालिक एक यमदण्ड नामका भील था। इसके एक लड़की थी। उसका नाम तिलकवती था। वह वड़ी सुन्दरी थी। उपश्रेणिक उसे देखकर कामके वाणोंसे अत्यन्त वींधे गये। उनकी यह दशा देखकर यमदंडने उनसे कहा–राजाधिराज, यदि आप इससे उत्पन्न होनेवाले पुत्रको राज्यका मालिक वनाना मंजूर करें तो मैं इसे आपके साथ व्याह सकता हूँ। उपश्रेणिकने यमदण्डकी शर्त मंजूर करली। यमदण्डने तव तिलकवतीका व्याह उनके साथ कर दिया। वे प्रसन्न होकर उसे साथ लिये राजगृह लौट आये।

वहुत दिनोंतक उन्होंने तिलकवतीके साथ सुख भोगा, आनन्द मनाया। तिलकवतीके एक पुत्र हुआ। उसका नाम चिलातपुत्र रक्खा गया। उपश्रेणिकके पहली रानियोंसे उत्पन्न हुए और भी कई पुत्र थे। यद्यपि राज्य वे तिलकवतीके पुत्रको देनेका संकल्प कर चुके थे, तौ भी उनके मनमें यह खटका सदा वना रहता था कि कहीं इसके हाथमें राज्य जाकर धूलधानी न हो जाय! जो हो, पर वे अपनी प्रतिज्ञाके तोड़नेको लाचार थे। एक दिन उन्होंने एक अच्छे विद्वान् ज्योतिषीको वुलाकर उससे पूछा—पंडितजी, अपने निमित्त-ज्ञानको लगाकर मुझे आप यह समझाइए कि मेरे इन पुत्रोंमें राज्यका मालिक कौन होगा? ज्योतिषीजी वहुत कुछ सोच-विचारके वाद राजासे वोले—सुनिए महाराज, मैं आपको इसका खुलासा कहता हूँ। आपके सव पुत्र खीरका भोजन करनेको एक जगह वैठाये जायँ और उस समय उन पर कुत्तोंका एक झुंड छोड़ा जाय। तव उन सवमें जो निडर होकर वहीं रखे हुए सिंहासन पर वैठ नगारा वजाता जाय और भोजन भी करता जाय और दूसरे कुत्तोंको भी डालकर खिलाता जाय, उसमें राजा होनेकी योग्यता है। मतलव यह कि अपनी वुद्धिमानीसे कुत्तोंके स्पर्शसे अछूता रहकर आप भोजन करले।

दूसरा निमित्त यह होगा कि आग लगने पर जो सिंहा-सन, छत्र, चवँर आदि राज्यचिन्होंको निकाल सके, वह

राजा हो सकेगा। इत्यादि और भी कई बाते हैं, पर उनके विशेष कहनेकी जरूरत नहीं।

कुछ दिन बीतने पर उपश्रेणिकने ज्योतिषीजीके बताये निमित्तकी जाँच करनेका उद्योग किया। उन्होंने सिंहासनके पास ही एक नगारा रखवा कर वहीं अपने सब पुत्रोंको खीर खानेको बैठाया। वे जीमने लगे कि दूसरी ओरसे कोई पाँचसौ कुत्तोंका झुण्ड दौड़कर उन पर लपका। उन कुत्तोंको देखकर राजकुमारोंके तो होश गायब हो गये। वे सब चीख मारकर भाग खड़े हुए। पर हाँ एक श्रेणिक जो इन सबसे वीर और बुद्धिमान् था, उन कुत्तोंसे डरा नहीं और बड़ी फुरतीसे उठकर उसने खीर परोसी हुई बहुतसी पत्तलोंको एक ऊँची जगह रख कर आप पास ही रखे हुए सिंहासन बैठ गया और आनन्दसे खीर खाने लगा। साथमें वह उन कुत्तोंको भी थोड़ी थोड़ी देर बाद एक एक पत्तल उठा उठा डालता गया और नगारा बजाता गया, जिससे कि कुत्ते उपद्रव न करें।

इसके कुछ दिनों बाद उपश्रेणिकने दूसरे निमित्तकी भी जाँच की। अबकी बार उन्होंने कहीं कुछ थोड़ीसी आग लगवा लोगों द्वारा शोरोगुल करवा दिया कि राजमहलमें आग लग गई। श्रेणिकने जैसे ही आग लगनेकी बात सुनी वह

दौड़ा गया और झटपट राजमहलसे सिंहासन, छत्र, चवँर-आदि राज्यचिह्नोंको निकाल वाहर हो गया। यही श्रेणिक आगे तीर्थंकर होगा।

श्रेणिककी वीरता और बुद्धिमानी देखकर उपश्रेणिकको निश्चय हो गया कि राजा यही होगा और इसीके यह योग्य भी है। श्रेणिकके राजा होनेकी वात तवतक कोई न जान पाये जबतक कि वह अपना अधिकार स्वयं अपनी भुजाओं द्वारा प्राप्त न करले। इसके लिए उन्हें उसके रक्षाकी चिन्ता हुई। कारण उपश्रेणिक राज्यका अधिकारी तिलकवतीके पुत्र चिलातको वना चुके थे और इस हालतमें किसी दुश्मनको या चिलातके पक्षपातियोंको यह पता लग जाता कि इस राज्यका राजा तो श्रेणिक ही होगा, तव यह असंभव नहीं था कि वे उसे राजा होने देनेके पहले ही मार डालते? इसलिए उपश्रेणिकका यह चिन्ता करना वाजिव था-समयोचित और दूरदर्शिताका था। इसके लिए उन्हें एक वड़ी अच्छी युक्ति सूझ गई और वहुत जल्दी उन्होंने उसे कार्यमें भी परिणत कर दिया। उन्होंने श्रेणिकके सिर यह अपराध मढ़ा कि उसने कुत्तोंका झूँठा खाया, इसलिए वह भ्रष्ट है। अब वह न तो राजघरानेमें ही रहने योग्य रहा और न देशमें ही। इसलिए मैं उसे आज्ञा देता हूँ कि वह वहुत जल्दी राजगृहसे वाहर हो जाये। सच है पुण्यवानोंकी सभी रक्षा करते हैं।

श्रेणिक अपने पिताकी आज्ञा पाते ही राजगृहसे उसी समय निकल गया। वह फिर पलभरके लिए भी वहाँ न ठहरा। यहाँसे चलकर वह द्राविड़ देशकी प्रधान नगरी काञ्चीमें पहुँचा। इसने अपनी बुद्धिमानीसे वहाँ कोई ऐसा वसीला लगा लिया जिससे इसके दिन बड़े सुखसे कटने लगे।

इधर उपश्रेणिक कुछ दिनोंतक तो और राजकाज चलाते रहे। इसके वाद कोई ऐसा कारण उन्हें देख पड़ा जिससे संसार और विषयभोगोंसे वे वहुत ही उदासीन हो गये। अव उन्हें संसारका वास एक वहुत ही पेंचीला जाल जान पड़ने लगा। उन्होंने तव अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार चिलात-पुत्रको राजा वनाकर सव जीवोंका कल्याण करनेवाला मुनि-पद ग्रहण कर लिया।

चिलात-पुत्र राजा हो गया सही, पर उसका जाति-स्वभाव न गया। और ठीक भी है कौएको मोरके पींख भले ही लगा दिये जायँ, पर वह मोर न वनकर रहेगा कौआका कौआ ही। यही दशा चिलातपुत्रकी हुई। वह राजा बना भी दिया गया तो क्या हुआ, उसमें अंगतके तो कुछ गुण नहीं थे, तव वह राजा होकर भी क्या वड़ा कहला सका ? नहीं। अपने जाति-स्वभावके अनुसार प्रजाको कष्ट देना, उस पर जवरन जोर-जुलुम करना उसने शुरू किया। यह एक साधारण वात है कि अन्यायीका कोई साथ नहीं देता और

यही कारण हुआ कि मगधकी प्रजाकी श्रद्धा उस परसे बिलकुल ही उठ गई। सारी प्रजा उससे हृदयसे नफरत करने लगी। प्रजाका पालक होकर जो राजा उसी पर अन्याय करे तब इससे बढ़कर और दुःखकी बात क्या हो सकती है?

परन्तु इसके साथ ही यह भी बात है कि प्रकृति अन्यायको नहीं सहती। अन्यायीको अपने अन्यायका फल तुरंत मिलता है। चिलातपुत्रके अन्यायकी डुगडुगी चारों ओर पिट गई। श्रेणिकको जब यह बात सुन पड़ी तब उससे चिलातपुत्रका प्रजा पर जुल्म करना न सहा गया। वह उसी समय मगधकी ओर रवाना हुआ। जैसे ही प्रजाको श्रेणिकके राजगृह आनेकी खबर लगी उसने उसका एकमत होकर साथ दिया। प्रजाकी इस सहायतासे श्रेणिकने चिलातको राज्यसे बाहर निकाल आप मगधका सम्राट् बना। सच है, राजा होनेके योग्य वही पुरुष है जो प्रजाका पालन करनेवाला हो। जिसमें यह योग्यता नहीं वह राजा नहीं, किन्तु इस लोकमें तथा परलोकमें अपनी कीर्त्तिका नाश करनेवाला है।

चिलातपुत्र मगधसे भागकर एक वनीमें जाकर वसा। वहाँ उसने एक छोटा-मोटा किला बनवा लिया और आसपासके छोटे छोटे गाँवोंसे जबरदस्ती कर वसूल कर आप उनका मालिक बन बैठा। इसका भर्तृमित्र नामका एक मित्र था। भर्तृमित्रके मामा रुद्रदत्तके एक लड़की थी। सो

भर्तृमित्रने अपने मामासे प्रार्थना की—वह अपनी लड़कीका ब्याह चिलातपुत्रके साथ करदे। उसकी बात पर कुछ ध्यान न देकर रुद्रदत्त चिलातपुत्रको लड़की देनेसे साफ मुकर गया। चिलातपुत्रसे अपना यह अपमान न सहा गया। वह छुपा हुआ राजगृहमें पहुँचा और विवाहस्नान करती हुई सुभद्राको उठा चलता वना। जैसे ही यह वात श्रेणिकके कानोंमें पहुँची वह सेना लेकर उसके पीछे दौड़ा। चिलातपुत्रने जव देखा कि अव श्रेणिकके हाथसे बचना कठिन है, तब उस दुष्ट निर्दयीने बेचारी सुभद्राको तो जानसे मारडाला और आप जान लेकर भागा। वह वैभारपर्वत परसे जा रहा था कि उसे वहाँ एक मुनियोंका संघ देख पड़ा। चिलातपुत्र दौड़ा हुआ संघाचार्य श्रीमुनिदत्त मुनिराजके पास पहुँचा और उन्हें हाथ जोड़ सिर नवा उनसे उसने प्रार्थना की कि प्रभो, मुझे तप दीजिए, जिससे मैं अपना हित कर सकूँ। आचार्यने तब उससे कहा—प्रिय, तूने बड़ा अच्छा सोचा जो तू तप लेना चाहता है। तेरी आयु अव सिर्फ आठ दिनकी रह गई है। ऐसे समय जिनदीक्षा लेकर तुझे अपना हित करना उचित ही है। मुनिराजसे अपनी जिन्दगी इतनी थोड़ी सुन उसने उसी समय तप लेलिया, जो संसार-समुद्रसे पार करनेवाला है। चिलातपुत्र तप लेनेके साथ ही प्रायोपगमन संन्यास ले धीरतासे आत्मभावना भाने लगा। उधर उसके पकड़नेको पीछे आनेवाले श्रेणिकने वैभारपर्वत पर आकर उसे इस

अवस्थामें जब देखा तब उसे चिलातपुत्रकी इस धीरता पर बड़ा चकित होना पड़ा। श्रेणिकने तब उसके इस साहसकी बड़ी तारीफ की। इसके बाद वह उसे नमस्कार कर राजगृह लौट आया। चिलातपुत्रने जिस सुभद्राको मारडाला था, वह मरकर व्यन्तर-देवी हुई। उसे जान पड़ा कि मैं चिलातपुत्र द्वारा बड़ी निर्दयतासे मारी गई हूँ। मुझे भी तब अपने वैरका बदला लेना ही चाहिए। यह सोचकर वह चीलका रूप ले चिलात मुनिके सिर पर आकर बैठ गई। उसने मुनिको कष्ट देना शुरू किया। पहले उसने चोंचसे उनकी दोनों आँखे निकाल लीं और बाद मधुमक्खी बनकर वह उन्हें काटने लगी। आठ दिनतक उन्हें उसने बेहद कष्ट पहुँचाया। चिलातमुनिने विचलित न हो इस कष्टको बड़ी शान्तिसे सहा। अन्तमें समाधिसे मरकर उसने सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की।

जिन वीरोंके वीर और गुणोंकी खान चिलातमुनिने ऐसा दुःसह उपसर्ग सहकर भी अपना धैर्य न छोड़ा और जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंका, जो कि देवों द्वारा भी पूज्य हैं, खूब मन लगाकर ध्यान करते रहे और अन्तमें जिन्होंने अपने पुण्यबलसे सर्वार्थसिद्धि प्राप्त की वे मुझे भी मंगल दें।

७१–धन्यमुनिकी कथा ।
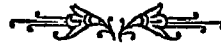
सर्वोंच्च धर्मका उपदेश करनेवाले श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर धन्य नामके मुनिकी कथा लिखी जाती है, जो पढ़ने या सुननेसे सुखकी देनेवाली है ।

जम्बूद्वीपके पूर्वकी ओर बसे हुए विदेह क्षेत्रकी प्रसिद्ध राजधानी वीतशोकपुरका राजा अशोक बड़ा ही लोभी राजा हो चुका है । जब धान्य काटकर खेतों पर खले किये जाते थे तब वह बेचारे बैलोंका मुँह बँधवा दिया करता और रसोई घरमें रसोई बनानेवाली स्त्रियोंके स्तन बँधवाकर उनके बच्चोंको दूध न पीने देता था । सच है, लोभी मनुष्य कौन पाप नहीं करते ।

एक दिन अशोकके मुँहमें कोई ऐसी बीमारी हो गई, जिससे उसका सारा मुँह आगया । सिरमें भी हजारों फोड़े-फुंसी हो गये । उससे उसे बड़ा कष्ट होने लगा । उसने उस रोगकी औषधि बनवाई । वह उसे पीनेको ही था कि इतनेमें अपने पाँवोंसे पृथिवीको पवित्र करते हुए एक मुनि आहारके लिए इसी ओर आगये । भाग्यसे ये मुनि भी राजाकी तरह इसी महारोगसे पीड़ित हो रहे थे । इन तपस्वी मुनिकी यह कष्टमय दशा देखकर राजाने सोचा

कि जिस रोगसे मैं कष्ट पा रहा हूँ, जान पड़ता है उसी रोगसे ये तपोनिधि भी दुखी हैं। यह सोचकर या दयासे प्रेरित होकर राजा जिस दवाको आप पीनेवाला था, उसे उसने मुनिराजको पिला दिया, और साथ ही उन्हें पथ्य भी दिया। दवाने अपना लाग बहुत अच्छा किया। बारह वर्षका यह मुनिका महारोग थोड़े ही समयमें मिट गया—मुनि भले-चंगे हो गये।

अशोक जब मरा तब इस पुण्यके फलसे वह अमलकण्ठ पुरके राजा निष्ठसेनकी रानी नन्दमतीके धन्य नामका सुन्दर गुणवान् पुत्र हुआ। धन्यको एक दिन श्रीनेमिनाथ भगवान्के पास धर्मका उपदेश सुननेका मौका मिला। वह भगवान्के द्वारा अपनी उमर बहुत थोड़ी जानकर उसी समय सब माया-ममता छोड़ मुनि बन गया। एक दिन वह शहरमें भिक्षाके लिए गया, पर पूर्वजन्मके पापकर्मके उदयसे उसे भिक्षा न मिली। वह वैसे ही तपोवनमें लौट आया। यहाँसे विहार कर वह तपस्या करता तथा धर्मोपदेश देता हुआ सौरीपुर आकर यमुनाके किनारे आतापन योग द्वारा ध्यान करने लगा। इसी ओर यहाँका राजा शिकारके लिए अया हुआ था, पर आज उसे शिकार न मिला। वह वापिस लौटकर अपने महलकी ओर आ रहा था। इसी समय इसकी नजर मुनि पर जा पड़ी। इसने समझ लिया कि बस, शिकार न मिलनेका कारण इस

नंगेका दीख पड़ना है–इसीने यह अशकुन किया है । यह धारणा कर इस पापी राजाने मुनिको वाणोंसे खूब वेध दिया। मुनिने तब शुक्लध्यानकी शक्तिसे कर्मोंका नाशकर सिद्ध गति प्राप्त की । सच है, महापुरुषोंकी धीरता बड़ी ही चकित करनेवाली होती है । जिससे महान् कष्ट समयमें भी मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ।

वे धन्यमुनि रोग, शोक, चिन्ता–आदि दोषोंको नष्टकर मुझे शाश्वत–कभी नाश न होनेवाला सुख दें, जो भव्यजनोंका भय मिटानेवाले हैं, संसार समुद्रसे पार करनेवाले हैं, देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं, मोक्ष-महिलाके स्वामी हैं, ज्ञानके समुद्र हैं और चारित्र-चूड़ामणि हैं ।

७२–पाँचसौ मुनियोंकी कथा ।

जिनेन्द्र भगवा[illegible] [illegible]णोंको नमस्कार कर पाँचसौ मुनियों पर एक साथ बीतनेवाली घटनाका हाल लिखा जाता है, जो कि कल्याणका कारण है ।

भरतके दक्षिणकी ओर बसे हुए कुंभकारकट नामके पुराने शहरके राजाका नाम दण्डक और उनकी रानीका नाम सुव्रता था । सुव्रता रूपवती और विदुषी थी । राजमंत्रीका

नाम वालक था। यह पापी जैनधर्मसे वड़ा द्वेष रखा करता था। एक दिन इस शहरमें पाँचसौ मुनियोंका संघ आया। वालक मंत्रीको अपनी पण्डिताई पर वड़ा अभिमान था। सो वह शास्त्रार्थ करनेको मुनिसंघके आचार्यके पास जा रहा था। रास्तेमें इसे एक खण्डक नामके मुनि मिल गये। सो उन्हींसे आप झगड़ा करनेको वैठ गया और लगा अट-सट वकने। तव मुनिने इसकी युक्तियोंका अच्छी तरह खण्डन कर स्याद्वाद-सिद्धान्तका इस शैलीसे प्रतिपादन किया कि वालक मंत्रीका मुँह वन्द हो गया–उनके सामने फिर उससे कुछ वोलते न वना। झख मारकर तव उसे लज्जित हो घर लौट आना पड़ा। इस अपमानकी आग उसके हृदयमें खूब धधकी। उसने तव इसका वदला चुकानेकी ठानी। इसके लिए उसने यह युक्ति की कि एक भाँडको छलसे मुनि वनाकर सुव्रता रानीके महलमें भेजा। यह भाँड रानीके पास जाकर उससे भला-वुरा हँसी-मजाक करने लगा। इधर उसने यह सव विहार.७.राजाको भी वतला दी और कहा–महाराज, आप इन लोगोंकी इतनी भक्ति करते हैं, सदा इनकी सेवामें लगे रहते हैं, तो क्या यह सव इसी दिनके लिए है? जरा आँखें खोलकर देखिए कि सामने क्या हो रहा है? उस भाँडकी लीला देखकर मूर्खराज दण्डकके क्रोधका कुछ पार न रहा। क्रोधसे अन्धे होकर उसने उसी समय हुक्म दिया कि जितने मुनि इस समय

मेरे शहरमें मौजूद हों, उन सबको घानीमें पेलदो। पापी मंत्री तो इसी पर मुँह धोये बैठा था। सो राजाज्ञा होते ही उसने एक पलभरका भी विलम्ब करना उचित न समझ मुनियोंके पेले जानेकी सब व्यवस्था फौरन जुटादी। देखते देखते वे सब मुनि घानीमें पेल दिये गये। बदला लेकर बालमंत्रीकी आत्मा सन्तुष्ट हुई। सच है, जो पापी होते हैं, जिन्हें दुर्गतियोंमें दुःख भोगना है, वे मिथ्यात्वी लोग भयंकरसे भयंकर पाप करनेमें जरा भी नहीं हिचकते। चाहे फिर उस पापके फलसे उन्हें जन्म-जन्ममें भी क्यों न कष्ट सहना पड़े। जो हो, मुनिसंघ पर इस समय बड़ा ही घोर और दुःसह उपद्रव हुआ। पर वे साहसी धन्य हैं, जिन्होंने जबानसे चूँतक न निकाल कर सब कुछ बड़े साहसके साथ सह लिया। जीवनकी इस अन्तिम कसौटी पर वे खूब तेजस्वी उतरे। उन मुनियोंने शुक्लध्यानरूपी अपनी महान् आत्मशक्तिसे कर्मोंका, जो कि आत्माके पक्के दुश्मन हैं, नाशकर मोक्ष लाभ किया।

दिपते हुए सुमेरुके समान थिर, कर्मरूपी मैलको, जो कि आत्माको मलिन करनेवाला है, नाश करनेवाले और देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों, राजों और महाराजों द्वारा पूजा किये गये जिन मुनिराजोंने संसारका नाश कर मोक्ष लाभ किया वे मेरा भी संसार-भ्रमण मिटावें।

७३–चाणक्यकी कथा।

देवों द्वारा पूजा किये जानेवाले जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर चाणक्यकी कथा लिखी जाती है।

पाटलिपुत्र या पटनाके राजा नन्दके तीन मंत्री थे। कावी, सुबन्धु और शकटाल ये उनके नाम थे। यहीं एक कपिल नामका पुरोहित रहता था। कपिलकी स्त्रीका नाम देविला था। चाणक्य इन्हींका पुत्र था। यह बड़ा बुद्धिमान् और वेदोंका ज्ञाता था।

एक वार आस-पासके छोटे-मोटे राजोंने मिलकर पटने पर चढ़ाई करदी। कावी मंत्रीने इस चढ़ाईका हाल नन्दसे कहा। नन्दने घबरा कर मंत्रीसे कह दिया कि जाओ जैसे बने उन अभिमानियोंको समझा-बुझाकर वापिस लौटादो। धन देना पड़े तो वह भी दो। राजाज्ञा पा मंत्रीने उन्हें धन वगैरह देकर लौटा दिया। सच है, विना मंत्रीके राज्य स्थिर हो ही नहीं सकता।

एक दिन नन्दको स्वयं कुछ धनकी जरूरत पड़ी। उसने खजांचीसे खजानेमें कितना धन मौजूद है, इसके लिए पूछा। खजांचीने कहा– महाराज, धन तो सब मंत्री महाशयने दुश्मनोंको दे डाला। खजानेमें तो अब नाम

मात्रके लिए थोड़ा-बहुत धन बचा होगा। यद्यपि दुश्मनोंको धन स्वयं राजाने दिलवाया था और इसलिए गल्ती उसीकी थी, पर उस समय अपनी यह भूल उसे न दीख पड़ी और दूसरेके उस्कानेमें आकर उसने बेचारे निर्दोष मंत्रीको और साथमें उसके सारे कुटुम्बको एक अन्धे कुएमें डलवा दिया। मंत्री तथा उसका कुटुम्ब वहाँ बड़ा कष्ट पाने लगा। इनके खाने-पीनेके लिए बहुत ही थोड़ा भोजन और थोड़ासा ही पानी दिया जाता था। वह इतना थोड़ा होता था कि एक मनुष्य भी उससे अच्छी तरह पेट न भर सकता था। सच है, राजा किसीका मित्र नहीं होता। राजाके इस अन्यायने काबीके मनमें प्रतिहिंसाकी आग धधकादी। इस आगने बड़ा भयंकर रूप धारण किया। काबीने तब अपने कुटुम्बके लोगोंसे कहा—जो भोजन इस समय हमें मिलता है उसे यदि हम इसी तरह थोड़ा थोड़ा सब मिलकर खाया करेंगे तब तो हम धीरे धीरे सब ही मर मिटेंगे और ऐसी दशामें कोई राजासे उसके इस अन्यायका बदला लेनेवाला न रहेगा। पर मुझे यह सह्य नहीं। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मेरा कोई कुटुम्बका मनुष्य राजासे बदला ले। तब ही मुझे शान्ति मिलेगी। इसलिए इस भोजनको वही मनुष्य अपनेमेंसे खाये जो बदला लेनेकी हिम्मत रखता हो। तब उसके कुटुम्बियोंने कहा—इसका बदला लेनेमें आप ही समर्थ देख पड़ते हैं। इसलिए हम खुशीके साथ कहते हैं कि

इस भारको आप ही अपने सिर पर लें। उस दिनसे उसका सारा कुटुम्ब भूखा रहने लगा और धीरे धीरे सबका सब मरमिटा। इधर कावी अपने रहने योग्य एक छोटासा गढ़ा उस कुएमें बनाकर दिन काटने लगा। ऐसे रहते उसे कोइ तीन वर्ष वीत गये।

जब यह हाल आस-पासके राजोंके पास पहुँचा तब उन्होंने इस समय राज्यको अव्यवस्थित देख फिर चढ़ाई करदी। अब तो नन्दके कुछ होश ढीले पड़े—अकल ठिकाने आई। अब उसे न सूझ पड़ा कि वह क्या करे? तव उसे अपने मंत्री कावीकी याद आई। उसने नौकरोंको आज्ञा दे कुएसे मंत्रीको निकलवाया और पीछा मंत्रीकी जगह नियत किया। मंत्रीने भी इस समय तो उन राजोंसे सुलह कर नन्दकी रक्षा करली। पर अब उसे अपना बैर निकालनेकी चिन्ता हुई। वह किसी ऐसे मनुष्यकी खोज करने लगा, जिससे उसे सहायता मिल सके। एक दिन कावी किसी वनमें हवा-खोरीके लिए गया हुआ था। इसने वहाँ एक मनुष्यको देखा कि जो काँटोंके समान चुभनेवाली दूबाको जड़-मूलसे उखाड़ उखाड़कर फैंक रहा था। उसे एक निकम्मा काम करते देखकर कावीने चकित होकर पूछा—ब्राह्मणदेव, इस खोदनेसे तुम्हारा क्या मतलब है? क्यों वे-फायदा इतनी तकलीफ उठा रहे हो? इस मनुष्यका नाम चाणक्य था। इसका

जिकर ऊपर आ चुका है । चाणक्यने तब कहा—वाह महाशय, इसे आप बे-फायदा बतलाते हैं! आप जानते हैं कि इसका क्या अपराध है? सुनिए। इसने मेरा पाँव छेद डाला और मुझे महा:कष्ट दिया, तब मैं क्यों इसे छोड़ने चला? मैं तो इसका जड़मूलसे नाशकर ही उठूँगा। यही मेरा संकल्प है। तब कावीने उसके हृदयकी थाह लेनेके लिए कि इसकी प्रतिहिंसाकी आग कहाँ जाकर ठंडी पड़ती है, कहा—तो महाशय, अब इस बेचारी पर क्षमा कीजिए। बस, अब बहुत हो चुका। उत्तरमें चाणक्यने कहा—नहीं, तबतक इसके खोदनेसे ही क्या लाभ जबतक कि इसकी जड़ें बाकी रह जायँ। उस शत्रुके मारनेसे क्या लाभ जब कि उसका सिर न काट लिया जाये? चाणक्यकी यह ओजस्विता देखकर कावीको बहुत सन्तोष हुआ। उसे निश्चय हो गया कि इसके द्वारा नन्द कुलका जड़-मूलसे नाश हो सकेगा। इससे अपनेको बहुत सहायता मिलेगी। अब सूर्य और राहूका योग मिला देना अपना काम है। किसी तरह नन्दके सम्बन्धमें इसका मन-मुटाव करा देना ही अपने कार्यका श्रीगणेश हो जायगा। कावी मंत्री इस तरहका विचार कर ही रहा था कि प्यासेको जलकी आशा होनेकी तरह एक योग मिल ही गया। इसी समय चाणक्यकी स्त्री यशस्वतीने आकर चाणक्यसे कहा—सुनती हूँ, राजा नन्द ब्राह्मणोंको गौ-दान किया करते हैं। तब आप भी जाकर

उनसे गौ लाइए न ! चाणक्यने कहा—अच्छी बात है, मैं अपने महाराजके पास जाकर जरूर गौ लाऊँगा। यशस्वतीके मुँहसे यह सुनकर, कि नन्द गौओंका दान किया करता है, कावी मंत्री खुश होता हुआ राजदरबारमें गया और राजासे बोला—महाराज, क्या आज आप गौएँ दान करेंगे ? ब्राह्मणोंको इकट्ठा करनेकी योजनाकी जाय ? महाराज, आपको तो यह पुण्यकार्य करना ही चाहिए। धनका ऐसी जगह सदुपयोग होता है। मंत्रीने अपना चक्र चलाया और वह राजा पर चल भी गया। सच है, जिनके मनमें कुछ और होता है, जो बचनोंसे कुछ और बोलते हैं तथा शरीर जिनका मायासे सदा लिपटा रहता है, उन दुष्टोंकी दुष्टताका पता किसीको नहीं लग पाता। कावीकी सत्सम्मति सुनकर नन्दने कहा—अच्छा, ब्राह्मणोंको आप बुलवाइए, मैं उन्हें गौएँ दान करूँगा। मंत्री जैसा चाहता था, वही हो गया। वह झटपट जाकर चाणक्यको ले आया और उसे सबसे आगे रखे आसन पर बैठा दिया। लोभी चाणक्यने तब अपने आस-पास रखे हुए बहुतसे आसनोंको घर लेजानेकी इच्छासे इकट्ठा कर अपने पास रख लिया। उसे इस प्रकार लोभी देख कावीने कपटसे कहा—पुरोहित महाराज, राजा साहब कहते हैं—और बहुतसे ब्राह्मण विद्वान् आये हैं, आप उनके लिए आसन दीजिए। चाणक्यने तब एक आसन निकाल कर दे दिया। इसी तरह धीरे

धीरे मंत्रीने उससे सब आसन रखवा कर अन्तमें कहा— महाराज, क्षमा कीजिए। मेरा कोई अपराध नहीं है। मैं तो पराया नौकर हूँ। इसलिए जैसा मालिक कहते हैं उनका हुक्म बजाता हूँ। पर जान पड़ता है कि राजा बड़ा अविचारी है जो आप सरीखे महा ब्राह्मणका आपमान करना चाहता है। महाराज, राजाका कहना है कि आप जिस अग्रासन पर बैठे हैं उसे छोड़कर चले जाईए। यह आसन दूसरे विद्वान्के लिए पहलेहीसे दिया जा चुका है। यह कहकर ही कावीने गरदन पकड़ चाणक्यको निकाल बाहर कर दिया। चाणक्य एक तो वैसे ही महाक्रोधी और अब उसका ऐसा अपमान किया गया और वह भी भरी राजसभामें! तब तो अब चाणक्यके क्रोधका पूछना ही क्या? वह नन्दवंशको जड़मूलसे उखाड़ फैंकनेका दृढ़ संकल्प कर जाता जाता बोला कि जिसे नन्दका राज्य चाहना हो, वह मेरे पीछे पीछे चला आवे। यह कहकर वह चलता बना। चाणक्यकी इस प्रतिज्ञाके साथ ही कोई एक मनुष्य उसके पीछे हो गया। चाणक्य उसे लेकर उन आस-पासके राजोंसे मिल गया, और फिर कोई मौका देख एक घातक मनुष्यको साथ ले वह पटना आया और नन्दको मरवा कर आप उस राजका मालिक बन बैठा। सच है, मंत्रीके क्रोधसे कितने राजोंका नाम इस पृथिवी परसे न उठ गया होगा!

इसके बाद चाणक्यने बहुत दिनोंतक राज्य किया। एक दिन उसे श्रीमहीधर मुनि द्वारा जैनधर्मका उपदेश सुननेका

मौका मिला । उस उपदेशका उसके चित्त पर खूब असर पड़ा । वह उसी समय सब राज-काज छोड़ कर मुनि बन गया । चाणक्य बुद्धिमान् और बड़ा तेजस्वी था । इसलिए थोड़े ही दिनों बाद उसे आचार्य पद मिल गया । वहाँसे कोई पाँचसौ शिष्योंको साथ लिए उसने विहार किया । रास्तेमें पड़नेवाले देशों, नगरों और गाँवोंमें धर्मोपदेश करता और अनेक भव्य-जनोंको हितमार्गमें लगाता वह दक्षिणकी ओर बसे हुए वनवास देशके क्रौंचपुरमें आया । इस पुरके पश्चिम किनारे कोई अच्छी जगह देख इसने संघको ठहरा दिया । चाणक्यको यहाँ यह मालूम हो गया कि उसकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है । इसलिए उसने वहीं प्रायोपगमन संन्यास ले लिया ।

नन्दका दूसरा मंत्री सुबन्धु था । चाणक्यने जब नन्दको मरवा डाला तब उसके क्रोधका पार नहीं रहा । प्रतिहिंसाकी आग उसके हृदयमें दिनरात जलने लगी । पर उस समय उसके पास कोई साधन बदला लेनेका न था । इसलिए वह लाचार चुप रहा । नन्दकी मृत्युके बाद वह इसी क्रौंचपुरमें आकर यहाँके राजा सुमित्रका मंत्री हो गया । राजाने जब मुनिसंघके आनेका समाचार सुना तो वह उसकी वन्दना-पूजाके लिए आया । बड़ी भक्तिसे उसने सब मुनियोंकी पूजाकर उनसे धर्मोपदेश सुना और बाद उनकी स्तुति कर वह अपने महल लौट आया ।

मिथ्यात्वी सुबन्धुको चाणक्यसे बदला लेनेका अब अच्छा मौक़ा मिल गया। उसने उस मुनिसंघके चारों ओर खूब घास इकट्ठी करवा कर उसमें आग लगवा दी। मुनि संघ पर हृदयको हिला देनेवाला बड़ा ही भयंकर दुःसह उपसर्ग हुआ सही, पर उसने उसे बड़ी सहन-शीलताके साथ सह लिया और अन्तमें अपनी शुक्लध्यानरूपी आत्मशक्तिसे कर्मोंका नाश कर सिद्धगति लाभ की। जहाँ राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, दुःख चिन्ता—आदि दोष नहीं है और सारा संसार जिसे सबसे श्रेष्ठ समझता है।

चाणक्य आदि निर्मल चारित्रके धारक ये सब मुनि अब सिद्धगतिमें ही सदा रहेंगे। ज्ञानके समुद्र ये मुनिराज मुझे भी सिद्धगतिका सुख दें।

७४–वृषभसेनकी कथा।

जिनेन्द्र भगवान्, जिनवानी और ज्ञानके समुद्र साधुओंको नमस्कार कर वृषभसेनकी उत्तम कथा लिखी जाती है।

दक्षिण दिशाकी ओर बसे हुए कुण्डल नगरके राजा वैश्रवण बड़े धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे। और रिष्टामात्य नामका इनका मंत्री इनसे बिलकुल

उल्टा-मिथ्यात्वी और जैनधर्मका बड़ा द्वेषी था। सो ठीक ही है, चन्दनके वृक्षोंके आस-पास सर्प रहा ही करते हैं।

एक दिन श्रीवृषभसेन मुनि अपने संघको साथ लिये कुण्डल नगरकी ओर आये। वैश्रवण उनके आनेके समाचार सुन बड़ी विभूतिके साथ भव्यजनोंको संग लिये उनकी वन्दनाको गया। भक्तिसे उसने उनकी प्रदक्षिणा की, स्तुति की, वन्दना की और पवित्र द्रव्योंसे पूजा की तथा उनसे जैनधर्मका उपदेश सुना। उपदेश सुनकर वह बड़ा प्रसन्न हुआ। सच है, इस सर्वोच्च और सब सुखोंके देनेवाले जैन-धर्मका उपदेश सुनकर कौन सद्गतिका पात्र या सुखी न होगा।

राजमंत्री भी मुनिसंघके पास आया। पर वह इसलिए नहीं कि वह उनकी पूजा-स्तुति करे; किन्तु उनसे वाद-शास्त्रार्थ कर उनका मानभंग करने-लोगोंकी श्रद्धा उन परसे उठा देने। पर यह उसकी भूल थी। कारण-जो दूसरोंके लिए कुआ खोदते हैं उसमें पहले उन्हें ही गिरना पड़ता है। यही हुआ भी। मंत्रीने मुनियोंका अपमान करनेकी गर्जसे उनसे शास्त्रार्थ किया, पर अपमान उसीका हुआ। मुनियोंके साथ उसे हार जाना पड़ा। इस अपमानकी उसके हृदय पर गहरी चोट लगी। इसका बदला चुकाना निश्चित कर वह शामको छुपा हुआ मुनिसंघके पास आया और जिस स्थानमें वह ठहरा था उसमें उस पापीने आग लगादी। बड़े दुःखकी बात है कि दुर्जनोंका स्वभाव एक विलक्षण ही तरहका होता

है । वे स्वयं तो पहले दूसरोंके साथ छेड़-छाड़ करते हैं और जब उन्हें अपने कियेका फल मिलता है तब वे यह समझकर, कि मेरा इसने बुरा किया, दूसरे निर्दोष सत्पुरुषों पर क्रोध करते हैं और फिर उनसे बदला लेनेके लिए उन्हें नाना प्रकारके कष्ट देते हैं ।

जो हो, मंत्रीने अपनी दुष्टतामें कोई कसर न की। मुनिसंघ पर उसने बड़ा ही भयंकर उपसर्ग किया । पर उन तत्व ज्ञानी—वस्तु-स्थितिको जाननेवाले मुनियोंने इस कष्टकी कुछ परवा न कर बड़ी सहन-शीलताके साथ सब कुछ सह लिया और अन्तमें अपने अपने भावोंकी पवित्रताके अनुसार उनमेंसे कितने ही मोक्षमें गये और कितने ही स्वर्गमें ।

दुष्ट पुरुष सत्पुरुषोंको कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचावें उससे खराबी उन्हीं की है—उन्हें ही दुर्गतिमें दुःख भोगना पड़ेंगे । और सत्पुरुष तो ऐसे कष्ट समयमें भी अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ रहकर—अपना धर्म अर्थात् कर्तव्य पालन कर सर्वोच्च सुख लाभ करेंगे । जैसा कि उक्त मुनिराजोंने किया ।

वे मुनिराज आप लोगोंको भी सुखदें, जिन्होंने ध्यानरूपी पर्वतका आश्रय ले बड़ा दुःसह उपसर्ग जीता, अपने कर्तव्यसे सर्व श्रेष्ठ कहलानेका सम्मान लाभ किया, और अन्तमें अपने उच्च भावोंसे मोक्ष सुख प्राप्त कर देवों, विद्याधरों चक्रवर्त्तियों आदि द्वारा पूजाको प्राप्त हुए और संसारमें सबसे पवित्र गिने जाने लगे ।

७५-शालिसिक्थ मच्छके भावोंकी कथा।

केवलज्ञान रूपी नेत्रके धारक और स्वयंभू श्री-आदिनाथ भगवान्को नमस्कार कर सत्पुरुषोंको इस बातका ज्ञान हो कि केवल मनकी भावनासे ही-मनमें विचार करनेसे ही कितना दोष या कर्मबन्ध होता है, इसकी एक कथा लिखी जाती है।

सबके अन्तके स्यंभूरमण समुद्रमें एक बड़ा भारी दीर्घ-काय मच्छ है। वह लम्बाईमें एक हजार योजन, चौड़ाईमें पाँचसौ योजन और ऊँचाईमें ढाईसौ योजनका है। (एक योजन चार या दो हजार कोसका होता है) यहीं एक और शालिसिक्थ नामका मच्छ इस बड़े मच्छके कानोंके आस-पास रहता है। पर यह बहुत ही छोटा है और इस बड़े मच्छके कानोंका मैल खाया करता है। जब यह बड़ा मच्छ सैकड़ों छोटे-मोटे जल-जीवोंको खाकर और मुँह फाड़े छह मासकी गहरी नींदके खुर्राटेमें मग्न हो जाता है उस समय कोई एक-एक दो-दो योजनके लम्बे-चौड़े कछुए, मछलियाँ, घड़ियाल, मगर आदि जलजन्तु बड़े निर्भीक होकर इसके विकराल डाढ़ोंवाले मुँहमें घुसते और बाहर निकलते रहते हैं। तब यह छोटा सिक्थ-मच्छ रोज रोज सोचा करता है कि यह बड़ा मच्छ कितना मूर्ख है जो

अपने मुखमें आसानीसे आये हुए जीवोंको व्यर्थ ही जाने देता है ! यदि कहीं मुझे यह सामर्थ्य प्राप्त हुई होती तो मैं कभी एक भी जीवको न जाने देता। बड़े दुःखकी बात है कि पापी लोग अपने आप ही ऐसे बुरे भावों द्वारा महान पापका वन्धकर दुर्गतियोंमें जाते हैं और वहाँ अनेक कष्ट सहते हैं। सिक्थ-मच्छकी भी यही दशा हुई। वह इस प्रकार बुरे भावोंसे तीव्र कर्मोंका वन्धकर सातवें नरक गया। क्योंकि मनके भाव ही तो पुण्य या पापके कारण होते हैं। इसलिए सत्पुरुषोंको जैनशास्त्रोंके अभ्यास या पढ़ने-पढ़ानेसे मनको सदा पवित्र बनाये रखना चाहिए, जिससे उसमें बुरे विचारोंका प्रवेश ही न हो पावे। और शास्त्रोंके अभ्यासके विना अच्छे बुरेका ज्ञान नहीं हो पाता, इसलिए शास्त्राभ्यास पवित्रताका प्रधान कारण है।

यही जिनवानी मिथ्यात्वरूपी अँधेरेको नष्ट करनेके लिए दीया है, संसारके दुःखोंको जड़ मूलसे उखाड़ फेंकनेवाली है, स्वर्ग-मोक्षके सुखकी कारण है, और देव, विद्याधर आदि सभी महापुरुषोंके आदरकी पात्र है—सभी जिनवानीकी वड़ी भक्तिसे उपासना करते हैं। आप लोग भी इस पवित्र जिनवानीका शान्ति और सुखके लिए सदा अभ्यास, मनन-चिंतन करें।

७६-सुभौम चक्रवर्त्तीकी कथा।

चारों प्रकारके देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं उन जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर आठवें चक्रवर्ती सुभौमकी कथा लिखी जाती है।

सुभौम ईर्ष्यावान् शहरके राजा कार्त्तवीर्यकी रानी रेवतीके पुत्र थे। चक्रवर्त्तीका एक जयसेन नामका रसोइया था। एक दिन चक्रवर्ती जब भोजन करनेको बैठे तब रसोइयेने उन्हें गरम गरम खीर परोसदी। उसके खानेसे चक्रवर्तीका मुँह जल गया। इससे उन्हें रसोइए पर बड़ा गुस्सा आया। गुस्सेसे उन्होंने खीर रखे गरम ही बरतनको उसके सिरपर दे मारा। उससे उसका सारा सिर जल गया। इसकी घोर वेदनासे मरकर वह लवणसमुद्रमें व्यन्तर देव हुआ। कु-अवधिज्ञानसे अपने पूर्वभवकी बात जानकर चक्रवर्ती पर उसके गुस्सेका पार न रहा। प्रतिहिंसासे उसका जी बे-चैन हो उठा। तब वह एक तापसी बनकर अच्छे अच्छे सुन्दर फलोंको अपने हाथमें लिये चक्रवर्तीके पास पहुँचा। फलोंको उसने चक्रवर्तीको भेंट किया। चक्रवर्त्ती उन फलोंको खाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस तापससे कहा—महाराज, ये फल तो बड़े ही मीठे हैं। आप इन्हें कहाँसे लाये? और ये मिलें तो कहाँ मिलेंगे? तब उस व्यन्तरने धोखा देकर चक्रवर्तीसे

कहा—समुद्रके बीचमें एक छोटासा टापू है। वहीं मेरा घर है। आप मुझ गरीब पर कृपा कर मेरे घरको पवित्र करें तो मैं आपको बहुतसे ऐसे ऐसे उत्तम और मीठे फल भेंट करूँगा। कारण वहाँ ऐसे फलोंके बहुत बगीचे हैं। चक्रवर्ती लोभमें फँसकर व्यन्तरके झाँसेमें आगये और उसके साथ चल दिये। जब व्यन्तर इन्हें साथ लिये बीच समुद्रमें पहुँचा तब अपने सच्चे स्वरूपमें आ उसने बड़े गुस्सेसे चक्रवर्तीको कहा—पापी, जानता है कि मैं तुझे यहाँ क्यों लाया हूँ? यदि न जानता हो तो सुन—मैं तेरा जयसेन नामका रसोइया था, तब तूने मुझे निर्दयताके साथ जलाकर मार-डाला था। अब उसीका बदला लेनेको मैं तुझे यहाँ लाया हूँ। बतला अब कहाँ जायगा? जैसा किया उसका फल भोगनेको तैयार हो जा। तुझसे पापियोंकी ऐसी गति होनी ही चाहिए। पर सुन, अब भी एक उपाय है, जिससे तू बच सकता है। और वह यह कि यदि तू पानीमें पंच नमस्कार मंत्र लिखकर उसे अपने पाँवोंसे मिटादे तो तुझे मैं जीता छोड़ सकता हूँ। अपनी जान बचानेके लिए कौन किस कामको नहीं कर डालता? वह भला है या बुरा इसके विचार करनेकी तो उसे जरूरत ही नहीं रहती। उसे तब पड़ी रहती है अपनी जानकी। यही दशा चक्रवर्ती महाशयकी हुई। उन्होंने तब नहीं सोच पाया कि इस अनर्थसे मेरी क्या दुर्दशा होगी? उन्होंने उस व्यन्तरके कहे

अनुसार झटपट जलमें मंत्र लिखकर पाँवसे उसे मिटा डाला। उनका मंत्र मिटाना था कि व्यन्तरने उन्हें मारकर समुद्रमें फैंक दिया। इसका कारण यह हो सकता है कि मंत्रको पाँवसे न मिटानेके पहले व्यन्तरकी हिम्मत चक्रवर्तीको मारनेकी इसलिए न पड़ी होगी कि जगत्पूज्य जिनेन्द्र भगवान्के भक्तको वह कैसे मारे, या यह भी संभव था कि उस समय कोई जिनशासनका भक्त अन्य देव उसे इस अन्यायसे रोककर चक्रवर्त्तीकी रक्षा कर लेता और अब मंत्रको पाँवोंसे मिटा देनेसे चक्रवर्त्ती जिनधर्मका द्वेषी समझा गया और इसीलिए व्यन्तरने उसे मारडाला। मरकर इस पापके फलसे चक्रवर्त्ती सातवें नरक गया। उस मूर्खताको, उस लंपटताको धिक्कार है जिससे चक्रवर्त्ती–सारी पृथिवीका सम्राट् दुर्गतिमें गया। जिसका जिन भगवान्के धर्म पर विश्वास नहीं होता उसे चक्रवर्त्तीकी तरह कुगतिमें जाना पड़े तो इसमें आश्चर्य क्या? वे पुरुष धन्य हैं और वे ही सबके आदर पात्र हैं, जिनके हृदयमें सुख देनेवाले जिन वचन रूप अमृतका सदा सोता वहता रहता है। इन्हीं वचनोंपर विश्वास करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन जीव मात्रका हित करनेवाला है, संसारका भय मिटानेवाला है, नाना प्रकारके सुखोंका देनेवाला है, और मोक्ष प्राप्तिका मुख्य कारण है। देव, विद्याधर आदि सभी बड़े बड़े पुरुष सम्यग्दर्शनकी या उसके धारण करने-

वालेकी पूजा करते हैं। यह गुणोंका खजाना है। सम्यग्दृष्टिको कोई प्रकारकी भय-बाधा नहीं होती। वह बड़ी सुख-शान्तिसे रहता है। इसलिए जो सच्चे सुखकी आशा रखते हैं उन्हें आठ अंग सहित इस पवित्र सम्यग्दर्शनका विश्वासके साथ पालन करना चाहिए।

७७–शुभ राजाकी कथा।

संसारका हित करनेवाले जिनेन्द्र भगवानको प्रसन्नता पूर्वक नमस्कार कर शुभ नामके राजाकी कथा लिखी जाती है।

मिथिला नगरके राजा शुभकी रानी मनोरमाके देवरति नामका एक पुत्र था। देवरति गुणवान् और बुद्धिमान् था। कोई प्रकारका दोष या व्यसन उसे छू तक न गया था।

एक दिन देवगुरु नामके अवधिज्ञानी मुनिराज अपने संघको साथ लिये मिथिलामें आये। शुभ राजा तब बहुतसे भव्यजनोंके साथ मुनि-पूजाके लिए गया। मुनिसंघकी सेवा-पूजा कर उसने धर्मोपदेश सुना। अन्तमें उसने अपने भविष्यके सम्बधका मुनिराजसे प्रश्न किया— योगिराज, कृपाकर बतलाइए कि आगे मेरा जन्म कहाँ होगा? उत्तरमें मुनिने कहा— राजन, सुनिए—पापकर्मोंके

उदयसे तुम्हें आगेके जन्ममें तुम्हारे ही पाखानेमें एक बड़े कीड़ेकी देह प्राप्त होगी, शहरमें घुसते समय तुम्हारे मुँहमें विष्टा प्रवेश करेगा, तुम्हारा छत्रभंग होगा और आजके सातवें दिन बिजली गिरनेसे तुम्हारी मौत होगी। सच है, जीवोंके पापके उदयसे सभी कुछ होता है। मुनिराजने ये सब बातें राजासे बड़े निडर होकर कहीं। और यह ठीक भी है कि योगियोंके मनमें किसी प्रकारका भय नहीं रहता।

मुनिका शुभके सम्बन्धका भविष्य-कथन सच होने-लगा। एक दिन बाहरसे लौट कर जब वे शहरमें घुसने लगे तब घोड़ेके पाँवोंकी ठोकरसे उड़े हुए थोड़ेसे विष्टाका अंश उनके मुँहमें आ गिरा और यहाँसे वे थोड़े ही आगे बढ़े होंगे कि एक जोरकी आँधीने उनके छत्रको तोड़ डाला। सच है, पापकर्मोंके उदयसे क्या नहीं होता। उन्होंने तब अपने पुत्र देवरतिको बुलाकर कहा—बेटा, मेरे कोई ऐसा पापकर्मका उदय आवेगा उससे मैं मरकर अपने पाखानेमें पाँच रंगका कीड़ा होऊँगा, सो तुम उस समय मुझे मार डालना। इसलिए कि फिर मैं कोई अच्छी गति प्राप्त कर सकूँ। उक्त घटनाको देखकर शुभको यद्यपि यह एक तरह निश्चयसा हो गया था कि मुनिराजकी कही बातें सच्ची हैं और वे अवश्य होंगी पर तब भी उनके मनमें कुछ कुछ सन्देह बना रहा और इसी कारण

बिजली गिरनेके भयसे डरकर उन्होंने एक लोहेकी बड़ी मजबूत सन्दूक मँगवाई और उसमें बैठकर गंगाके गहरे जलमें उसे रख आनेको नौकरोंको आज्ञा की। इसलिए कि जलमें बिजलीका असर नहीं होता। उन्हें आशा थी कि मैं इस उपायसे रक्षा पा जाऊँगा। पर उनकी यह बे-समझी थी। कारण प्रत्यक्ष-ज्ञानियोंकी कोई बात कभी झूठी नहीं होती। जो हो, सातवाँ दिन आया। आकाशमें बिजलियाँ चमकने लगीं। इसी समय भाग्यसे एक बड़े मच्छने राजाकी उस सन्दूकको एक ऐसा जोरका उथेला दिया कि सन्दूक जल बाहर दो हाथ ऊँचे तक उछल आई। सन्दूकका बाहर होना था कि इतनेमें बड़े जोरसे कड़क कर उस पर बिजली आ गिरी। खेद है कि उस बिजलीके गिरनेसे राजा अपने यत्नमें कामयाब न हुए और आखिर वे मौतके मुँहमें पड़ ही गये। मरकर वह मुनिराजके कहे अनुसार पाखानेमें कीड़ा हुए। पिताके कहे माफिक जब देवरतिने जाकर देखा तो सच-मुच एक पाँच रंगका कीड़ा उसे देख पड़ा और तब उसने उसे मारडालना चाहा। पर जैसे ही देवरतिने हाथका हथयार उसके मारनेको उठाया, वह कीड़ा उस विष्टाके ढेरमें घुस गया। देवरतिको इससे बड़ा ही अचंभा हुआ। उसने जिन जिनसे इस घटनाका हाल कहा, उन सबको संसारकी इस भयंकर लीलाको सुन बड़ा डर मालूम हुआ। उन्होंने तब संसारका बन्धन काट देनेके लिए जैनधर्मका

आश्रय लिया, कितनोंने सब माया-ममता तोड़ जिनदीक्षा ग्रहण की और कितनोंने अभ्यास बढ़ानेको पहले श्रावकोंके व्रत ही लिये।

देवरतिको इस घटनासे बड़ा अचंभा हो ही रहा था, सो एक दिन उसने ज्ञानी मुनिराजसे इसका कारण पूछा—भगवन्, क्यों तो मेरे पिताने मुझसे कहा कि मैं विष्टामें कीड़ा होऊँगा सो मुझे तू मार डालना और जबमें उस कीड़ेको मारने जाता हूँ तब वह भीतर ही भीतर घुसने लगता है। मुनिने इसके उत्तरमें देवरतिसे कहा—भाई, जीव गतिसुखी होता है। फिर चाहे वह कितनी ही बुरीसे बुरी जगह भी क्यों न पैदा हो। वह उसीमें अपनेको सुखी मानेगा—वहाँसे कभी मरना पसन्द न करेगा। यही कारण है कि जबतक तुम्हारे पिता जीते थे तबतक उन्हें मनुष्य जीवनसे प्रेम था—उन्होंने न मरनेके लिए यत्न भी किया, पर उन्हें सफलता न मिली। और ऐसी उच्च मनुष्य गतिसे वे मरकर कीड़ा होंगे, सो भी विष्टामें! इसका उन्हें बहुत खेद था और इसीलिए उन्होंने तुमसे उस अवस्थामें मार डालनेको कहा था। पर अब उन्हें वही जगह अत्यन्त प्यारी है—वे मरना पसन्द नहीं करते। इसलिए जब तुम उस कीड़ेको मारने जाते हो तब वह भीतर घुस जाता है। इसमें आश्चर्य और खेद करनेकी कोई बात नहीं। संसारकी स्थिति ही ऐसी है। मुनिराज द्वारा यह मार्मिक उपदेश सुनकर देवरतिको बड़ा वैराग्य हुआ। वह संसारको छोड़कर, इसलिए

कि उसमें सार कुछ नहीं है, मुनिपद स्वीकार कर आत्महित-साधक योगी हो गया।

जिनके वचन पापोंके नाश करनेवाले हैं, सर्वोत्तम हैं, और संसारका भ्रमण मिटानेवाले हैं, वे देवों द्वारा पूजे जानेवाले जिन भगवान् मुझे तबतक अपने चरणोंकी सेवाका अधिकार दें जबतक कि मैं कर्मोंका नाशकर मुक्ति प्राप्त न करलूँ।

७८—सुदृष्टि सुनारकी कथा।

देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों, राजों और महाराजों द्वारा पूजा किये जानेवाले जिन भगवान्को नमस्कार कर सुदृष्टि नामक सुनारकी, जो रत्नोंके काममें बड़ा हुशियार था, कथा लिखी जाती है।

उज्जैनके राजा प्रजापाल बड़े प्रजाहितैषी, धर्मात्मा और जिन भगवान्के सच्चे भक्त थे। इनकी रानीका नाम सुप्रभा था। सुप्रभा बड़ी सुन्दरी और सती थी। सच है, संसारमें वही रूप और वही सौन्दर्य प्रशंसाके लायक होता है जो शीलसे भूषित हो।

यहाँ एक सुदृष्टि नामका सुनार रहता था। जवाहिरातके काममें यह वड़ा चतुर था तथा सदाचारी और सरल-स्वभावी था। इसकी स्त्रीका नाम विमला था। विमला दुराचारिणी थी। अपने घरमें रहनेवाले एक वक्र नामके विद्यार्थीसे, जिसे कि सुदृष्टि अपने खर्चसे लिखाता-पढ़ाता था, विमलाका अनुचित सम्वन्ध था। विमला अपने स्वामीसे वहुत ना-खुश थी। इसलिए उसने अपने प्रेमी वक्रको उस्का कर—उसे कुछ भली-वुरी सुझाकर सुदृष्टिका खून करवा दिया। खून उस समय किया गया जव कि सुदृष्टि विषय-सेवनमें मग्न था। सो यह मरकर विमलाके ही गर्भमें आया। विमलाने कुछ दिनों वाद पुत्र प्रसव किया। आचार्य कहते हैं कि संसारकी स्थिति वड़ी ही विचित्र है जो पलभरमें कर्मोंकी पराधीनतासे जीवोंका अजव परिवर्तन हो जाता है। वे नटकी तरह क्षणक्षणमें रूप वदला ही करते हैं।

चैतका महीना था। वसन्तकी शोभाने सव ओर अपना साम्राज्य स्थापित कर रक्खा था। वन उपवनोंकी शोभा मनको मोह लेती थी। इसी सुन्दर समयमें एक दिन महारानी सुप्रभा अपने खास वगीचेमें प्राणनाथके साथ हँसीविनोद कर रही थी। इस हँसी-विनोदमें उसका क्रीड़ा-विलास नामका सुन्दर और वहुमूल्य हार टूट पड़ा। उसके सव रत्न विखर गये। राजाने उसे फिर वैसा ही वनवानेका वहुत यत्न किया, जगह जगहसे अच्छे सुनार वुलवाये, पर हार

पहलेसा किसीसे नहीं बना। सच है, विना पुण्यके कोई उत्तम कला या ज्ञान नहीं होता। इसी टूटे हुए हारको विमलाके लड़केने अर्थात् पूर्वभवके उसके पति सुदृष्टिने देखा। देखते ही उसे जातिस्मरण—पूर्व जन्मका ज्ञान हो गया। उससे उसने उस हारको पहलेसा ही बना दिया। इसका कारण यह था कि इस हारको पहले भी सुदृष्टिहीने बनाया था और यह बात सच है कि इस जीवको पूर्व जन्मके संस्कार-पुण्यसे ही कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान दान-पूजा आदि सवी बातें प्राप्त हुआ करती हैं। प्रजापाल उसकी यह हुशियारी देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उससे पूछा भी कि भाई, यह हार जैसा सुदृष्टिका बनाया था वैसा ही तुमने कैसे बना दिया? तब वह विमलाका लड़का मुँह नीचा कर बोला—राजाधिराज, मैं अपनी कथा आपसे क्या कहूँ। आप यह समझें कि वास्तवमें मैं ही सुदृष्टि हूँ। इसके बाद उसने बीती हुई सब घटना राजासे कह सुनाई। वे संसारकी इस विचित्रताको सुनकर विषय-भोगोंसे बड़े विरक्त हुए। उन्होंने उसी समय सब माया-जाल छोड़कर आत्महितका पथ जिनदीक्षा ग्रहण करली।

इधर विमलाके लड़केको भी अत्यन्त वैराग्य हुआ। वह स्वर्ग-मोक्षके सुखोंकी देनेवाली जिनदीक्षा लेकर योगी बन गया। यहाँसे फिर यह विशुद्धात्मा धर्मोपदेशके लिए अनेक देशों और शहरोंमें घूम-फिर कर तपस्या करता हुआ

और अनेक भव्यजनोंको आत्महितके मार्ग पर लगाता हुआ सौरीपुरके उत्तर भागमें यमुनाके पवित्र किनारे पर आकर ठहरा। यहाँ शुक्लध्यान द्वारा कर्मोंका नाश कर इसने लोकालोकका ज्ञान करानेवाला केवलज्ञान प्राप्त किया और संसार द्वारा पूज्य होकर अन्तमें मुक्ति लाभ किया। वे विमला-सुत मुनि मुझे शान्ति दें।

वे जिन भगवान् आप भव्यजनोंको और मुझे मोक्षका सुख दें, जो संसार-सिन्धुमें डूबते हुए, असहाय—निराधार जीवोंको पार करनेवाले हैं, कर्मशत्रुओंका नाश करनेवाले हैं, संसारके सब पदार्थोंको देखनेवाले केवलज्ञानसे युक्त हैं—सर्वज्ञ हैं, स्वर्ग तथा मोक्षका सुख देनेवाले हैं और देवों, विद्याधरों, चक्रवर्तियों—आदि प्रायः सभी महा पुरुषोंसे पूजा किये जाते हैं।

७९–धर्मसिंह मुनिकी कथा।

सब प्रकारके देवों द्वारा जो पूजा-स्तुति किये जाते हैं और ज्ञानके समुद्र हैं, उन जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार कर धर्मसिंह मुनिकी कथा लिखी जाती है।

दक्षिण देशके कौशलगिर नगरके राजा वीरसेनकी रानी वीरमतीके दो सन्तान थीं। एक पुत्र था और कन्या थी.

पुत्रका नाम चन्द्रभूति और कन्याका चन्द्रश्री था। चन्द्रश्री बड़ी सुन्दरी थी। उसकी सुन्दरता देखते ही बनती थी।

कौशल देश और कौशल ही शहरके राजा धर्मसिंहके साथ चन्द्रश्रीकी शादी हुई थी। दोनों दम्पति सुखसे रहते थे। नाना प्रकारकी भोगोपभोग वस्तुएँ सदा उनके लिए मौजूद रहती थीं। इतना होने पर भी राजाका धर्म पर पूर्ण विश्वास था—अगाध श्रद्धा थी। वे सदा दान, पूजा, व्रतादि धर्मकार्य करते ही रहते थे।

एक दिन धर्मसिंह तपस्वी दमधर मुनिके दर्शनार्थ गये। उनकी भक्तिसे पूजा-स्तुति कर उन्होंने उनसे धर्मका पवित्र उपदेश सुना, जो धर्म देवों द्वारा भी बड़ी भक्तिके साथ पूजा-माना जाता है। धर्मोपदेशका धर्मसिंहके चित्त पर बड़ा गहरा असर पड़ा। उससे वे संसार और विषय-भोगोंसे विरक्त हो गये। उनकी रानी चंद्रश्रीको उन्हें जवानीमें दीक्षा लेजानेसे बड़ा कष्ट हुआ। पर बेचारी लाचार थी। उसके दुःखकी बात जब उसके भाई चन्द्रभूतिको मालूम हुई तो उसे भी अत्यन्त दुःख हुआ। उससे अपनी बहिनकी यह हालत न देखी गई। उसने तब जबरदस्ती अपने बहनोई धर्मसिंहको उठा लाकर चन्द्रश्रीके पास ला रक्खा। धर्मसिंह फिर भी न ठहरे और जाकर उन्होंने पुनः दीक्षा लेली और महा तप तपने लगे।

एक दिन इसी तरह वे तपस्या कर रहे थे। तव उन्होंने चन्द्रभूतिको अपनी ओर आता हुआ देखा। उन्होंने समझ लिया कि यह फिर मेरी तपस्या विगाड़ेगा। सो तपकी रक्षाके लिए पास ही पड़े हुए एक मृत हाथीके शरीरमें घुसकर उन्होंने समाधि लेली और अन्तमें शरीर छोड़कर वे स्वर्गमें गये। इसलिए भव्यजनोंको कष्टके समय भी अपने व्रतकी रक्षा करनी ही चाहिए कि जिससे स्वर्ग या मोक्षका सर्वोच्च सुख प्राप्त होता है।

निर्मल जैनधर्मके प्रेमी जिन श्रीधर्मसिंह मुनिने जिन भगवान्‌के उपदेश किये और स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले तप मार्गका आश्रय ले उसके पुण्यसे स्वर्ग-सुख लाभ किया वे संसार प्रसिद्ध महात्मा और अपने गुणोंसे सबकी बुद्धि पर प्रकाश डालनेवाले मुझे भी मंगल–सुख दान करें।

८०–वृषभसेनकी कथा।

स्वर्ग और मोक्षका सुख देनेवाले तथा सारे संसारके द्वारा पूजे-माने जानेवाले श्री-जिन भगवान्‌को नमस्कार कर वृषभ-सेनकी कथा लिखी जाती है।

पाटलिपुत्र (पटना) में वृषभदत्त नामका एक सेठ रहता था। पूर्व पुण्यके प्रभावसे इसके पास धन सम्पत्ति खूब

थी। इसकी स्त्रीका नाम वृषभदत्ता था। इसके वृषभसेन नामका सर्वगुण-सम्पन्न एक पुत्र था। वृषभसेन बड़ा धर्मात्मा और सदा दान-पूजादिक पुण्यकर्मोंका करनेवाला था।

वृषभसेनके मामा धनपतिकी स्त्री श्रीकान्ताके एक लड़की थी। इसका नाम धनश्री था। धनश्री सुन्दरी थी, चतुर थी और लिखी-पढ़ी थी। धनश्रीका व्याह वृषभसेनके साथ हुआ था। दोनों दम्पति सुखसे रहते थे। नाना प्रकारके विषय-भोगोंकी वस्तुएँ उनके लिए सदा हाजिर रहती थीं।

एक दिन वृषभसेन दमधर मुनिराजके दर्शनोंके लिए गया। भक्ति सहित उनकी पूजा-वन्दना कर उसने उनसे धर्मका पवित्र उपदेश सुना। उपदेश उसे बहुत रुचा और उसका प्रभाव भी उस पर बहुत पड़ा। वह उसी समय संसार और भ्रमसे सुख जान पड़नेवाले विषय-भोगोंसे उदासीन हो मुनिराजके पास आत्महितकी साधक जिन-दीक्षा ले गया। उसे युवावस्थामें ही दीक्षा ले-जानेसे धन-श्रीको बड़ा दुःख हुआ। उसे दिनरात रोनेके सिवा कुछ न सूझता था। धनश्रीका यह दुःख उसके पिता धनपतिसे न सहा गया। वह तपोवनमें जाकर वृषभसेनको उठा लाया और जबरदस्ती उसकी दीक्षा वगैरह खण्डित कर दी—उसे गृहस्थ बना दिया। सच है, मोही पुरुष करने

और न करने योग्य कामोंका विचार न कर उन्मत्तकी तरह हर एक काम करने लग जाता है, जिससे कि पापकर्मोंका उसके तीव्र बंध होता है।

जैसे मनुष्यको कैदमें जबरदस्ती रहना पड़ता है उसी तरह वृषभसेनको भी कुछ समय तक और घरमें रहना पड़ा। इसके बाद वह फिर मुनि हो गया। इसका फिर मुनि हो जाना जब धनपतिको मालूम हुआ तो किसी बहानेसे घर पर लाकर अबकी बार उसे उसने लोहेकी साँकलसे बाँध दिया। मुनिने यह सोचकर, कि यह मुझे अबकी बार फिर व्रतरूपी पर्वतसे गिरा देगा–मेरा व्रत भंग कर देगा, संन्यास ले लिया, और इसी अवस्थामें शरीर छोड़कर वह पुण्यके उदयसे स्वर्गमें देव हुआ। दुर्जनों द्वारा सत्पुरुषोंको कितने ही कष्ट क्यों न पहुँचाये जायँ पर वे कभी पापबन्धके कारण कामोंमें नहीं फँसते।

दुर्जन पुरुष चाहे कितनी ही तकलीफ क्यों न दें, पर पवित्र बुद्धिके धारी सज्जन महात्मा पुरुष तो जिन भगवान्के चरणोंकी सेवा-पूजासे होनेवाले पुण्यसे सुख ही प्राप्त करेंगे। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

८१–जयसेन राजाकी कथा।

स्वर्गादि सुखोंके देनेवाले और मोक्षरूपी रमणीके स्वामी श्रीजिन भगवान्को नमस्कार कर जयसेन राजाकी सुन्दर कथा लिखी जाती है।

सावस्तीके राजा जयसेनकी रानी वीरसेनाके एक पुत्र था। इसका नाम वीरसेन था। वीरसेन बुद्धिमान् और सच्चे हृदयका था। मायाचार–कपट उसे छूतक न गया था।

यहाँ एक शिवगुप्त नामका बुद्ध भिक्षुक रहता था। यह मांसभक्षी और निर्दयी था। ईर्षा और द्वेष इसके रोम रोममें ठसा था–मानों वह इनका पुतला था। यह शिवगुप्त राजगुरु था। ऐसे मिथ्यात्वको धिक्कार है जिसके वश हो ऐसे मायावी और द्वेषी भी गुरु हो जाते हैं।

एक दिन यतिवृषभ मुनिराज अपने सारे संघको साथ लिये सावस्तीमें आये। राजा यद्यपि बुद्धधर्मका माननेवाला था, तथापि वह और और लोगोंको मुनिदर्शनके लिए जाते देख आप भी गया। उसने मुनिराज द्वारा धर्मका पवित्र उपदेश चित लगाकर सुना। उपदेश उसे बहुत पसन्द आया। उसने मुनिराजसे प्रार्थना कर श्रावकोंके व्रत लिये।

जैनधर्म पर अब उसकी दिनों दिन श्रद्धा बढ़ती ही गई। उसने अपने सारे राज्यभरमें कोई ऐसा स्थान न रहने दिया जहाँ जिनमन्दिर न हो। प्रत्येक शहर, प्रत्येक गाँवमें इसने जिन-मन्दिर बनवा दिया। जिनधर्मके प्रचारके लिए राजाका यह प्रयत्न देख शिवगुप्त ईर्षा और द्वेषके मारे जलकर खाक हो गया। वह अब राजाको किसी प्रकार मार डालनेके प्रयत्न-में लगा। और एक दिन खास इसी कामके लिए वह पृथि-वी पुरी गया और वहाँके बुद्धधर्मके अनुयायी राजा सुम-तिको उसने जयसेनके जैनधर्म धारण करने और जगह जगह जिनमन्दिरोंके बनवाने आदिका सब हाल कह सुना-या। यह सुन सुमतिने जयसेनको एक पत्र लिखा कि-"तुमने बुद्धधर्म छोड़कर जो जैनधर्म ग्रहण किया, यह बहुत बुरा किया है। तुम्हें उचित है कि तुम पीछा बुद्धधर्म स्वी-कार करलो।" इसके उत्तरमें जयसेनने लिख भेजा कि-"मेरा विश्वास है-निश्चय है कि जैनधर्म ही संसारमें एक ऐसा सर्वोच्च धर्म है जो जीवमात्रका हित करनेवाला है। जिस धर्ममें जीवोंका मांस खाया जाता है या जिनमें धर्मके नाम पर हिंसा वगैरह महापाप बड़ी खुशीके साथ किये जाते हैं वे धर्म नहीं हो सकते। धर्मका अर्थ है-जो संसारके दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें रक्खे, सो यह बात सिवा जैनधर्मके और धर्मोंमें नहीं है। इसलिए इसे छोड़कर और सब अशुभ बन्धके कारण हैं।" सच है, जिसने जैनधर्मका

सच्चा स्वरूप जान लिया वह क्या फिर किसीसे डिगाया जा सकता है ? नहीं। प्रचण्डसे प्रचण्ड हवा भी क्यों न चले पर क्या वह मेरुको हिला देगी ? नहीं। जयसेनके इस प्रकार विश्वासको देख सुमतिको बड़ा गुस्सा आया। तब उसने दो आदमियोंको इसलिए सावस्तीमें भेजा कि वे जयसेनकी हत्या कर आवें। वे दोनों आकर कुछ समय तक सावस्तीमें ठहरे और जयसेनके मार डालनेकी खोजमें लगे रहे, पर उन्हें ऐसा मौका ही न मिल पाया जो वे जयसेनको मार सकें। तब लाचार हो वे वापिस पृथिवीपुरी आये और सब हाल उन्होंने राजासे कह सुनाया। इससे सुमतिका क्रोध और भी बढ़ गया। उसने तब अपने सब नौकरोंको इकट्ठा कर कहा—क्या कोई मेरे आदमियोंमें ऐसा भी हिम्मत बहादुर है जो सावस्ती जाकर किसी तरह जयसेनको मार आवे ! उनमेंसे एक हिमार नामके दुष्टने कहा—हाँ महाराज, मैं इस कामको कर सकता हूँ। आप मुझे आज्ञा दें। इसके बाद ही वह राजाज्ञा पाकर सावस्ती आया और यतिवृषभ मुनिराजके पास मायाचारसे जिनदीक्षा लेकर मुनि हो गया।

एक दिन जयसेन मुनिराजके दर्शन करनेको आया और अपने नौकर-चाकरोंको मन्दिर बाहर ठहरा कर आप मन्दिरमें गया। मुनिको नमस्कार कर वह कुछ समयके लिए उनके पास बैठा और उनसे कुशल समाचार पूछकर उसने कुछ धर्म-सम्बन्धी बात-

चीत की। इसके बाद जब वह चलनेके पहले मुनि राजको ढोंक देनेके लिए झुका कि इतनेमें वह दुष्ट हिमारक जयसेनको मार कर भाग गया। सच है क्षुद्र लोग बड़े ही दुष्ट हुआ करते हैं। यह देख मुनि यतिवृषभको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने सोचा—कहीं सारे संघ पर विपत्ति न आये, इस लिए पासहीकी भींत पर उन्होंने यह लिख कर, कि "दर्शन या धर्मकी डाहके वश होकर ऐसा काम किया गया है," छुरीसे अपना पेट चीर लिया और स्थिरतासे संन्यास द्वारा मृत्यु प्राप्तकर वे स्वर्ग गये।

वीरसेनको जब अपने पिताकी मृत्युका हाल मालूम हुआ तो वह उसी समय दौड़ा हुआ मन्दिर आया। उसे इस प्रकार दिन-दहाड़े किसी साधारण आदमीकी नहीं, किन्तु खास राजा साहबकी हत्या हो जाने और हत्याकारीका कुछ पता न चलनेका बड़ा ही आश्चर्य हुआ। और जब उसने अपने पिताके पास मुनिको भी मरा पाया तब तो उसके आश्चर्यका कुछ ठिकाना ही न रहा। वह बड़े विचारमें पड़ गया। ये हत्याएँ क्यों हुईं? और कैसे हुईं? इसका कारण कुछ भी उसकी समझमें न आया। उसे यह भी सन्देह हुआ कि कहीं इन मुनिने तो यह काम न किया हो? पर दूसरे ही क्षणमें उसने सोचा कि ऐसा नहीं हो सकता। इनका और पिताजीका कोई वैर-विरोध नहीं, लेना देना नहीं, फिर वे क्यों ऐसा करने चले? और पिताजी तो इनके इतने बड़े भक्त

थे। और न केवल यही बात थी कि पिताजी ही इनके भक्त हों, ये साधुजी भी तो उनसे बड़ा प्रेम करते थे; घण्टोंतक उनके साथ इनकी धर्मचर्चा हुआ करती थी। फिर इस सन्देहको जगह नहीं रहती कि एक निस्पृह और शान्त योगी द्वारा यह अनर्थ घड़ा जा सके। तब हुआ क्या? बेचारा वीरसेन बड़ी कठिन समस्यामें फँसा। वह इस प्रकार चिन्तातुर हो कुछ सोच-विचार कर ही रहा था कि उसकी नजर सामनेकी भींत पर जा पड़ी। उस पर यह लिखा हुआ, कि "दर्शन या धर्मकी डाहके वश होकर ऐसा हुआ है," देखते ही उसकी समझमें उसी समय सब बातें बराबर आगईं। उसके मनका अब रहा-सहा सन्देह भी दूर हो गया। उसकी अब मुनिराज पर अत्यन्त ही श्रद्धा हो गई। उसने मुनिराजके धैर्य और सहनपनेकी बड़ी प्रशंसा की। जैनधर्मके विषयमें उसका पूरा पूरा विश्वास हो गया। जिनका दुष्ट स्वभाव है, जिनसे दूसरोंके धर्मका अभ्युदय—उन्नति नहीं सही जाती, ऐसे लोग जिनधर्म सरीखे पवित्र धर्म पर चाहे कितना ही दोष क्यों न लगावें, पर जिनधर्म तो बादलोंसे न ढके हुए सूरजकी तरह सदा ही निर्दोष रहता है।

जिस धर्मको चारों प्रकारके देव, विद्याधर, चक्रवर्ती, राजे-महाराजे आदि सभी महा पुरुष भक्तिसे पूजते-मानते हैं, जो संसारके दुःखोंका नाश कर स्वर्ग या मोक्षका देनेवाला है, सुखका स्थान है, संसारके जीव मात्रका हित

करनेवाला है और जिसका उपदेश सर्वज्ञ भगवान्ने किया है और इसीलिए सबसे अधिक प्रमाण या विश्वास करने योग्य है, वह धर्म-वह आत्माकी एक खास शक्ति मुझे प्राप्त होकर मोक्षका सुख दे।

८१-शकटाल मुनिकी कथा।
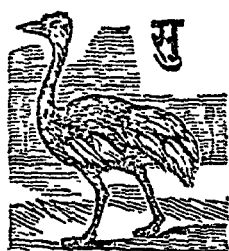
सुखके देनेवाले और संसारका हित करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंको नमस्कार कर शकटाल मुनिकी कथा लिखी जाती है।

पाटलिपुत्र (पटना) के राजा नन्दके दो मंत्री थे। एक शकटाल और दूसरा वररुचि। शकटाल जैनी था, इस लिए सुतरां उसकी जैनधर्म पर अचल श्रद्धा या प्रीति थी। और वररुचि जैनी नहीं था, इसलिए सुतरां उसे जैन धर्मसे, जैनधर्मके पालनेवालोंसे द्वेष था—ईर्षा थी। और इसीलिए शकटाल और वररुचिकी कभी न बनती थी—एकसे एक अत्यन्त विरुद्ध थे।

एक दिन जैनधर्मके परम विद्वान् महापद्म मुनिराज अपने संघको साथ लिये पटनामें आये। शकटाल उनके दर्शन करनेको गया। बड़ी भक्तिके साथ उसने उनकी पूजा-वन्द-

ना की और उनके पास बैठकर मुनि और गृहस्थ धर्मका उनसे पवित्र उपदेश सुना। उपदेशका शकटालके धार्मिक अतएव कोमल हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह उसी सयय संसारका सब माया-जाल तोड़कर दीक्षा ले मुनि हो गया। इसके बाद उसने अपने गुरु द्वारा सिद्धान्तशास्त्रका अच्छा अभ्यास किया। थोड़े ही दिनोंमें शकटाल मुनिने कई विषयोंमें बहुत ही अच्छी योग्यता प्राप्त करली। गुरु इनकी बुद्धि, विद्वत्ता, तर्कनाशक्ति और सर्वोपरि इनकी स्वाभाविक प्रतिभा देखकर बहुत ही खुश हुए। उन्होंने अपना आचार्यपद अब इन्हें ही दे दिया। यहाँसे ये धर्मोपदेश और धर्म प्रचारके लिए अनेक देशों, शहरों और गाँवोंमें घूमे-फिरे। इन्होंने बहुतोंको आत्महित साधक पवित्र मार्ग पर लगाया और दुर्गतिके दुःखोंका नाश करनेवाले पवित्र जैनधर्मका सब ओर प्रकाश फैलाया। इस प्रकार धर्म प्रभावना करते हुए ये एक बार फिर पटनामें आये।

एक दिनकी बात है कि शकटाल मुनि राजाके अन्तःपुरमें आहार कर तपोवनकी ओर जा रहे थे। मंत्री वररुचिने इन्हें देख लिया। सो इस पापीने पुराने बैरका बदला लेनेका अच्छा मौका देखकर नन्दसे कहा— महाराज, आपको कुछ खबर है कि इस समय अपना पुराना मंत्री पापी शकटाल भीखके बहाने आपके अन्तःपुरमें—रनवासमें घुसकर न जाने क्या अनर्थ कर गया है! मुझे तो

उसके चले जाने बाद ये समाचार मिले, नहीं तो मैंने उसे कभीका पकड़वा कर पापकी सजा दिलवा दी होती। अस्तु, आपको ऐसे धूर्तोंके लिए चुप बैठना उचित नहीं। सच है, दुर्गतिमें जानेवाले ऐसे पापी लोग बुरासे बुरा कोई काम करते नहीं चूकते। नन्दने अपने मंत्रीके बहकानेमें आकर गुस्सेसे उसी समय एक नौकरको आज्ञा दी कि वह जाकर शकटालको जानसे मार आवे। सच है, मूर्ख पुरुष दुर्जनों द्वारा उस्केरे जाकर करने और न करने योग्य भले-बुरे कार्यका कुछ विचार न कर अन्याय कर ही डालते हैं। शकटाल मुनिने जब उस घातक मनुष्यको अपनी ओर आते देखा तब उन्हें विश्वास हो गया कि यह मेरे ही मारनेको आ रहा है। और यह सब कर्म मंत्री वररुचिका है। अस्तु, जबतक वह घातक शकटाल मुनिके पास पहुँचता है उससे पहले ही उन्होंने सावधान होकर संन्यास ले लिया। घातक अपना काम पूरा कर वापिस लौट गया। इधर शकटाल मुनिने समाधिसे शरीर त्यागकर स्वर्ग लाभ किया। सच है, दुष्ट पुरुष अपनी ओरसे कितनी ही दुष्टता क्यों न करे, पर उससे सत्पुरुषोंको कुछ नुकसान न पहुँच कर लाभ ही होता है।

परन्तु जब नन्दको यह सब सच्चा हाल ज्ञात हुआ और उसने सब बातोंकी गहरी छान-बीन की तब उसे मालूम हो गया कि शकटाल मुनिका कोई दोष न था—वे सर्वथा निरपराध थे। इसके पहले जैनमुनियोंके सम्बन्धमें जं

उसकी मिथ्या धारणा हो गई थी और उन पर जो उसका बे-हद क्रोध हो रहा था उस सबको हृदयसे दूर कर वह अब बड़ा ही पछताया। अपने पाप कर्मोंकी उसने बहुत निन्दा की। इसके बाद वह श्रीमहापद्म मुनिके पास गया। बड़ी भक्तिसे उसने उनकी पूजा-वन्दना की और सुखके कारण पवित्र जैनधर्मका उनके द्वारा उपदेश सुना। धर्मोपदेशका उसके चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने श्रावकोंके व्रत धारण किये। जैनधर्म पर अब इसकी अचल श्रद्धा हो गई।

इस जीवको जब कोई बुरी संगति मिल जाती है तब तो यह बुरेसे बुरे पापकर्म करने लग जाता है और जब अच्छे महात्मा पुरुषोंकी संगति मिलती है तब यही पुण्य--पवित्र कर्म करने लगता है। इसलिए भव्यजनोंको सदा ऐसे महा पुरुषोंकी संगति करना चाहिए जो संसारके आदर्श हैं और जिनकी सत्संगतिसे स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

इन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपरूपी रत्नोंकी सुन्दर मालाको प्रभाचंद्र आदि पूर्वाचार्योंने शास्त्रोंका सार लेकर बनाया है, जो ज्ञानके समुद्र और सारे संसारके जीव मात्रका हित करनेवाले थे। उन्हींकी कृपासे मैंने इस आराधनारूपी मालाको अपनी बुद्धि और शक्तिके अनुसार बनाया है। यह माला आप भव्यजनोंको और मुझे सुखदे।

८३-श्रद्धायुक्त मनुष्यकी कथा।

निर्मल केवलज्ञान द्वारा सारे संसारके पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले जिन भगवान्को नमस्कार कर श्रद्धागुणके धारी विनयंधर राजाकी कथा लिखी जाती है, जो कथा सत्पुरुषोंको प्रिय है।

कुरुजांगल देशकी राजधानी हस्तिनापुरका राजा विनयंधर था। उसकी रानीका नाम विनयवती था। यहाँ वृषभसेन नामका एक सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम वृषभसेना था। इसके जिनदास नामका एक बुद्धिमान् पुत्र था।

विनयंधर बड़ा कामी था। सो एक वार इसके कोई महा रोग हो गया। सच है, ज्यादा-मर्यादासे बाहर विषय सेवन भी उलटा दुःखका ही कारण होता है। राजाने बड़े बड़े वैद्योंका इलाज करवाया पर उसका रोग किसी तरह न मिटा। राजा इस रोगसे बड़ा दुःखी हुआ। उसे दिन रात चैन न पड़ने लगा।

राजाका एक सिद्धार्थ नामका मंत्री था। यह जैनी था। शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारक था। सो एक दिन इसने पादौषधिऋद्धिके धारक मुनिराजके पाँव प्रक्षालनका जल लाकर, जो कि सब रोगोंका नाश करनेवाला होता है, राजाको दिया।

जिन भगवान्‌के सच्चे भक्त उस राजाने बड़ी श्रद्धाके साथ उस जलको पी लिया। उस पीनेसे उसका सब रोग जाता रहा। जैसे सूरजके उगनेसे अंधकार जाता रहता है। सच है, साधु-महात्माओंके तपके प्रभावको कौन कह सकता है, जिनके कि पाँव धोनेके पानीसेही सब रोगोंकी शान्ति हो जाती है। जिस प्रकार सिद्धार्थ मंत्रीने मुनिके पाँव प्रक्षालनका पवित्र जल राजाको दिया, उसी प्रकार अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे धर्मरूपी जल सर्व-साधारणको देकर उनका संसार-ताप शान्त करें। जैनतत्वके परम विद्वान् वे पादौषधिऋद्धिके धारक मुनिराज मुझे शान्ति-सुख दें।

जैनधर्ममें या जैनधर्मके अनुसार किये जानेवाले दान, पूजा, व्रत, उपवास आदि पवित्र कार्योंमें की हुई श्रद्धा-किया हुआ विश्वास दुःखोंका नाश करनेवाला है। इस श्रद्धाका आनुषङ्गिक फल है-इन्द्र, चक्रवर्त्ती, विद्याधर आदिकी सम्पदाका लाभ और वास्तविक फल है मोक्षका कारण केवलज्ञान, जिसमें कि अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये चार अनन्तचतुष्टय-आत्माकी खास शक्तियाँ प्रगट हो जाती हैं। वह श्रद्धा आप भव्यजनोंका कल्याण करे।

८४-आत्मनिन्दा करनेवालीकी कथा ।

चारों प्रकारके देवों द्वारा पूजे जानेवाले जिन भगवान्को नमस्कार कर उस स्त्रीकी कथा लिखी जाती है कि जिसने अपने किये पापकर्मोंकी आलोचना कर अच्छा फल प्राप्त किया है ।

बनारसके राजा विशाखदत्त थे । उनकी रानीका नाम कनकप्रभा था । इनके यहाँ एक चितेरा रहता था । इसका नाम विचित्र था । यह चित्रकलाका बड़ा अच्छा जानकार था । चितेरेकी स्त्रीका नाम विचित्रपताका था । इसके बुद्धिमती नामकी एक लड़की थी । बुद्धिमती बड़ी सुन्दरी और चतुर थी ।

एक दिन विचित्र चितेरा राजाके खास महलमें, जो कि बड़ा सुन्दर था, चित्र कर रहा था । उसकी लड़की बुद्धिमती उसके लिए भोजन लेकर आई । उसने विनोद वश हो भींत पर मोरकी पींछीका एक चित्र बनाया । वह चित्र इतना सुन्दर बना कि सहसा कोई न जान पाता कि वह चित्र है । जो उसे देखता वह यही कहता कि यह मोरकी पींछी है । इसी समय महाराज विशाखदत्त इस ओर आगये । वे उस चित्रको मोरकी पींछी

समझ उठानेको उसकी ओर बढ़े। यह देख बुद्धीमतीने समझा कि महाराज बे-समझ हैं। नहीं तो इन्हें इतना भ्रम नहीं होता।

दूसरे दिन बुद्धिमतीने एक ओर अद्भुत चित्र राजाको बतलाते हुए अपने पिताको पुकारा—पिताजी, जल्दी आइए, भोजनकी जवानीका समय बीत रहा है। बुद्धिमतीके इन शब्दोंको सुनकर राजा बड़े अचम्भेमें पड़ गया। वह उसके कहनेका कुछ भाव न समझ कर एक टकटकी लगाये उसके मुँहकी ओर देखता रह गया। राजाको अपना भाव न समझा देख बुद्धिमतीको उसके मूर्ख होनेका और दृढ़ विश्वास हो गया।

अबकी बार बुद्धिमतीने और ही चाल चली। एक भींत पर दो पड़दे लगा दिये और राजाको चित्र बतलानेके बहानेसे उसने एक पड़दा उठाया। उसमें चित्र न था। तब राजा उस दूसरे पड़देकी ओर चित्रकी आशासे आँखें फाड़ कर देखने लगा। बुद्धिमतीने दूसरा पड़दा भी उठा दिया। भींत पर चित्रको न देखकर राजा बड़ा शर्मिन्दा हुआ। उसकी इन चेष्टाओंसे उसे पूरा मूर्ख समझ बुद्धिमतीने जरा हँस दिया। राजा और भी अचम्भेमें पड़ गया। वह बुद्धिमतीका कुछ भी अभिप्राय न समझ सका। उसने तब व्यग्र हो बुद्धिमतीसे ऐसा करनेका कारण पूछा। बुद्धिमतीके उत्तरसे उसे ज्ञान पड़ा कि वह उसे चाहती है—और इसीलिए पिताको

भोजनके लिए पुकारते समय व्यङ्गसे राजा पर उसने अपना भाव प्रगट किया था। राजा उसकी सुन्दरता पर पहलेहीसे मुग्ध था, सो वह बुद्धिमतीकी बातोंसे बड़ा खुश हुआ। उसने फिर बुद्धिमतीके साथ ब्याह भी कर लिया। धीरे धीरे राजाका उस पर इतना अधिक प्रेम बढ़ गया कि अपनी सब रानियोंमें पट्टरानी उसने उसे ही बना दिया। सच बात यह है कि प्राणियोंकी उन्नतिके लिए उनके गुण ही उनका दूतपना करते हैं—उन्हें उन्नति पर पहुँचा देते हैं।

राजाने बुद्धिमतीको सारे रनवासकी स्वामिनी बना तो दिया, पर उससे सब रानियाँ उस बेचारीकी शत्रु बन गईं—उससे डाह, ईर्षा करने लगीं। आते-जाते वे बुद्धिमतीके सिर पर मारती और उसे बुरी-भली सुनाकर बे-हद कष्ट पहुँचातीं। बेचारी बुद्धिमती सीधी-साधी थी, सो न तो वह उनसे कुछ कहती और न महाराजसे ही कभी उनकी शिकायत करती। इस कष्ट और चिन्तासे मन ही मन घुलकर वह सूखसी गई। वह जब जिन मन्दिर दर्शन करने जाती तब सब सिद्धियोंके देनेवाले भगवान्‌के सामने खड़े हो अपने पूर्व कर्मोंकी निन्दा करती और प्रार्थना करती कि—हे संसार पूज्य, हे स्वर्ग-मोक्षके सुख देनेवाले, हे दुःखरूपी दावानलके बुझानेवाले मेघ, और हे दयासागर, मैं एक छोटे कुलमें पैदा हुई हूँ, इसीलिए मुझे ये सब कष्ट हो रहे हैं। पर नाथ, इसमें दोष किसीका नहीं। मेरे पूरब जनमके पापोंका उदय

है। प्रभो, जो हो, पर मुझे विश्वास है कि जीवोंको चाहे कितने ही कष्ट क्यों न सता रहे हों, पर जो आपको हृदयसे चाहता है—आपका सच्चा सेवक है, उसके सब कष्ट बहुत जल्दी नष्ट हो जाते हैं। और :इसीलिए—हे नाथ, कामी, क्रोधी मानी, मायावी देवोंको छोड़कर मैंने आपकी शरण ली है। आप मेरा कष्ट दूर करेंगे ही। बुद्धिमती न मन्दिरमें ही किन्तु महल पर भी अपने कर्मोंकी आलोचना किया करती। वह सदा एकान्तमें रहती और न किसीसे विशेष बोलती-चालती। राजाने उसके दुर्बल होनेका कारण पूछा—बार बार आग्रह किया, पर बुद्धिमतीने उससे कुछ भी न कहा।

बुद्धिमती क्यों दिनों दिन दुर्बल होती जाती है, इसकी शोध लगानेके लिए एक दिन राजा उसके पहले जिनमन्दिर आगया। बुद्धिमतीने प्रतिदिनकी तरह आज भी भगवान्‌के सामने खड़ी होकर आलोचना की। राजाने वह सब सुनलिया। सुनकर ही वह सीधा महल पर आया और अपनी सब रानियोंको उसने खूब ही फटकारा—धिक्कारा, और बुद्धिमतीको ही उनकी मालकिन—पट्टरानी बनाकर उन सबको उसकी सेवा करनेके लिए बाध्य किया।

जिस प्रकार बुद्धिमतीने अपनी आत्म-निन्दा की, उसी तरह अन्य बुद्धिवानों और क्षुल्लक आदिको भी जिन भगवान्‌के सामने भक्ति पूर्वक आत्मनिन्दा—पूर्वकर्मोंकी आलोचना करना उचित है।

उत्तम कुल और उत्तम सुखोंकी देनेवाली तथा और दुर्गतिके दुःखोंकी नाश करनेवाली जिन भगवान्‌की भक्ति मुझे भी मोक्षका सुख दे।

८५-आत्मनिन्दाकी कथा।

सब दोषोंके नाश करनेवाले और सुखके देनेवाले ऐसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर अपने बुरे कर्मोंकी निन्दा-आलोचना करनेवाली वीरा ब्राह्मणीकी कथा लिखी जाती है।

दुर्योधन जब अयोध्याका राजा था तबकी यह कथा है। यह राजा बड़ा न्यायी और बुद्धिमान् हुआ है। इसकी रानीका नाम श्रीदेवी था। श्रीदेवी बड़ी सुन्दरी और सच्ची पतिव्रता थी।

यहाँ एक सर्वोपाध्याय नामका ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्रीका नाम वीरा था। इसका चाल-चलन अच्छा न था। जवानीके जोरमें यह मस्त रहा करती थी। उपाध्यायके घर पर एक विद्यार्थी पढ़ा करता था। उसका नाम अग्निभूति था। वीरा ब्राह्मणीके साथ इसकी अनुचित प्रीति थी। ब्राह्मणी इसे बहुत चाहती थी। पर उपाध्याय इन दोनोंके

सुखका काँटा था। इसलिए ये मनमाना ऐशोआराम न कर पाते थे। ब्राह्मणीको यह बहुत खटका करता था। सो एक दिन मौका पाकर ब्राह्मणीने अपने पतिको मार डाला। और उसे मसानमें फैंक आनेको छत्रीमें छुपाकर अँधेरी रातमें वह घरसे निकली। मसानमें जैसे ही वह उपाध्यायके मुर्देको फैंकनेको तैयार हुई कि एक व्यन्तरदेवीने उसके ऐसे नीच कर्म पर गुस्सा होकर छत्रीको कील दिया और कहा—"सवेरा होने पर जब तू सारे शहरकी स्त्रियोंके घर-घर पर जाकर अपना यह नीच कर्म प्रगट करेगी—अपने कर्म पर पछतायेगी तब तेरे सिर परसे यह छत्री गिरेगी।" देवीके कहे अनुसार ब्राह्मणीने वैसा ही किया। तब कहीं उसका पीछा छूटा—छत्री सिरसे अलग हो सकी। इस आत्म-निन्दासे ब्राह्मणीका पापकर्म बहुत हलका हो गया—वह शुद्ध हुई। इसी तरह अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे प्रतिदिन होनेवाले बुरे कर्मोंकी गुरुओंके पास आलोचना किया करें। उससे उनका पाप नष्ट होगा और अपने आत्माको वे शुद्ध बना सकेंगे।

किसी पुरुषके शरीरमें काँटा लग गया और वह उससे बहुत कष्ट पा रहा है। पर जबतक वह काँटा उसके शरीरसे न निकलेगा तबतक वह सुखी नहीं हो सकता। इसलिए उस काँटेको निकाल फैंककर जैसे वह पुरुष सुखी होता है, उसी तरह जो आत्म-हितैषी जैनधर्मके बताये

सिद्धान्त पर चलनेवाले वीतरागी साधुओंकी शरण ले अपने आत्माको कष्ट पहुँचानेवाले पापकर्म रूपी काँटेको कृत-कर्मोंकी आलोचना द्वारा निकाल फैंकते हैं वे फिर कभी नाश न होनेवाली आत्मीक लक्ष्मीको प्राप्त करते हैं।

८६—सोमशर्म मुनिकी कथा।
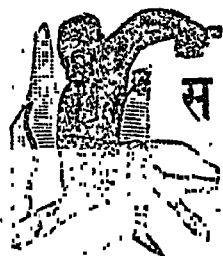
सर्वोत्तम धर्मका उपदेश करनेवाले जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर सोमशर्म मुनिकी कथा लिखी जाती है।

आलोचना, गर्हा, आत्मनिन्दा, व्रत, उपवास, स्तुति और कथाएँ इनके द्वारा प्रमाद्को—असावधानीको नाश करना चाहिए। जैसे मंत्र, औषधि—आदिसे विषका वेग नाश किया जाता है। इसी सम्बधकी यह कथा है।

भारतके किसी एक हिस्सेमें बसे हुए पुण्ड्रक देशके प्रधान शहर देवीकोटपुरमें सोमशर्म नामका ब्राह्मण हो चुका है। सोमशर्म वेद और वेदाङ्गका—व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, शिक्षा और कला—का अच्छा विद्वान् था। इसकी स्त्रीका नाम सोमिल्या था। इसके अग्निभूति और वायुभूति नामके दो लड़के थे।

यहाँ विष्णुदत्त नामका एक और ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्रीका नाम विष्णुश्री था। विष्णुदत्त अच्छा धनी था। पर स्वभावका अच्छा आदमी न था। किसी दिन कोई खास जरूरत पड़ने पर सोमशर्मने विष्णुदत्तसे कुछ रुपया कर्ज लिया था। उसका कर्ज अदा न कर पाया था कि एक दिन सोमशर्मको किसी जैनमुनिके धर्मोपदेशसे वैराग्य हो जानेसे वह मुनि हो गया। वहाँसे विहार कर वह कहीं अन्यत्र चला गया और दूसरे नगरों और गाँवोंमें धर्मका उपदेश करता हुआ एक बार फिर वह कोटपुरमें आया। विष्णुदत्तने तब उसे देखकर पकड़ लिया और कहा—साधुजी, आपके दोनों लड़के तो इस समय बड़ी दरिद्र दशामें हैं। उनके पास एक फूटी कौड़ी तक नहीं है। वे मेरा रुपया नहीं दे सकते। इसलिए या तो आप मेरा रुपया दे दीजिए, या अपना धर्म बेच दीजिए। सोमशर्म मुनिके सामने बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हुई। वे बड़ा घरे, इसकी उन्हें कुछ सूझ न पड़ी। तब उनके गुरु वीरभद्राचार्यने उनसे कहा—अच्छा तुम जाओ और अपना धर्म बेचो! उनकी आज्ञा पाकर सोम-शर्म मुनि मसानमें जाकर धर्म बेचने लगे। इस समय एक देवीने आकर उनसे पूछा—मुनिराज, जिस धर्मको आप बेच रहे हैं, भला, कहिए तो वह कैसा है? उत्तरमें मुनिने कहा—मेरा धर्म अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुणोंसे युक्त है तथा उत्तम-क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम,

तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य इन दश भेद रूप है। धर्मका यह स्वरूप श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। मुनि द्वारा अपने देने जानेवाले धर्मकी इस प्रकार व्याख्या सुनकर वह देवी बहुत प्रसन्न हुई। उसने मुनिको नमस्कार कर धर्मकी प्रशंसामें कहा—मुनिराज, आपने जो कहा वह बहुत ठीक है। यही धर्म संसारको वश करनेके लिए एक वशीकरण मंत्र है, अमूल्य चिन्तामणि है, सुखरूप अमृतकी धारा है, और मनचाही वस्तुओंके दुहने-देनेके लिए कामधेनु है। अधिक क्या, किन्तु यह समझना चाहिए कि संसारमें जो-जो मनोहरता देख पड़ती है वह सब एक धर्महीका फल है। धर्म एक सर्वोत्तम अमोल वस्तु है। उसका मोल हो ही नहीं सकता। पर मुनिराज, आपको इस ब्राह्मणका कर्ज चुकाना है। आपका यह उपसर्ग दूर हो, इसलिए दीक्षा समय लोंच किये आपके बालोंको उसे कर्जके बदले दिये देती हूँ। यह कहकर देवी उन बालोंको अपनी दैवी-मायासे चमकते हुए बहुमूल्य रत्न बनाकर आप अपने स्थान पर चलदी। सच है, जैन-धर्मका प्रभाव कौन वर्णन कर सकता है, जो कि सदा ही सुख देनेवाला और देवों द्वारा पूजा किया जाता है।

सवेरा होने पर विष्णुदत्त, सोमशर्म मुनिके तपका प्रभाव देख कर चकित रह गया। उसकी मुनि पर तब बड़ी श्रद्धा हो गई। उसने नमस्कार कर उनकी प्रशंसामें कहा—योगिराज, सचमुच आप बड़े ही भाग्यशाली हैं। आपके सरीखा विद्वान्

और धीर मैंने किसीको नहीं देखा। यह आपहीसे महात्मा-ओंका काम है जो मोहपाश तोड़-तुड़ाकर इस प्रकार दुःसह तपस्या कर रहे हैं। महाराज, आपकी मैं किन शब्दोंमें तारीफ करूँ, यह मुझे नहीं जान पड़ता। आपने तो अपने जीवनको सफल बना लिया। पर हाय! मैं पापी पापकर्मके उदयसे धनरूपी चोरों द्वारा ठगा गया। मैं अब इनके पैंचीले जालसे कैसे छूट सकूँगा। दयासागर, मुझे बचाइए। नाथ, अब तो मैं आपहीके चरणोंकी सेवा करूँगा। आपकी सेवाको ही अपना ध्येय बनाऊँगा। तब ही कहीं मेरा भला होगा। इस प्रकार बड़ी देरतक विष्णुदत्तने सोमशर्म मुनिकी स्तुति की। अन्तमें प्रार्थना कर उनसे दीक्षा ले वह मुनि हो गया। जो विष्णुदत्त एक ही दिन पहले मुनिकी इज्जत—प्रतिष्ठा बिगाड़नेको हाथ धोकर उनके पीछा पड़ा था, और मुनिको उपसर्ग कर जिसने पाप बाँधा था वही गुरुभक्तिसे स्वर्ग और मोक्षके सुखका पात्र हो गया। सच है, धर्मकी शरण ग्रहण कर सभी सुखी होते हैं। विष्णुदत्तके सिवा और भी बहुतेरे भव्यजन जैनधर्मका ऐसा प्रभाव देखकर जैनधर्मके प्रेमी हो गये और उस धनसे, जिसे देवीने मुनिके बालोंको रत्नोंके रूपमें बनाया था, कोटितीर्थ, नामका एक बड़ा ही सुन्दर जिनमन्दिर बनवा दिया, जिसमें धर्म साधन कर भव्यजन सुख-शान्ति लाभ करते थे।

जो बुद्धिरूपी धनके मालिक-बड़े विचारशील साधु-सन्त जिन भगवान्के द्वारा उपदेश किये, सारे संसारमें पूजे-माने जानेवाले, स्वर्ग-मोक्षके या और सब प्रकार सांसारिक सुखके कारण, संसारका भय मिटानेवाले ऐसे परम पवित्र तपको भक्तिसे ग्रहण करते हैं वे कभी नाश न होनेवाले मोक्षका सुख लाभ करते हैं। ऐसे महात्मा योगिराज मुझे भी आत्मीक सच्चा सुख दें।

८७-कालाध्ययनकी कथा।

जिनका ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है, और संसार-समुद्रसे पार करनेवाला है, उन जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर उचित कालमें शास्त्राध्ययन कर जिसने फल प्राप्त किया उसकी कथा लिखी जाती है।

जैनतत्वके विद्वान् वीरभद्र मुनि एक दिन सारी रात शास्त्राभ्यास करते रहे। उन्हें इस हालतमें देखकर श्रुतदेवी एक अहीरनीका वेष लेकर उनके पास आई। इसलिए कि मुनिको इस बातका ज्ञान हो जाय कि यह समय शास्त्रोंके पढ़ने पढ़ानेका नहीं है। देवी अपने सिर पर छाछकी

एक मटकी रखकर और यह कहती हुई, कि लो, मेरे पास बहुत ही मीठी छाछ है, मुनिके चारों ओर घूमने लगी। मुनिने तब उसकी ओर देखकर कहा—अरी, तू बड़ी बेसमझ जान पड़ती है, कहीं पगली तो नहीं हो गई है! बतला तो भले एकान्त स्थानमें और सो भी रातमें कौन तेरी छाछ खरीदेगा? उत्तरमें देवीने कहा—महाराज क्षमा कीजिए। मैं तो पगली नहीं हूँ; किन्तु मुझे आप ही पागल देख पड़ते हैं। नहीं तो ऐसे असमयमें, जिसमें पठन-पाठनकी मना है, आप क्यों शास्त्राभ्यास करते? देवीका उत्तर सुनकर मुनिजीकी आँखें खुलीं। उन्होंने आकाशकी ओर नजर उठाकर देखा तो उन्हें तारे चमकते हुए देख पड़े। उन्हें मालूम हुआ कि अभी बहुत रात है। तब वे पढ़ना छोड़कर सोगये।

सवेरा होने पर वे अपने गुरु महाराजके पास गये और अपनी इस क्रियाकी आलोचना कर उनसे उन्होंने प्रायश्चित्त लिया। अबसे वे शास्त्राभ्यासका जो काल है उसीमें पठन-पाठन करने लगे। उन्हें अपनी गलतीका सुधार किये देखकर देवी उनसे बहुत खुश हुई। बड़ी भक्तिसे उसने उनकी पूजा की। सच है, गुणवानोंकी सभी पूजा करते हैं।

इस प्रकार दर्शन, ज्ञान, और चारित्रका यथार्थ पालन कर वीरभद्र मुनिराज अन्त समयमें धर्म-ध्यानसे मृत्यु लाभ कर स्वर्गधाम सिधारे।

भव्यजनोंको भी उचित है कि वे जिन भगवान्के उप-देश किये, संसारको अपनी महत्तासे मुग्ध करनेवाले, स्वर्ग या मोक्षकी सर्वोच्च सम्पदाको देनेवाले, दुःख, शोक, कलंक आदि आत्मा पर लगे हुए कीचड़को धो-देनेवाले, संसारके पदार्थोंका ज्ञान करानेमें दीयेकी तरह काम देने-वाले और सब प्रकारके सांसारिक सुखके आनुषङ्गिक कारण ऐसे पवित्र ज्ञानको भक्तिसे प्राप्त कर मोक्षका अवि-नाशी सुख लाभ करें।

८८-अकालमें शास्त्राभ्यास करनेवालेकी कथा।
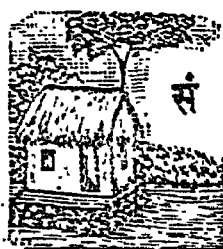
संसार द्वारा पूजे जानेवाले और केवलज्ञान जिनका प्रकाशमान नेत्र है, ऐसे जिन भगवान्को नमस्कार कर असमयमें-जो शास्त्राभ्यासके लिए योग्य नहीं है, शास्त्राभ्यास करनेसे जिन्हें उसका बुरा फल भोगना पड़ा, उनकी कथा लिखी जाती है। इसलिए कि विचार शीलोंको इस बातका ज्ञान हो कि असमयमें शास्त्राभ्यास करना अच्छा नहीं है-उसका बुरा फल होता है।

शिवनन्दी मुनिने अपने गुरु द्वारा यद्यपि यह जान रक्खा था कि स्वाध्यायका समय-काल श्रवण नक्षत्रका उदय

होनेके वाद माना गया है, तथापि कर्मोंके तीव्र उदयसे वे अकालमें ही शास्त्राभ्यास किया करते थे। फल इसका यह हुआ कि मिथ्या समाधिमरण द्वारा मरकर उन्होंने गंगामें एक बड़े भारी मच्छकी पर्याय धारण की। सो ठीक ही है जिन भगवान्‌की आज्ञाका उल्लंघन करनेसे इस जीवको दुर्गतिके दुःख भोगना ही पड़ते हैं।

एक दिन नदीकिनारे पर एक मुनि शास्त्राभ्यास कर रहे थे। इस मच्छने उनके पाठको सुन लिया। उससे उसे जातिस्मरण हो गया। तव उसने इस वातका वहुत पछतावा किया कि—हाय! मैं पढ़कर भी मूर्ख वना रहा, जो जैनधर्मसे विमुख होकर मैंने पापकर्म वाँधा। उसीका यह फल है, जो मुझे मच्छ-शरीर लेना पड़ा। इस प्रकार अपनी निन्दा और अपने पापकर्मकी आलोचना कर उसने भक्तिसे सम्यक्त्व ग्रहण किया, जो कि सव जीवोंका हित करनेवाला है। इसके वाद वह जिन भगवान्‌की आराधना कर पुण्यके उदयसे स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। सच है, मनुष्य धर्मकी आराधना कर स्वर्ग जाता है और पापी धर्मसे उलटा चलकर दुर्गतिमें जाता है। पहला सुख भोगता है और दूसरा दुःख उठाता है। यह जानकर वुद्धिवानोंको उचित है—उनका कर्त्तव्य है कि वे जिनेन्द्र भगवान्‌के उपदेश किये धर्मकी भक्तिसे अपनी शक्तिके अनुसार आराधना करें, जो कि सव सुखोंका देनेवाला है।

सम्यग्ज्ञान जिसने प्राप्त कर लिया उसकी सारे संसारमें कीर्त्ति होती है, सब प्रकारकी उत्तम उत्तम सम्पदाएँ उसे प्राप्त होती हैं, शान्ति मिलती है और वह पवित्रताकी साक्षात्प्रतिमा बन जाता है। इसलिए भव्यजनोंको उचित है कि वे जिन भगवान्के पवित्र ज्ञानको, जो कि देवों और विद्याधरों द्वारा पूजा-माना जाता है, प्राप्त करनेका यत्न करें।

८९-विनयी पुरुषकी कथा।

न्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्त्ती आदि महा पुरुषों द्वारा पूजे जानेवाले जिन भगवान्को नमस्कार कर विनयधर्मके पालनेवाले मनुष्यकी पवित्र कथा लिखी जाती है।

वत्सदेशमें सुप्रसिद्ध कौशाम्बीके राजा धनसेन बैष्णव धर्मके माननेवाले थे। उनकी रानी धनश्री, जो बहुत सुन्दरी और विदुषी थी, जिनधर्म पालती थी। उसने श्रावकोंके व्रत ले रक्खे थे। यहाँ सुप्रतिष्ठ नामका एक वैष्णव साधु रहता था। राजा इसका बड़ा आदर-सत्कार करते थे और यही कारण था कि राजा इसे स्वयं ऊँचे आसन बैठाकर भोजन कराते थे। इसके पास एक जलस्तंभिनी नामकी विद्या थी। उससे यह बीच यमुनामें खड़ा रहकर ईश्वराराधना

किया करता था, पर डूबता न था। इसके ऐसे प्रभावको देखकर मूढ़ लोग बड़े चकित होते थे। सो ठीक ही है मूर्खों-को ऐसी मूर्खताकी क्रियाएँ पसन्द हुआ ही करती हैं।

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें बसे हुए रथनूपुरके राजा विद्युत्प्रभ तो जैनी थे, श्रावकोंके व्रतोंके पालने-वाले थे और उनकी रानी विद्युद्वेगा वैष्णव धर्मकी मानने-वाली थी। सो एक दिन ये राजा-रानी प्रकृतिकी सुन्दरता देखते और अपने मनको बहलाते कौशम्बीकी ओर आगये। नदी-किनारे पहुँच कर इन्होंने देखा कि एक साधु बीच यमुनामें खड़ा रहकर तपस्या कर रहा है। विद्युत्प्रभने जान लिया कि यह मिथ्यादृष्टि है। पर उनकी रानी विद्युद्वेगाने उस साधुकी बहुत प्रशंसा की। तब विद्युत्प्रभने रानीसे कहा—अच्छी बात है, प्रिये, आओ तो मैं तुम्हें जरा इसकी मूर्खता बतलाता हूँ। इसके बाद ये दोनों चाण्डालका वेष बना ऊपर किनारेकी ओर गये और मरे ढोरोंका चमड़ा नदीमें धोने लगे। अपने इस निन्द्य कर्म द्वारा इन्होंने जलको अपवित्र कर दिया। उस साधुको यह बहुत बुरा लगा। सो वह इन्हें कुछ कह सुनकर ऊपरकी ओर चला गया। वहाँ उसने फिर नहाया धोया। सच है मूर्खताके वश लोग कौन काम नहीं करते। साधुकी यह मूर्खता देखकर ये भी फिर और आगे जाकर चमड़ा धोने लगे। इनकी बार बार यह शैतानी देखकर साधुको बड़ा गुस्सा

आया। तब वह और आगे चला गया। इसके पीछे ही ये दोनों भी जाकर फिर अपना काम करने लगे। गर्ज यह कि इन्होंने उस साधुको वहुत ही कष्ट दिया। तब हार खाकर बेचारेको अपना जप-तप, नाम-ध्यान ही छोड़ देना पड़ा। इसके वाद उस साधुको इन्होंने अपनी विद्याके बलसे वनमें एक बड़ा भारी महल खड़ा कर देना, झूला बनाकर उस पर झूलना, आदि अनेक अचंभेमें डालनेवाली बातें बतलाई। उन्हें देखकर सुप्रतिष्ठ साधु बड़ा चकित हुआ। वह मनमें सोचने लगा कि जैसी विद्या इन चाण्डालोंके पास है ऐसी तो अच्छे अच्छे विद्याधरों या देवोंके पास भी न होगी। यदि यही विद्या मेरे पास भी होती तो मैं भी इनकी तरह बड़ी मौज मारता। अस्तु, देखे इनके पास जाकर मैं कहूँ कि ये अपनी विद्या मुझे भी देदें। इसके वाद वह इनके पास आया और उनसे बोला—आप लोग कहाँसे आ रहे हैं? आपके पास तो लोगोंको चकित करनेवाली बड़ी बड़ी करामातें हैं! आपका यह विनोद देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उत्तरमें विद्युत्प्रभ विद्याधरने कहा—योगीजी, आप मुझे नहीं जानते कि मैं चाण्डाल हूँ! मैं तो अपने गुरु महाराजके दर्शनके लिए यहाँ आया हुआ था। गुरुजीने खुश होकर मुझे जो विद्या दी है, उसीके प्रभावसे यह सब कुछ मैं करता हूँ। अब तो साधुजीके मुँहमें भी विद्यालाभके लिए पानी आ गया। उन्होंने

तब उस चाण्डाल रूपधारी विद्याधरसे कहा—तो क्या कृपा करके आप मुझे भी यह विद्या दे सकते हैं, जिससे कि मैं भी फिर आपकी तरह खुशी मनाया करूँ। उत्तरमें विद्याधरने कहा—भाई, विद्याके देनेमें तो मुझे कोई हर्ज मालूम नहीं देता, पर बात यह है कि मैं ठहरा चाण्डाल और आप वेदवेदाङ्गके पढ़े हुए एक उत्तम कुलके मनुष्य, तब आपका मेरा गुरु-शिष्य भाव नहीं बन सकता। और ऐसी हालतमें आपसे मेरा विनय भी न हो सकेगा और विना विनयके विद्या आ नहीं सकती। हाँ यदि आप यह स्वीकार करें कि जहाँ मुझे देख पावें वहाँ मेरे पाँवोंमें पड़कर बड़ी भक्तिसे [illegible] कि प्रभो, आपहीकी चरणकृपासे मैं जीता हूँ। तब तो मैं आपको विद्या दे सकता हूँ और तभी विद्या सिद्ध हो सकती है। विना ऐसा किये सिद्ध हुई विद्या भी नष्ट हो जाती है। उस साधुने ये सब बातें स्वीकार करलीं। तब विद्युत्प्रभ विद्याधर इसे विद्या देकर अपने घर चला गया।

इधर सुप्रतिष्ठ साधुको जैसे ही विद्या सिद्ध हुई, उसने उन सब लीलाओंको करना शुरू किया जिन्हें कि विद्याधरने किया था। सब बातें वैसी ही हुई देखकर सुप्रतिष्ठ बड़ा खुश हुआ। उसे विश्वास हो गया कि अब मुझे विद्या सिद्ध हो गई। इसके बाद वह भोजनके लिए राजमहल आया। उसे देरसे आया हुआ देखकर राजाने पूछा—भगवन्,

आज आपको बड़ी देर लगी ? मैं बड़ी देरसे आपका रास्ता देख रहा हूँ। उत्तरमें सुमतिष्ठने मायाचारीसे झूठ-मूठ ही कह दिया कि—राजन्, आज मेरी तपस्याके प्रभावसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सब देव आये थे। वे बड़ी भक्तिसे मेरी पूजा करके अभी गये हैं। यही कारण मुझे देरी लग जानेका है। और राजन्, एक बात नई यह हुई कि मैं अब आकाशमें ही चलने-फिरने लग गया। सुनकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और साथहीमें यह सब कौतुक देखनेकी उसकी मंशा हुई। उसने तब सुप्रतिष्ठसे कहा—अच्छा तो महाराज, अब आप आइए और भोजन कीजिए। क्योंकि बहुत देर हो चुकी है। आप वह सब कौतुक मुझे बतलाइएगा। सुप्रतिष्ठ 'अच्छी बात है' कहकर भोजनके लिए चला आया।

दूसरे दिन सवेरा होते ही राजा और उसके अमीर-उमराव वगैरह सभी सुप्रतिष्ठ साधुके मठमें उपस्थित हुए। दर्शकोंका भी ठठ लग गया। सबकी आँखें और मन साधुकी ओर जा लगे कि वह अपना नया चमत्कार बतलावें। सुप्रतिष्ठ साधु भी अपनी करामात बतलानेको आरंभ करनेवाला ही था कि इतनेमें वह विद्युत्प्रभ विद्याधर और उसकी स्त्री उसी चाण्डाल वेषमें वहीं आ धमके। सुप्रतिष्ठके देवता उन्हें देखते ही कूँच कर गये। ऐसे समय उनके आजानेसे इसे उन पर बड़ी घृणा हुई। उसने मन ही मन घृणाके साथ कहा—ये दुष्ट इस समय क्यों चले आये। उसका यह कहना था कि उसकी विद्या

नष्ट हो गई । वह राजा वगैरहको अब कुछ भी चमत्कार न बतला सका और बड़ा शर्मिन्दा हुआ । तब राजाने 'ऐसा एक साथ क्यों हुआ' इसका सब कारण सुप्रतिष्ठसे पूछा । झख मारकर फिर उसे सब बातें राजासे कह देनी पड़ीं । सुनकर राजाने उन चाण्डालोंको बड़ी भक्तिसे प्रणाम किया । राजाकी यह भक्ति देखकर उन्होंने वह विद्या राजाको देदी । राजा उसकी परीक्षा कर बड़ी प्रसन्नतासे अपने महल लौट गया । सो ठीक ही है विद्याका लाभ सभीको सुख देनेवाला होता है ।

राजाकी भी परीक्षाका समय आया । विद्याप्राप्तिके कुछ दिनों बाद एक दिन राजा राज-दरबारमें सिंहासन पर बैठा हुआ था । राजसभा सब अमीर-उमरावोंसे ठसा-ठस भरी हुई थी । इसी समय राजगुरु चाण्डाल वहाँ आया, जिसने कि राजाको विद्या दी थी । राजा उसे देखते ही बड़ी भक्तिसे सिंहासन परसे उठा और उसके सत्कारके लिए कुछ आगे बढ़कर उसने उसे नमस्कार किया और कहा—प्रभो, आपहीके चरणोंकी कृपासे मैं जीता हूँ । राजाकी ऐसी भक्ति और विनयशीलता देखकर विद्युत्प्रभ बड़ा खुश हुआ । उसने तब अपना खास रूप प्रगट किया और राजाको और भी कई विद्याएँ देकर वह अपने घर चला गया । सच है, गुरुओंके विनयसे लोगोंको सभी सुन्दर सुन्दर वस्तुएँ प्राप्त होती हैं ।

इस आश्चर्यको देखकर धनसेन, विद्युद्वेगा तथा और भी बहुतसे लोगोंने श्रावक-व्रत स्वीकार किये । विनयका इस

प्रकार फल देखकर अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे गुरुओंका विनय, भक्ति और निर्मल भावोंसे करें।

जो गुरुभक्ति क्षणमात्रमें कठिनसे कठिन कामको पूरा कर देती है वही भक्ति मेरी सब क्रियाओंकी भूषण बने। मैं उन गुरुओंको नमस्कार करता हूँ कि जो संसार-समुद्रसे स्वयं तैरकर पार होते हैं और साथ ही और और भव्य जनोंको पार करते हैं।

जिनके चरणोंकी पूजा देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि बड़े बड़े महापुरुष करते हैं उन जिन भगवान्‌का, उनके रचे पवित्र शास्त्रोंका और उनके बताये मार्ग पर चलनेवाले मुनिराजोंका जो हृदयसे विनय करते हैं—उनकी भक्ति करते हैं उनके पास कीर्ति, सुन्दरता, उदारता, सुख-सम्पत्ति और ज्ञान-आदि पवित्र गुण अत्यन्त पड़ोसी होकर रहते हैं। अर्थात् विनयके फलसे उन्हें सब गुण प्राप्त होते हैं।

१०-अवग्रह-नियम लेनेवालेकी कथा।

पुण्यके कारण जिन भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर उपधान-अवग्रहकी अर्थात् यह काम जबतक न होगा तबतक मैं ऐसी प्रतिज्ञा करता हूँ, इस प्रकारका नियम कर जिसने फल प्राप्त किया, उसकी कथा लिखी जाती है, जो सुखकी देनेवाली है।

अहिछत्र पुरके राजा वसुपाल बड़े बुद्धिमान् थे। जैनधर्म पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। उनकी रानीका नाम वसुमती था। वसुमती भी अपने स्वामीके अनुरूप बुद्धिमती और धर्म पर प्रेम करनेवाली थी। वसुपालने एक बड़ा ही विशाल और सुन्दर 'सहस्रकूट' नामका जिनमन्दिर बनवाया। उसमें उन्होंने श्रीपार्श्वनाथ भगवानकी प्रतिमा विराजमान् की। राजाने प्रतिमा पर लेप चढ़ानेको एक अच्छे हुशियार चित्रकारको बुलाया और प्रतिमा पर लेप चढ़ानेको उससे कहा। राजाज्ञा पाकर चित्रकारने प्रतिमा पर बहुत सुन्दरतासे लेप चढ़ाया। पर रात होने पर वह लेप प्रतिमा परसे गिर पड़ा। दूसरे दिन फिर ऐसा ही किया गया। रातमें वह लेप भी गिर पड़ा। गर्ज यह कि वह दिनमें लेप लगाता और रातमें वह गिर पड़ता। इस तरह उसे कई दिन बीत गये। ऐसा क्यों होता है, इसका उसे कुछ भी कारण न जान पड़ा। उससे वह तथा राजा वगैरह बड़े दुखी हुए। बात असलमें यह थी कि वह लेपकार मांस खानेवाला था। इसलिए उसकी अपवित्रतासे प्रतिमा पर लेप न ठरहता था। तब उस लेपकारको एक मुनि द्वारा ज्ञान हुआ कि प्रतिमा अतिशयवाली है—कोई शासनदेवी या देव उसकी रक्षामें सदा नियुक्त रहते हैं। इसलिए जबतक यह कार्य पूरा हो तब तक तुझे मांसके न खानेका व्रत लेना चाहिए। लेपकारने वैसा ही किया। मुनिराजके पास उसने मांस न खानेका नियम लिया। इसके बाद जब उसने दूसरे दिन लेप

किया तो अबकी बार वह ठहर गया। सच है, व्रती पुरुषोंके कार्यकी सिद्धि होती ही है। तब राजाने अच्छे अच्छे वस्त्राभूषण देकर चित्रकारका बड़ा आदर-सत्कार किया। जिस तरह इस लेपकारने अपने कार्यकी सिद्धिके लिए नियम किया उसी प्रकार और और लोगोंको तथा मुनियोंको भी ज्ञानप्रचार, शासन-प्रभावना आदि कामोंमें अवग्रह या प्रतिज्ञा करना चाहिए।

वह जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश किया ज्ञानरूपी समुद्र मुझे भी केवलज्ञानी-सर्वज्ञ बनावे, जो अत्यन्त पवित्र साधुओं द्वारा आत्म-सुखकी प्राप्तिके लिए सेवा किया जाता है और देव, विद्याधर, चक्रवर्त्ती आदि बड़े बड़े महापुरुष जिसे भक्तिसे पूजते हैं।

९१-अभिमान करनेवालीकी कथा।

निर्मल केवलज्ञानके धारी जिन भगवान्को नमस्कार कर मान करनेसे बुरा फल प्राप्त करनेवालेकी कथा लिखी जाती है। इस कथाको सुनकर जो लोग मानके छोड़नेका यत्न करेंगे वे सुख लाभ करेंगे।

बनारसके राजा वृषभध्वज प्रजाका हित चाहनेवाले और

बड़े बुद्धिमान् थे। इनकी रानीका नाम वसुमती था। वसुमती बड़ी सुन्दरी थी। राजाका इस पर अत्यन्त प्रेम था।

गंगाके किनारे पर पलास नामका एक गाँव बसा हुआ था। इसमें अशोक नामका एक गुवाल रहता था। यह गुवाल राजाको गाँवके लगानमें कोई एक हजार घीके भरे घड़े दिया करता था। इसकी स्त्री नन्दा पर इसका प्रेम न था। इसलिए कि वह बाँझ थी। और यह सच है, सुन्दर या गुणवान् स्त्री भी विना पुत्रके शोभा नहीं पाती है और न उस पर पतिका पूरा प्रेम होता है। वह फल रहित लताकी तरह निष्फल समझी जाती है। अपनी पहली स्त्रीको निस्सन्तान देखकर अशोक गुवालने एक और व्याह कर लिया। इस नई स्त्रीका नाम सुनन्दा था। कुछ दिनों तक तो इन दोनों सौतोंमें लोक-लाजसे पटती रही, पर जब बहुत ही लड़ाई-झगड़ा होने लगा तब अशोकने इनसे तँग आकर अपनी जितनी धन-सम्पत्ति थी उसे दोनोंके लिए आधी आधी बाँट दिया। नन्दाको अलग घरमें रहना पड़ा और सुनन्दा अशोकके पास ही रही। नन्दामें एक बात बड़ी अच्छी थी। वह एक तो समझदार थी। दूसरे वह अपने दूध दुहनेके लिए बरतन वगैरहको बड़ा साफ रखती। उसे सफाई बड़ी पसन्द थी। इसके सिवा वह अपने नौकर गुवालों पर बड़ा प्रेम करती। उन्हें अपना नौकर न समझ अपने कुटुम्बकी तरह मानती। वह उनका बड़ा आदर-सत्कार करती। उन्हें हर एक त्यौहारोंके मौकों पर

दान-मानादिसे बड़ा खुश रखती। इसलिए वे गुवाल लोग भी उसे बहुत चाहते थे और उसके कामोंको अपना ही समझकर किया करते थे। जब वर्ष पूरा होता तो नन्दा राजलगानके हजार घीके घड़ोंमेंसे अपना आधा हिस्सा पाँचसौ घड़े अपने स्वामीको प्रतिवर्ष दे-दिया करती थी। पर सुनन्दामें ये सब बातें न थीं। उसे अपनी सुन्दरताका बड़ा अभिमान था। इसके सिवा वह बड़ी शौकीन थी। साज-सिंगारमें ही उसका सब समय चला जाता था। वह अपने हाथोंसे कोई काम करना पसन्द न करती थी। सब नौकर-चाकरों द्वारा ही होता था। इस पर भी उसका अपने नौकरोंके साथ अच्छा बरताव न था। सदा उनके साथ वह माथा-फौड़ी किया करती थी। किसीका अपमान करती, किसीको गालियाँ देती और किसीको भला-बुरा कहकर झिटकारती। न वह उन्हें कभी त्योंहारों पर कुछ दे-लेकर प्रसन्न करती। गर्ज यह कि सब नौकर-चाकर उससे प्रसन्न न थे। जहाँतक उनका बस चलता वे भी सुनन्दाको हानि पहुँचानेका यत्न करते थे। यहाँ तक कि वे जो गायोंको चराने जंगलमें ले जाते, सो वहाँ उनका दूध तक दुहकर पी-लिया करते थे। इससे सुनन्दाके यहाँ पहले वर्षमें ही घी बहुत थोड़ा हुआ। वह राजलगानका अपना आधा हिस्सा भी न दे सकी। उसके इस आधे हिस्सेको भी बेचारी नन्दाने ही चुकाया। सुनन्दाकी यह दशा देखकर अशोकने उसे घरसे निकाल बाहर की। सुन-

न्दाको अपना गया अधिकार पीछा प्राप्त हुआ । पुण्यसे वह पीछी अशोककी प्रेमपात्र हुई । घर बार, धन-दौलतकी वह मालकिन हुई । जिस प्रकार नन्दा अपने घरगिरिस्तीके कामको अच्छी तरह चलानेके लिए सदा दान-मानादि किया करती उसी प्रकार अपने पारमार्थिक कामोंके लिए भव्यजनोंको भी अभिमान रहित होकर जैनधर्मकी उन्नतिके कार्योंमें दान-मानादि करते रहना चाहिए । उससे वे सुखी होंगे और सम्यग्ज्ञान लाभ करेंगे ।

जो स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाले जिन भगवान्की बड़ी भक्तिसे पूजा-प्रभावना करते हैं, भगवान्के उपदेश किये शास्त्रोंके अनुसार चल उनका सत्कार करते हैं, पवित्र जैन-धर्म पर श्रद्धा-विश्वास करते हैं, और सज्जन धर्मात्माओंका आदर-सत्कार करते हैं वे संसारमें सर्वोच्च यश लाभ करते हैं और अन्तमें कर्मोंका नाश कर परम पवित्र केवलज्ञान-कभी नाश न होनेवाला सुख प्राप्त करते हैं ।

९२—निह्नव-असल बातको छुपानेवालेकी कथा ।

जिनके सर्व-श्रेष्ठ ज्ञानमें यह सारा संसार परमाणुके समान देख पड़ता है, उन सर्वज्ञ भगवान्को नमस्कार कर निह्नव—जिस प्रकार जो बात हो उसे उसी प्रकार न कहना—उसे छुपाना, इस सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है ।

उज्जैनके राजा धृतिषेणकी रानी मलयावतीके चण्डप्रद्योत नामका एक पुत्र था । वह जैसा सुन्दर था वैसा ही गुणवान् भी था । पुण्यके उदयसे उसे सभी सुखसामग्री प्राप्त थी।

एक बार दक्षिण देशके वेनातट नगरमें रहनेवाले सोमशर्मा ब्राह्मणका कालसंदीव नामका विद्वान् पुत्र उज्जैनमें आया। वह कई भाषाओंका जाननेवाला था । इसलिए धृतिषेणने चण्डप्रद्योतको पढ़ानेके लिए उसे रख लिया। कालसंदीवने चण्डप्रद्योतको कई भाषाओंका ज्ञान कराये बाद एक म्लेच्छ-अनार्यभाषाको पढ़ाना शुरू किया। इस भाषाका उच्चारण बड़ा ही कठिन था । राजकुमारको उसके पढ़नेमें बहुत दिक्कत पड़ा करती थी । एक दिन कोई ऐसा ही पाठ आया, जिसका उच्चारण बहुत क्लिष्ट था। राजकुमारसे उसका ठीक ठीक उच्चारण न बन सका। कालसन्दीवने उसे शुद्ध उच्चारण करानेकी बहुत कोशिश की, पर उसे सफलता प्राप्त न हुई । इससे कालसंदीवको कुछ गुस्सा आगया । गुस्सेमें आकर उसने राजकुमारको एक लात मारदी । चण्डप्रद्योत था तो राजकुमार ही सो उसका भी कुछ मिजाज बिगड़ गया । उसने अपने गुरु-महाराजसे तब कहा-अच्छा महाराज, आपने जो मुझे मारा है, मैं भी इसका बदला लिये बिना न छोड़ूँगा । मुझे आप राजा होने दीजिए, फिर देखिएगा कि मैं भी आपके इसी पाँवको काटकर ही रहूँगा । सच है, बालक कम-बुद्धि

हुआ ही करते हैं। कालसन्दीव कुछ दिनोंतक और यहाँ रहा, फिर वह यहाँसे दक्षिणकी ओर चल गया। उधर कालसन्दीवको एक दिन किसी मुनिका उपदेश सुननेका मौका मिला। उपदेश सुनकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ। वह मुनि हो गया।

इधर धृतिषेण राजा भी चण्डप्रद्योतको सब राज-काज सौंपकर साधु बन गया। राज्यकी बागडोर चण्डप्रद्योतके हाथमें आई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चण्डप्रद्योतने भी राज्यशासन बड़ी नीतिके साथ चलाया। प्रजाके हितके लिए उसने कोई बात उठा न रक्खी।

एक दिन चण्डप्रद्योत पर एक यवनराजका पत्र आया। भाषा उसकी अनार्य थी। उस पत्रको कोई राजकर्मचारी न बाँच सका। तब राजाने उसे देखा तो वह उससे बँच गया। पत्र पढ़कर राजाकी अपने गुरु कालसन्दीव पर बड़ी भक्ति हो गई। उसने बचपनकी अपनी की प्रतिज्ञाको उसी समय हृदये भुला दिया। इसके बाद राजाने कालसन्दीवका पता-लगाकर उन्हें अपने शहर बुलाया और बड़ी भक्तिसे उनके चरणोंकी पूजा की। सच है, गुरुओंके वचन भव्यजनों-को उसी तरह सुख देनेवाले होते हैं जैसे रोगीको औषधि।

कालसन्दीव मुनि यहाँ श्वेतसन्दीव नामके किसी एक भव्यको दीक्षा देकर फिर विहार कर गये। मार्गमें पड़नेवाले शहरों और गाँवोंमें उपदेश करते हुए वे विपुलाचल पर

महावीर भगवान्के समवशरणमें गये, जो कि बड़ी शान्ति-
का देनेवाला था। भगवान्के दर्शन कर उन्हें बहुत शान्ति
मिली। वन्दना कर भगवान्का उपदेश सुननेके लिए वे वहीं
बैठ गये।

श्वेतसन्दीव मुनि भी इन्हींके साथ थे। वे आकर समव-
शरणके बाहर आतापन योग द्वारा तप करने लगे। भगवा-
न्के दर्शन कर जब महामण्डलेश्वर श्रेणिक जाने लगे तब
उन्होंने श्वेतसन्दीव मुनिको देखकर पूछा—आपके गुरु कौन
हैं—किनसे आपने यह दीक्षा ग्रहण की? उत्तरमें श्वेतसंदीव
मुनिने कहा—राजन्, मेरे गुरु श्रीवर्द्धमान् भगवान् हैं। इतना
कहना था कि उनका सारा शरीर काला पड़ गया। यह देख
श्रेणिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पीछे जाकर गणधर
भगवान्से इसका कारण पूछा। उन्होंने कहा—श्वेतसन्दीवके
असल गुरु हैं कालसंदीव, जो कि यहीं बैठे हुए हैं।
उनका इन्होंने निह्नव किया—सच्ची बात न बतलाई। इस
लिए उनका शरीर काला पड़ गया है। तब श्रेणिकने श्वेत-
संदीवको समझा कर उनकी गलती उन्हें सुझाई. और कहा—
उसमराज, आपकी अवस्थाके योग्य ऐसी बातें नहीं हैं। ऐसी
महाराजस पाप-बंध होता है। इसलिए आगेसे आप कभी
है, मैं भी इसके। यह मेरी आपसे प्रार्थना है। श्रेणिककी इस
राजा होने दीजिए, मुनिके चित पर बड़ा गहरा असर
इसी पाँवको काटकर ही २५ बहुत पछताये। इस आलोचना-

से उनके परिणाम बहुत उन्नत हुए। यहाँतक कि उसी समय शुक्लध्यान द्वारा कर्मोंका नाशकर लोकालोकका प्रकाशक केवलज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया । वे सारे संसार द्वारा अब पूजे जाने लगे । अन्तमें अघातिया कर्मोंको नष्ट कर उन्होंने मोक्षका अनन्तसुख लाभ किया। श्वेतसंदीव मुनिके इस वृत्तान्तसे भव्यजनोंको शिक्षा लेनी चाहिए कि वे अपने गुरु आदिका निह्नव न करें—सच्ची बातके छिपानेका यत्न न करें। क्योंकि गुरु स्वर्ग-मोक्षके देनेवाले हैं, इसलिए सेवा करनेके योग्य हैं।

वे श्रीश्वेतसन्दीव मुनि मेरे बढ़ते हुए संसारकी—भव भ्रमणकी शान्ति कर—मेरा संसारका भटकना मिटाकर मुझे कभी नाश न होनेवाला और अनन्त मोक्ष-सुख दें, जो केवलज्ञानरूपी अपूर्व नेत्रके धारक हैं, भव्यजनोंको हितकी और लगानेवाले हैं, देव, विद्याधर, चक्रवर्त्ती आदि महा पुरुषों द्वारा पूज्य हैं, और अनन्तचतुष्टय—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यसे युक्त हैं तथा और भी अनन्त गुणोंके समुद्र हैं।

१३-अक्षरहीन अर्थकी कथा।

जिन भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर अक्षर-हीन अर्थकी कथा लिखी जाती है।

मगधदेशकी राजधानी राजगृहके राजा जब वीरसेन थे, उस समयकी यह कथा है। वीर-सेनकी रानीका नाम वीरसेना था। इनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम रक्खा गया सिंह। सिंहको पढ़ानेके लिए वीर-सेन महाराजने सोमशर्मा ब्राह्मणको रक्खा। सोमशर्मा सब विषयोंका अच्छा विद्वान् था।

पोदनापुरके राजा सिंहरथके साथ वीरसेनकी बहुत दिनोंसे शत्रुता चली आती थी। सो मौका पाकर वीरसेनने उस पर चढ़ाई करदी। वहाँसे वीरसेनने अपने यहाँ एक राज्य-व्यवस्थाकी बाबत पत्र लिखा। और और समाचारोंके सिवा पत्रमें वीरसेनने एक यह भी समाचार लिख दिया था कि राजकुमार सिंहके पठन-पाठनकी व्यवस्था अच्छी तरह करना। इसके लिए उन्होंने यह वाक्य लिखा था कि "सिंहो ध्यापयितव्यः"। जब यह पत्र पहुँचा तो इसे एक अर्धदग्धने बाँचकर सोचा-'ध्यै' धातुका अर्थ है स्मृति या चिन्ता करना। इसलिए इसका अर्थ हुआ कि 'राजकुमार पर अब राज्य-चिन्ताका भार डाला जाय'। उसे अब

पढ़ाना उचित नहीं। बात यह थी कि उक्त वाक्यके पृथक् पद करनेसे–' सिंहः अध्यापयितव्यः ' ऐसे पद होते हैं और इनका अर्थ होता है–सिंहको पढ़ाना, पर उस बाँचनेवाले अर्धदग्धने इस वाक्यके –' सिंहः ध्यापयितव्यः ' ऐसे पद समझकर इसके सन्धिस्थ अकार पर ध्यान न दिया और केवल ' ध्यै ' धातुसे बने हुए ' ध्यापयितव्यः ' का चिन्ता अर्थ करके राजकुमारका लिखना-पढ़ना छुड़ा दिया। व्याकरणके अनुसार तो उक्त वाक्यके दोनों ही तरह पद होते हैं और दोनों ही शुद्ध हैं, पर यहाँ केवल व्याकरणकी ही दरकार न थी। कुछ अनुभव भी होना चाहिए था। पत्र बाँचनेवालेमें इस अनुभवकी कमी होनेसे उसने राजकुमारका पठन-पाठन छुड़ा दिया। इसका फल यह हुआ कि जब राजा आये और अपने कुमारका पठन-पाठन छूटा हुआ देखा तो उन्होंने उसके कारणकी तलाश की। यथार्थ बात मालूम हो जाने पर उन्हें उस अर्धदग्ध–मूर्ख पत्र बाँचनेवाले पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने इस मूर्खताकी उसे बड़ी कड़ी सजा दी। इस कथासे भव्यजनोंको यह शिक्षा लेनी चाहिए कि वे कभी ऐसा प्रमाद न करें, जिससे कि अपने कार्यको किसी भी तरहकी हानि पहुँचे।

जिस प्रकार गुणहीन औषधिसे कोई लाभ नहीं होता–वह शरीरके किसी रोगको नहीं मिटा सकती, उसी तरह अक्षर

रहित शास्त्र या मंत्र वगैरह भी लाभ नहीं पहुँचा सकते। इसलिए बुद्धिमानोंको उचित है कि वे सदा शुद्ध रीतिसे शास्त्राभ्यास करें-उसमें किसी तरहका प्रमाद न करें, जिससे कि हानि होनेकी संभावना है।

९४-अर्थहीन वाक्यकी कथा।

गर्भ, जनम, तप, ज्ञान और निर्वाण ऐसे पाँचों कल्याणोंमें स्वर्गके देवोंने आकर जिनकी बड़ी भक्तिसे पूजा की, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर अर्थहीन अर्थात् उलटा अर्थ करनेके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

वसुपाल अयोध्याके राजा थे। उनकी रानीका नाम वसुमती था। इनके वसुमित्र नामका एक बुद्धिवान् पुत्र था। वसुपालने अपने पुत्रके लिखने-पढ़नेका भार एक गर्ग नामके विद्वान् पंडितको सौंपकर उज्जैनके राजा वीरदत्त पर चढ़ाई करदी। कारण वीरदत्त हर समय वसुपालका मानभंग किया करता था और उनकी प्रजाको भी कष्ट दिया करता था। वसुपाल उज्जैन आकर कुछ दिनोंतक शहरका घेरा डाले रहे। इस समय उन्होंने अपनी राज्य-व्यवस्थाके सम्बन्धका एक पत्र अयोध्या भेजा। उसीमें अपने पुत्रके बाबत उन्होंने लिखा—

" पुत्रोध्यापयितव्योसौ वसुमित्रोति सादरम् ।
शालिभक्तं मासिस्पृक्तं सर्पियुक्तं दिनं प्रति ॥
गर्गोपाध्यायकस्योच्चैर्दीयते भोजनाय च । "

इसका भाव यह है- ' वसुमित्रके पढ़ाने-लिखानेका प्रबन्ध अच्छा करना-कोई त्रुटि न करना और उसके पढ़ानेवाले पंडितजीको खाने पीनेकी कोई तकलीफ न हो-उन्हें घी, चावल, दूध-भात, वगैरह खानेको दिया करना।' पत्र पहुँचा। बाँचनेवालेने उसे ऐसा ही बाँचा । पर श्लोकमें " मसिस्पृक्तं एक शब्द है। इसका अर्थ करनेमें वह गलती

१—श्लोकमें 'मसिस्पृक्तं' शब्द है; उससे ग्रन्थकारका क्या मतलब है वह समझमें नहीं आता। पर वह ऐसी जगह प्रयोग किया गया है कि उसे " शालिभक्त " का विशेषण न किये गति ही नहीं है । आराधनाकथाकोशकी छन्दोबन्ध भाषा बनानेवाले पंडित बख्तावरमल उक्त श्लोकोंकी भाषा यों करते हैं—

" सुत वसुमित्र पढ़ाइयो नित्त, गर्गनाम पाठक जो पवित्त ।
ताको भोजन तंदुल घीव, लिखन हेत मसि देव सदीव ॥ "

पंडित बख्तावरमलजीने '.मसिस्पृक्तं' शब्दका अर्थ किया है-उपाध्यायको लिखनेको स्याही देना । यह उन्होंने कैसे ही किया हो, पर उस शब्दमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जिससे कि यह अर्थ किया जा सके। और यदि ग्रन्थकारका भी इसी अर्थसे मतलब हो तो कहना पड़ेगा कि उनकी रचनाशक्ति बड़ी ही शिथिल थी। हमारा यह विश्वास केवल इसी डेढ़ श्लोकसे ही ऐसा नहीं हुआ, किन्तु इतने बड़े ग्रन्थमें जगह जगह, श्लोक श्लोकमें ऐसी ही शिथिलता देख पड़ती है। हाँ यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थकारने इतना बड़ा ग्रन्थ बना जरूर लिया, पर हमारे विश्वासके अनुसार उन्हें ग्रन्थकी साहित्यसुन्दरता, रचना सुन्दरता-आदि बातोंमें बहुत थोड़ी भी सफलता शायद ही प्राप्त हुई हो। इस विषयका एक पृथक् लेख लिखकर हम पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करेंगे, जिससे वे हमारे कथनमें कितना तथ्य है, इसका ठीक ठीक पता पा सकेंगे ।

कर गया। उसने इसे 'शालिभक्तं' का विशेषण समझ यह अर्थ किया कि घी, दूध और मसि मिले चावल पंडितजीको खानेको देना। ऐसा ही हुआ। जब बेचारे पंडितजी भोजन करनेको बैठते तब चावलोंमें घी वगैरहके साथ थोड़ा कोयला भी पीसकर मिला दिया जाया करता था।

जब राजा विजय प्राप्त कर लौटे तब उन्होंने पंडितजीसे कुशल समाचार पूछा। उत्तरमें पंडितजीने कहा—राजाधिराज, आपके पुण्य प्रसादसे मैं हूँ तो अच्छी तरह, पर खेद है कि आपके कुल परम्पराकी रीतिके अनुसार मुझसे मसि–कोयला नहीं खाया जा सकता। इसलिए अब क्षमा कर आज्ञा दें तो बड़ी कृपा हो। राजाको पंडितजीकी बातका बड़ा अचंभा हुआ। उनकी समझमें न आया कि बात क्या

२–'मसि' का अर्थ स्याही प्रसिद्ध है। पं० बख्तावरमलजीने भी स्याही अर्थ किया है। पर ग्रन्थकार इसका अर्थ करते हैं–'कोयला'। देखिए—

मसिर्घृतं सुभक्तं च दीयते भोजनक्षणे।
चूर्णीकृत्य ततोऽङ्गारं घृतभक्तेन मिश्रितम्॥
दत्तं तस्मै इति।

स्याही काली होती है और कोयला भी काला, शायद इसी रंगकी समानतासे ग्रन्थकारने कोयलेकी जगह मसिका प्रयोग कर दिया होगा? पर है आश्चर्य! ग्रन्थकारने इस श्लोकमें मसि शब्दको अलग लिखा है, पर ऊपरके श्लोकमें आये हुए 'मसिस्पृक्तं' शब्दका ऐसा जुदा अर्थ किसी तरह नहीं किया जा सकता। ग्रन्थकारकी कमजोरीकी हद है, जो उनकी रचना इतनी शिथिल देख पड़ती है।

है। उन्होंने फिर उसका खुलासा पूछा। जब सब बातें उन्हें जान पड़ीं तब उन्होंने रानीसे पूछा—मैंने तो अपने पत्रमें ऐसी कोई बात न लिखी थी, फिर पंडितजीको ऐसा खाने-को दिया जाकर क्यों तंग किया जाता था? रानीने राजाके हाथमें उनका लिखा हुआ पत्र देकर कहा—आपके बाँचने-वालेने हमें यही मतलब समझाया था। इसलिए यह समझ-कर, कि ऐसा करनेसे राजा साहबका कोई विशेष मतलब होगा, मैंने ऐसी व्यवस्था की थी। सुनकर राजाको बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने पत्र बाँचनेवालेको उसी समय देश निका-लेकी सजा देकर उसे अपने शहर बाहर करवा दिया। इस लिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे लिखने-बाँचनेमें ऐसा प्रमादका अर्थ कर अनर्थ न करें।

यह विचार कर जो पवित्र आचरणके धारी और ज्ञान जिनका धन है ऐसे सत्पुरुष भगवान्के उपदेश किये हुए, पुण्यके कारण और यश तथा आनन्दको देनेवाले ज्ञान—सम्य-ग्ज्ञानके प्राप्त करनेका भक्तिपूर्वक यत्न करेंगे वे अनन्तज्ञान रूपी लक्ष्मीका सर्वोच्च सुख लाभ करेंगे।

९५-व्यंजनहीन अर्थकी कथा।

निर्मल केवलज्ञानके धारक श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर व्यंजनहीन अर्थ करनेवालेकी कथा लिखी जाती है।

कुरुजांगल देशकी राजधानी हस्तिनापुरके राजा महापद्म थे। ये बड़े धर्मात्मा और जिन भगवान्‌के सच्चे भक्त थे। इनकी रानीका नाम पद्मश्री था। पद्मश्री सरल स्वभाववाली थी, सुन्दरी थी और कर्मोंके नाश करनेवाले जिनपूजा, दान, व्रत, उपवास-आदि पुण्यकर्म निरन्तर किया करती थी। मतलब यह कि जिनधर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा थी।

सुरम्य देशके पोदनापुरका राजा सिंहनाद और महापद्ममें दिनोंकी शत्रुता चली आ रही थी। इसलिए मौका पाकर महापद्मने उस पर चढ़ाई करदी। पोदनापुरमें महापद्मने एक 'सहस्रकूट' नामसे प्रसिद्ध जिनमन्दिर देखा। मन्दिरकी हजार खंभोंवाली भव्य और विशाल इमारत देखकर महापद्म बड़े खुश हुए। इनके हृदयमें भी धर्मप्रेमका प्रवाह बहा। अपने शहरमें भी एक ऐसे ही सुन्दर मन्दिरके बनवानेकी इनकी भी इच्छा हुई। तब उसी समय इन्होंने अपनी राजधानीमें पत्र लिखा। उसमें इन्होंने लिखा-

"महास्तंभसहस्रस्य कर्त्तव्यः संग्रहो ध्रुवम्।"

अर्थात्—बहुत जल्दी बड़े बड़े एक हजार खम्भे इकट्ठे करना।" पत्र बाँचनेवालेने इसे भ्रमसे पढ़ा—

"महास्तभसहस्रस्य कर्त्तव्यः संग्रहो ध्रुवम्। 'स्तंभ' शब्दको 'स्तभ' समझकर उसने खंभेकी जगह एक हजार बकरोंको इकट्ठा करनेको कहा। ऐसा ही किया गया। तत्काल एक हजार बकरे मँगवाये जाकर वे अच्छे खाने पिलाने द्वारा पाले जाने लगे।

जब महाराज लौटकर वापिस आये तो उन्होंने अपने कर्मचारियोंसे पूछा कि मैंने जो आज्ञा की थी, उसकी तामील की गई? उत्तरमें उन्होंने 'जी हाँ' कहकर उन बकरोंको महाराजको दिखलाया। महापद्म देखकर सिरसे पैरतक जल उठे। उन्होंने गुस्सा होकर कहा—मैंने तो तुम्हें एक हजार खंभोंको इकट्ठा करनेको लिखा था, तुमने यह क्या किया? तुम्हारे इस अविचारकी सजा मैं तुम्हें जीवनदण्ड देता हूँ। महापद्मकी ऐसी कठोर सजा सुनकर वे बेचारे बड़े घबराये। उन्होंने हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि महाराज, इसमें हमारा तो कुछ दोष नहीं है। हमें तो जैसा पत्र बाँचनेवालेने कहा, वैसा ही हमने किया। महाराजने तब उसी समय पत्र बाँचनेवालेको बुलाकर उसके इस गुरुतर अपराधकी जैसी चाहिए वैसी सजा की। इसलिए बुद्धिमा-

नोंको उचित है कि वे ज्ञान, ध्यान आदि कामोंमें कभी ऐसा प्रमाद न करें। क्योंकि प्रमाद कभी सुखके लिए नहीं होता।

जो सत्पुरुष भगवान्‌के उपदेश किये पवित्र और पुण्यमय ज्ञानका अभ्यास करेंगे वे फिर मोह उत्पन्न करनेवाले प्रमाद-को न कर सुख देनेवाले जिनपूजा, दान, व्रत, उपवासादि धार्मिक कामोंमें अपनी बुद्धिको लगाकर केवलज्ञानका अनन्तसुख प्राप्त करेंगे।

९६–धरसेनाचार्यकी कथा।

उन जिन भगवान्‌को नमस्कार कर, जिनका कि केवलज्ञान एक सर्वोच्च नेत्रकी उपमा धारण करनेवाला है, हीनाधिक अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाली धरसेनाचार्यकी कथा लिखी जाती है।

गिरनार पर्वतकी एक गुहामें श्रीधरसेनाचार्य, जो कि जैनधर्मरूप समुद्रके लिए चन्द्रमाकी उपमा धारण करनेवाले हैं, निवास करते थे। उन्हें निमित्तज्ञानसे जान पड़ा कि उनकी उमर बहुत थोड़ी रह गई है। तब उन्हें दो ऐसे विद्यार्थियोंकी आवश्यकता पड़ी कि जिन्हें वे शास्त्रज्ञानकी रक्षाके लिए कुछ अङ्गादिका ज्ञान करादें। आचार्यने तब तीर्थयात्राके लिए

आन्ध्रदेशके वेनातट नगरमें आये हुए संघाधिपति महासेनाचार्यको एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने लिखा—

"भगवान् महावीरका शासन अचल रहे, उसका सब देशोंमें प्रचार हो। लिखनेका कारण यह है कि इस कलियुगमें अङ्गादिका ज्ञान यद्यपि न रहेगा तथापि शास्त्रज्ञानकी रक्षा हो, इसलिए कृपाकर आप दो ऐसे बुद्धिमान् विद्यार्थियोंको मेरे पास भेजिए, जो बुद्धिके बड़े तीक्ष्ण हों, स्थिर हों, सहनशील हों और जैनसिद्धान्तका उद्धार कर सकें।"

आचार्यने पत्र देकर एक ब्रह्मचारीको महासेनाचार्यके पास भेजा। महासेनाचार्य उस पत्रको पढ़कर बहुत खुश हुए। उन्होंने तब अपने संघमेंसे पुष्पदन्त और भूतबलि ऐसे दो धर्मप्रेमी और सिद्धान्तके उद्धार करनेमें समर्थ मुनियोंको बड़े प्रेमके साथ धरसेनाचार्यके पास भेजा। ये दोनों मुनि जिस दिन आचार्यके पास पहुँचनेवाले थे, उसकी पिछली रातको धरसेनाचार्यको एक स्वप्न देख पड़ा। स्वप्नमें उन्होंने दो हृष्टपुष्ट, सुडौल और सफेद बैलोंको बड़ी भक्तिसे अपने पाँवोंमें पड़ते देखा। इस उत्तम स्वप्नको देखकर आचार्यको जो प्रसन्नता हुई वह लिखी नहीं जा सकती। वे ऐसा कहते हुए, कि सब सन्देहोंके नाश करनेवाली श्रुतदेवी—जिनवानी सदाकाल इस संसारमें जय लाभ करे, उठ बैठे। स्वप्नका फल उनके विचारानुसार ठीक निकला। सवेरा होते ही दो मुनियोंने, जिनकी कि उन्हें

चाह थी, आकर आचार्यके पाँवोंमें बड़ी भक्तिके साथ अपना सिर झुकाया और आचार्यकी स्तुति की। आचार्यने तब उन्हें आशीर्वाद दिया–तुम चिरकाल जीकर महावीर भगवान्के पवित्र शासनकी सेवा करो। अज्ञान और विषयोंके दास बने संसारी जीवोंको ज्ञान देकर उन्हें कर्त्तव्यकी ओर लगाओ। उन्हें सुझाओ कि अपने धर्म, और अपने भाइयोंके प्रति जो उनका कर्त्तव्य है वे उसे पूरा करें।

इसके बाद आचार्यने इन दोनों मुनियोंको दो तीन दिन तक अपने पास रक्खा और उनकी बुद्धि, शक्ति, सहनशीलता, कर्त्तव्य बुद्धिका परिचय प्राप्त कर दोनोंको दो विद्याएँ सिद्ध कनरेको दीं। आचार्यने इनकी परीक्षाके लिए विद्या साधनेके मंत्रोंके अक्षरोंको कुछ न्यूनाधिक कर दिया था। आचार्यकी आज्ञानुसार ये दोनों इसी गिरनार पर्वतके एक पवित्र और एकान्त भागमें भगवान् नेमिनाथकी निर्वाणशिला पर पवित्र मनसे विद्या सिद्ध करनेको बैठे। मंत्र साधनकी अवधि जब पूरी होनेको आई तब दो देवियाँ इनके पास आईं। इन देवियोंमें एक देवी तो आंखोंसे अन्धी थी और दूसरीके दांत बड़े और बाहर निकले हुए थे। देवियोंके ऐसे असुन्दर रूपको देखकर इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा देवोंका तो ऐसा रूप होता नहीं, फिर यह क्यों? इन्होंने मंत्रोंकी जाँच की–मंत्रोंको व्याकरणसे मिलाकर देखा कि कहीं उनमें तो गल्ती न रह गई हो?

इनका अनुमान सच हुआ। मंत्रोंकी गलती इन्हें भास गई। फिर इन्होंने उन्हें शुद्ध कर जपा। अवकी वार दो देवियाँ सुन्दर वेषमें इन्हें देख पड़ी। गुरुके पास आकर तब इन्होंने अपना सब हाल कहा। धरसेनाचार्य इनका वृत्तान्त सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। आचार्यने इन्हें सब तरह योग्य पा फिर खूब शास्त्राभ्यास कराया। आगे चलकर यही दो मुनि-राज गुरु-सेवाके प्रसादसे जैनधर्मके धुरन्धर विद्वान् बनकर सिद्धान्तके उद्धारकर्त्ता हुए। जिस प्रकार इन मुनियोंने शास्त्रोंका उद्धार किया उसी प्रकार अन्य धर्मप्रेमियोंको भी शास्त्रोद्धार या शास्त्रप्रचार करना उचित है।

श्रीमान् धरसेनाचार्य और जैनसिद्धान्तके समुद्र श्रीपुष्प दन्त और भूतवलि आचार्य मेरी बुद्धिको स्वर्गमोक्षका सुख देनेवाले पवित्र जैनधर्ममें लगावें, जो जीव मात्रका हित कर-नेवाले और देवों द्वारा पूजा किये जाते हैं।

१७–सुव्रत मुनिराजकी कथा।

देवों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, उन जिन भगवान्को नमस्कार कर सुव्रत मुनिराजकी कथा लिखी जाती है।

सुराष्ट्र देशकी सुन्दर नगरी द्वारकामें अन्तिम नारायण श्रीकृष्णका जन्म हुआ। श्रीकृष्णकी

कई स्त्रियाँ थीं, पर उन सबमें सत्यभामा बड़ी भाग्यवती थी। श्रीकृष्णका सबसे अधिक प्रेम इसी पर था। श्रीकृष्ण अर्धचक्री थे-तीन खण्डके मालिक थे। हजारों राजे महाराजे इनकी सेवामें सदा उपस्थित रहा करते थे।

एक दिन श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान्के दर्शनार्थ समवशरणमें जा रहे थे। रास्तेमें इन्होंने तपस्वी श्रीसुव्रत मुनिराजको सरोग दशामें देखा। सारा शरीर उनका रोगसे कष्ट पा रहा था। उनकी यह दशा श्रीकृष्णसे न देखी गई। धर्मप्रेमसे उनका हृदय अस्थिर हो गया। उन्होंने उसी समय एक जीवक नामके प्रसिद्ध वैद्यको बुलाया और मुनिको दिखलाकर औषधिके लिए पूछा। वैद्यके कहे अनुसार सब श्रावकोंके घरोंमें उन्होंने औषधि-मिश्रित लड्डुओंके बनवानेकी सूचना करवादी। थोड़े ही दिनोंमें इस व्यवस्थासे मुनिको आराम हो गया-सारा शरीर फिर पहलेसा सुन्दर हो गया। इस औषधिदानके प्रभावसे श्रीकृष्णके तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध हुआ। सच है, सुखके कारण सुपात्रदानसे संसारमें सत्पुरुषोंको सभी कुछ प्राप्त होता है।

निरोग अवस्थामें सुव्रत मुनिराजको एक दिन देखकर श्रीकृष्ण बड़े खुश हुए। इसलिए कि उन्हें अपने काममें सफलता प्राप्त हुई। उनसे उन्होंने पूछा-भगवन्, अब अच्छे तो हैं? उत्तरमें मुनिराजने कहा-राजन्, शरीर स्वभावहीसे अपवित्र, नाश होनेवाला और क्षण क्षणमें अनेक अवस्था-

ओंको बदलनेवाला है, इसमें अच्छा और बुरा पन क्या है ? पदार्थोंका जैसा परिवर्तन स्वभाव है उसी प्रकार यह कभी निरोग और कभी सरोग हो जाया करता है। हो, मुझे न इसके रोगी होनेमें खेद है और न निरोग होनेमें हर्ष ! मुझे तो अपने आत्मासे काम, जिसे कि मैं प्राप्त करनेमें लगा हुआ हूँ और जो मेरा परम कर्त्तव्य है। सुव्रत योगिराजकी शरीरसे इस प्रकार निस्पृहता देखकर श्रीकृष्णको बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंने मुनिको नमस्कार कर उनकी बड़ी प्रशंसा की।

पर जब मुनिकी यह निस्पृहता जीवक वैद्यके कानोंमें पहुँची तो उन्हें इस बातका बड़ा दुःख हुआ, बल्कि मुनि पर उन्हें अत्यन्त घृणा हुई, कि मुनिका मैंने इतना उपकार किया तब भी उन्होंने मेरे सम्बन्धमें तारीफका एक शब्द भी न कहा ! इससे उन्होंने मुनिको बड़ा कृतघ्न समझ उनकी बहुत निन्दा की—बुराई की। इस मुनिनिन्दासे उन्हें बहुत पापका बन्ध हुआ। अन्तमें जब उनकी मृत्यु हुई तब वे इस पापके फलसे नर्मदाके किनारे पर एक बन्दर हुए। सच है, अज्ञानियोंको साधुओंके आचार-विचार, व्रत-नियमादिकोंका कुछ ज्ञान तो होता नहीं और व्यर्थ उनकी निन्दा—बुराई कर वे पापकर्म बाँध लेते हैं। इससे उन्हें दुःख उठाना पड़ता है।

एक दिनकी बात है कि यह जीवक वैद्यका जीव बन्दर जिस वृक्ष पर बैठा हुआ था, उसके नीचे यही सुव्रत मुनिराज ध्यान कर रहे थे। इस समय उस वृक्षकी एक टहनी

टूट कर मुनि पर गिरी। उसकी तीखी नोंक जाकर मुनिके पेटमें घुस गई। पेटका कुछ हिस्सा चिरकर उससे खून बहने लगा। मुनि पर जैसी ही उस वन्दरकी नजर पड़ी उसे जातिस्मरण हो गया। वह पूर्व जन्मकी शत्रुता भूलकर उसी समय दौड़ा गया और थोड़ी ही देरमें और बहुतसे वन्दरोंको बुलालाया। उन सबने मिलकर उस डालीको बड़ी सावधानीसे खींचकर निकाल लिया। और वैद्यके जीवने पूर्वजन्मके संस्कारसे जंगलसे जड़ी-बूँटी लाकर उसका रस मुनि-के घाव पर निचोड़ दिया। उससे मुनिको कुछ शान्ति मिली। इस वन्दरने भी इस धर्मप्रेमसे बहुत पुण्यबंध किया। सच है, पूर्व जन्मोंमें जैसा अभ्यास किया जाता है—जैसा पूर्व जन्मका संस्कार होता है दूसरे जन्मोंमें भी उसका संस्कार बना रहता है और प्रायः जीव वैसा ही कार्य करने लगता है।

वन्दरमें—एक पशुमें इस प्रकार दयाशीलता देखकर मुनि-राजने अवधिज्ञान द्वारा विचारा तो उन्हें जीवक वैद्यके जन्मका सब हाल ज्ञात हो गया। उन्होंने तब उसे भव्य सम-झकर उसके पूर्वजन्मकी सब कथा उसे सुनाई और धर्मका उपदेश किया। मुनिकी कृपासे धर्मका पवित्र उपदेश सुन-कर धर्म पर उसकी बड़ी श्रद्धा हो गई। उसने भक्तिसे सम्यक्त्व-व्रत पूर्वक अणुव्रतोंको ग्रहण किया। उन्हें उसने बड़ी अच्छी तरह पाला भी। अन्तमें वह सात दिनका संन्यास ले मरा। इस धर्मके प्रभावसे वह सौधर्म स्वर्गमें

जाकर देव हुआ। सच है, जैनधर्मसे प्रेम करनेवालोंको क्या प्राप्त नहीं होता। देखिए, यह धर्मका ही तो प्रभाव था जिससे कि एक बन्दर-पशु देव हो गया। इसलिए धर्म या गुरुसे बढ़कर संसारमें कोई सुखका कारण नहीं है।

यह जैनधर्म जयलाभ करे—संसारमें निरन्तर चमकता रहे, जिसके प्रसादसे एक तुच्छ प्राणी भी देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषोंकी सम्पत्ति प्राप्त कर—उसका सुख भोगकर अन्तमें मोक्षश्रीका अनन्त, अविनाशी सुख प्राप्त करता है। इसलिए आत्महित चाहनेवाले बुद्धिमानोंको उचित है—उनका कर्त्तव्य है कि वे मोक्षसुखके लिए परम पवित्र जैनधर्मके प्राप्त करनेका और प्राप्त कर उसके पालनेका सदा यत्न करें।

१८—हरिषेण चक्रवर्तीकी कथा।

केवलज्ञान जिनका नेत्र है ऐसे जिन भगवान्को नमस्कार कर हरिषेण चक्रवर्तीकी कथा लिखी जाती है।

अंगदेशके सुप्रसिद्ध कांपिल्य नगरके राजा सिंहध्वज थे। इनकी रानीका नाम वप्रा था। कथा-नायक हरिषेण इसीका पुत्र था। हरिषेण बुद्धिमान् था, शूर-

वीर था, सुन्दर था, दानी था, और बड़ा तेजस्वी था। सब उसका बड़ा मान-आदर करते थे।

हरिषेणकी माता धर्मात्मा थी। भगवान् पर उसकी अचल भक्ति थी। यही कारण था कि वह अठाईके पर्वमें सदा जिन भगवान्का रथ निकलवाया करती और उत्सव मनाती। सिंहध्वजकी दूसरी रानी लक्ष्मीमतीको जैनधर्म पर विश्वास न था। वह सदा उसकी निन्दा किया करती थी। एक बार उसने अपने स्वामीसे कहा-प्राणनाथ, आज पहले मेरा ब्रह्माजीका रथ शहरमें घूमे, ऐसी आप आज्ञा दीजिए। सिंहध्वजने इसका परिणाम क्या होगा, इस पर कुछ विचार न कर लक्ष्मीमतीका कहा मान लिया। पर जब धर्मवत्सल वप्रा रानीको इस बातकी खबर मिली तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने उसी समय प्रतिज्ञा की कि मैं अब खाना-पीना तभी करूँगी जब कि मेरा रथ पहले निकलेगा। सच है, सत्पुरुषोंको धर्म ही शरण होता है-उनकी धर्मतक ही दौड़ होती है।

हरिषेण इतनेमें भोजन करनेको आया। उसने सदाकी भाँति आज अपनी माताको हँस-मुख न देखकर उदास मन देखा। इससे उसे बड़ा खेद हुआ। माता क्यों दुखी हैं, इसका कारण जब उसे जान पड़ा तब वह एक पलभर भी फिर वहाँ न ठहर कर घरसे निकल पड़ा। यहाँसे चलकर वह एक चोरोंके गाँवमें पहुँचा। इसे देखकर एक तोता अपने मालिकोंसे बोला-जो कि चोरोंका सिखाया-पढ़ाया था,

देखिए, यह राजकुमार जा रहा है, इसे पकड़ो। तुम्हें लाभ होगा। तोतेके इस कहने पर किसी चोरका ध्यान न गया। इसलिए हरिषेण बिना किसी आफतके आये यहाँसे निकल गया। सच है, दुष्टोंकी संगति पाकर दुष्टता आती ही है। फिर ऐसे जीवोंसे कभी किसीका हित नहीं होता।

यहाँसे निकल कर हरिषेण फिर एक शतमन्यु नामके तापसीके आश्रममें पहुँचा। वहाँ भी एक तोता था। परन्तु यह पहले तोतेसा दुष्ट न था। इसलिए इसने हरिषेणको देखकर मनमें सोचा कि जिसके मुँह पर तेजस्विता और सुन्दरता होती है उसमें गुण अवश्य ही होते हैं। यह जानेवाला भी कोई ऐसा ही पुरुष होना चाहिए। इसके बाद ही उसने अपने मालिक तापसियोंसे कहा—यह राजकुमार जा रहा है। इसका आप लोग आदर करें। राजकुमारको बड़ा अचंभा हुआ। उसने पहलेका हाल कह कर इस तोतेसे पूछा—क्यों भाई, तेरे एक भाईने तो अपने मालिकोंसे मेरे पकड़नेको कहा था और तू अपने मालिकोंसे मेरा मान-आदर करनेको कह रहा है, इसका कारण क्या है ? तोता बोला—अच्छा राजकुमार, सुनो मैं तुम्हें इसका कारण बतलाता हूँ। उस तोतेकी और मेरी माता एक ही है—हम दोनों भाई भाई हैं। इस हालतमें मुझमें और उसमें विशेषता होनेका कारण यह है कि मैं इन तपस्वियोंके हाथ पड़ा और वह चोरोंके। मैं रोज रोज इन महात्माओंकी अच्छी अच्छी बातें सुना करता

हूँ और वह उन चोरोंकी बुरी बुरी बातें सुनता है। इसीलिए मुझमें और उसमें इतना अन्तर है। सो आपने अपनी आँखों देख ही लिया कि दोष और गुण ये संगतिके फल हैं। अच्छोंकी संगतिसे गुण प्राप्त होते हैं और बुरोंकी संगतिसे दुर्गुण।

इस आश्रमके स्वामी तापसी शतमन्यु पहले चम्पापुरीके राजा थे। इनकी रानीका नाम नागवती है। इनके जनमेजय नामका एक पुत्र और मदनावली नामकी एक कन्या है। शतमन्यु अपने पुत्रको राज्य देकर तापसी हो गये। राज्य अब जनमेजय करने लगा। एक दिन जनमेजयसे मदनावलीके सम्बन्धमें एक ज्योतिषीने कहा कि यह कन्या चक्रवर्तीका सर्वोच्च स्त्रीरत्न होगा। और यह सच है कि ज्ञानियोंका कहा कभी झूठा नहीं होता।

जब मदनावलीकी इस भविष्यवाणीकी सब ओर खबर पहुँची तो अनेक राजे लोग उसे चाहने लगे। इन्हींमें उड्रदेशका राजा कलकल भी था। उसने मदनावलीके लिए उसके भाईसे मँगनी की। उसकी यह मँगनी जनमेजयने नहीं स्वीकारी। इससे कलकलको बड़ा ना-गवार गुजरा। उसने रुष्ट होकर जनमेजय पर चढ़ाई करदी और चम्पापुरीके चारों ओर घेरा डाल दिया। सच है, कामसे अन्धे हुए मनुष्य कौन काम नहीं कर डालते। जनमेजय भी कोई ऐसा डरपोक राजा न था। उसने फौरन ही युद्धस्थलमें

आ-डटनेकी अपनी सेनाको आज्ञा दी । दोनों ओरके वीर योद्धाओंकी मुठभेड़ हो गई । खूब घमासान युद्ध आरंभ हुआ । इधर युद्ध छिड़ा और उधर नागवती अपनी लड़की मदनावलीको साथ ले सुरंगके रास्तेसे निकल भागी । वह इसी शतमन्युके आश्रममें आई । पाठकोंको याद होगा कि यही शतमन्यु नागवतीका पति है । उसने युद्धका सब हाल शतमन्युसे कह सुनाया । शतमन्युने तब नागवती और मदनावलीको अपने आश्रममें ही रख लिया ।

हरिषेण राजकुमारका ऊपर जिकर आया है । इसका मदनावली पर पहलेसे ही प्रेम था । हरिषेण उसे बहुत चाहता था । यह बात आश्रमवासी तापसियोंको मालूम पड़ जानेसे उन्होंने हरिषेणको आश्रमसे निकाल बाहर कर दिया । हरिषेणको इससे बुरा तो बहुत लगा, पर वह कुछ कर-धर नहीं सकता था । इसलिए लाचार होकर उसे चला जाना ही पड़ा । इसने चलते समय प्रतिज्ञा की कि यदि मेरा इस पवित्र राजकुमारीके साथ ब्याह होगा तो मैं अपने सारे देशमें चार चार कोसकी दूरी पर अच्छे अच्छे सुन्दर और विशाल जिनमन्दिर बनवाऊँगा, जो पृथिवीको पवित्र करनेवाले कहलायँगे । सच है, उन लोगोंके हृदयमें जिनेन्द्र भगवान्की भक्ति सदा रहा करती है जो स्वर्ग या मोक्षका सुख प्राप्त करनेवाले होते हैं ।

प्रसिद्ध सिन्धुदेशके सिन्धुतट शहरके राजा सिन्धुनद और रानी सिन्धुमतीके कोई सौ लड़कियाँ थीं । ये सब ही

बड़ी सुन्दर थीं। इन लड़कियोंके सम्बन्धमें नैमित्तिकने कहा था कि—ये सब राजकुमारियाँ चक्रवर्त्ती हरिषेणकी स्त्रियाँ होंगी। ये सिन्धुनदी पर स्नान करनेके लिए जायँगी। इसी समय हरिषेण भी यहीं आ-जायगा। तब परस्परकी चार आँखें होते ही दोनों ओरसे प्रेमका बीज अंकुरित हो उठेगा।

नैमित्तिकका कहना ठीक हुआ। हरिषेण दूसरे राजाओं पर विजय करता हुआ इसी सिन्धुनदीके किनारे पर आकर ठहरा। इसी समय सिन्धुनदकी कुमारियाँ भी यहाँ स्नान करनेके लिए आई हुई थीं। प्रथम ही दर्शनमें दोनोंके हृदयोंमें प्रेमका अंकुर फूटा और फिर वह क्रमसे बढ़ता ही गया। सिन्धुनदसे यह बात छिपी न रही। उसने प्रसन्न होकर हरिषेणके साथ अपनी लड़कियोंका ब्याह कर दिया।

रातको हरिषेण चित्रशाला नामके एक खास महलमें सोया हुआ था। इसी समय एक वेगवती नामकी विद्याधरी आकर हरिषेणको सोता हुआ ही उठा ले चली। रास्तेमें हरिषेण जग उठा। अपनेको एक स्त्री कहीं लिए जा रही है, इस बातको मालूम होते ही उसे बड़ा गुस्सा आया। उसने तब उस विद्याधरीको मारनेके लिए घूँसा उठाया। उसे गुस्सा हुआ देख विद्याधरी डरी और हाथ जोड़कर बोली—महाराज, क्षमा कीजिए। मेरी एक प्रार्थना सुनिए। विजयार्द्ध पर्वत पर बसे हुए सूर्योदर शहरके

राजा इन्द्रधनु और रानी बुद्धिमतीकी एक कन्या है। उसका नाम जयचन्द्रा है। वह सुन्दर है, बुद्धिमती है और बड़ी चतुर है। पर उसमें एक ऐब है और वह महा ऐब है। वह यह कि उसे पुरुषोंसे बड़ा द्वेष है—पुरुषोंको वह आँखोंसे देखना तक पसंद नहीं करती। नैमित्तिकने उसके सम्बन्धमें कहा है कि जो सिन्धुनदकी सौ राजकुमारियोंका पति होगा, वही इसका भी होगा। तब मैंने आपका चित्र लेजाकर उसे बतलाया। वह उसे देख कर बड़ी प्रसन्न हुई। उसका सब कुछ आप पर न्योछावर हो चुका है। वह आपके सम्बन्धकी तरह तरहकी बातें पूछा करती है और बड़े चावसे उन्हें सुनती है। आपका जिकर छिड़ते ही वह बड़े ध्यानसे उसे सुनने लगती है। उसकी इन सब चेष्टाओंसे जान पड़ता है कि उसका आप पर अत्यन्त प्रेम है। यही कारण है कि मैं उसकी आज्ञासे आपको उसके पास लिए जा रही हूँ। सुनकर हरिषेण बहुत खुश हुआ और फिर वह कुछ भी न बोलकर जहाँ उसे विद्याधरी लिवा गई चला गया। वेगवतीने हरिषेणको इन्द्रधनुके महल पर ला रक्खा। हरिषेणके रूप और गुणोंको देख कर सभीको बड़ी प्रसन्नता हुई। जयचन्द्राके माता पिताने उसके ब्याहका भी दिन निश्चित कर दिया। जो दिन ब्याहका था उस दिन राजकुमारी जयचन्द्राके मामाके लड़के गंगाधर और महीधर ये दोनों हरिषेण पर चढ़ आये। इसलिए कि वे

जयचन्द्राको स्वयं व्याहना चाहते थे। हरिषेणने इनके साथ
बड़ी वीरतासे युद्ध कर इन्हें हराया। इस युद्धमें हरिषेणके
हाथ जवाहिरात और बहुत धन-दौलत लगी। यह चक्रवर्ती
होकर अपने घर लौटा। रास्तेमें इसने अपनी प्रेमिणी मद-
नावलीसे भी व्याह किया। घर आकर फिर इसने अपनी
माताकी इच्छा पूरी की। पहले [illegible] रथ चला। इसके
बाद हरिषेणने अपने देशभरमें जिन मन्दिर बनवा कर अपनी
प्रतिज्ञाको भी निबाहा। सच है, पुण्यवानोंके लिए कोई
[illegible] कठिन नहीं।

वे जिनेन्द्र भगवान् सदा जयलाभ करें, जो देवादिकों द्वारा
पूजा किये जाते हैं, गुणरूपी रत्नोंकी खान हैं, स्वर्ग-मोक्षके
देनेवाले हैं, संसारके प्रकाशित करनेवाले निर्मल चन्द्रमा हैं,
केवलज्ञानी–सर्वज्ञ हैं और जिनके पवित्र धर्मका पालन कर
भव्यजन सुख लाभ करते हैं।

९९–दूसरोंके गुण ग्रहण करनेकी कथा।

जिन्हें स्वर्गके देव पूजते हैं उन जिन भगवानको नमस्कार कर दूसरोंके दोषोंको न देखकर गुण ग्रहण करनेवालेकी कथा लिखी जाती है।

एक दिन सौधर्म स्वर्गका इन्द्र धर्म-प्रेमके वश हो गुण-

वान् पुरुषोंकी अपनी सभामें प्रशंसा कर रहा था। उस समय उसने कहा–जिस पुरुषका–जिस महात्माका हृदय इतना उदार है कि वह दूसरोंके वहुतसे औगुणों पर बिलकुल ध्यान न देकर उसमें रहनेवाले गुणोंके थोड़े भी हिस्सेको खूब बढ़ानेका यत्न करता है–जिसका ध्यान सिर्फ गुणोंके ग्रहण करनेकी ओर है वह पुरुष–वह महात्मा संसारमें सवसे श्रेष्ठ है, उसीका जन्म भी सफल है ! इन्द्रके मुँहसे इस प्रकार दूसरोंकी प्रशंसा सुन एक मौलीके देवने उससे पूछा–देवराज, जैसी इस समय आपने गुणग्राहक पुरुषकी प्रशंसा की है, क्या ऐसा कोई वड़भागी पृथ्वी पर है भी। इन्द्रने उत्तरमें कहा–हाँ हैं, और वे अन्तिम वासुदेव द्वारकाके स्वामी श्रीकृष्ण। सुनकर वह देव उसी समय पृथिवी पर आया। इस समय श्रीकृष्ण नेमिनाथ भगवान्के दर्शनार्थ जा रहे थे। इनकी परीक्षाके लिए यह मरे कुत्तेका रूपले रास्तेमें पड़ गया। इसके शरीरसे वड़ी ही दुर्गन्ध भभक रही थी। आने-जाने वालोंके लिए इधर होकर आना-जाना मुश्किल हो गया था। इसकी इस असह दुर्गन्धके मारे श्रीकृष्णके साथी सव भाग खड़े हुए। इसी समय वह देव एक दूसरे ब्राह्मणका रूप लेकर श्रीकृष्णके पास आया और उस कुत्तेकी बुराई करने लगा–उसके दोष दिखानें लगा। श्रीकृष्णने उसकी सव वातें सुन-सुना कर कहा–अहा ! देखिए, इस कुत्तेके दाँतोंकी श्रेणी स्फटिकके समान कितनी निर्मल

और सुन्दर है। श्रीकृष्णने कुत्तेके और दोषों पर-उसकी दुर्गन्ध आदि पर कुछ ध्यान न देकर उसके दाँतोंकी-उसमें रहनेवाले थोड़ेसे भी अच्छे भागकी उलटी प्रशंसा ही की। श्रीकृष्णकी एक पशुके लिए इतनी उदार बुद्धि देखकर वह देव बहुत खुश हुआ। उसने फिर प्रत्यक्ष होकर सब हाल श्रीकृष्णसे कहा-और उचित आदर-मान करके आप अपने स्थान चला गया।

इसी तरह अन्य जिन भगवान्‌के भक्त भव्यजनोंको भी उचित है कि वे दूसरोंके दोषोंको छोड़कर सुखकी प्राप्तिके लिए प्रेमके साथ उनके गुणोंको ग्रहण करनेका यत्न करें। इसीसे वे गुणज्ञ और प्रशंसाके पात्र कहे जा सकेंगे।

१००-मनुष्य-जन्मकी दुर्लभताके दस दृष्टान्त।

अतिशय निर्मल केवलज्ञानके धारक जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार कर मनुष्य-जन्मका मिलना कितना कठिन है, इस बातको दस दृष्टान्तों-उदाहरणों द्वारा खुलासा समझाया जाता है।

उन दृष्टान्तोंके नाम ये हैं-

१–चोल्लक, २–पासा, ३–धान्य, ४–जूआ, ५–रत्न, ६–स्वप्न, ७–चक्र, ८–कछुआ, ९–युग और १०–परमाणु ।

अब पहले ही चोल्लक दृष्टान्त लिखा जाता है, उसे आप ध्यानसे सुनें ।

संसारके हितकर्त्ता नेमिनाथ भगवान्‌को निर्वाण गये बाद अयोध्यामें ब्रह्मदत्त नामके चक्रवर्ती हुए । उनके एक वीर सामन्तका नाम सहस्रभट था । सहस्रभटकी स्त्री सुमित्राके सन्तानमें एक लड़का था । इसका नाम वसुदेव था । वसुदेव न तो कुछ पढ़ा-लिखा था और न राज-सेवा वगैरहकी इसमें योग्यता थी । इसलिए अपने पिताकी मृत्युके बाद उसकी जगह इसे न मिल सकी, जो कि एक अच्छी प्रतिष्ठित जगह थी । और यह सच है कि बिना कुछ योग्यता प्राप्त किये राज-सेवा आदि कामोंमें आदर–मानकी जगह मिल भी नहीं सकती । इसकी इस दशा पर माताको बड़ा दुःख हुआ । पर बेचारी कुछ करने-धरनेको लाचार थी । वह अपनी गरीबीके मारे एक पुरानी गिरी-पड़ी झोपड़ीमें आकर रहने लगी और जिस किसी प्रकार अपना गुजारा चलाने लगी । उसने भावी आशासे वसुदेवसे कुछ काम लेना शुरू किया । वह लड्डू, पेड़ा, पान–आदि वस्तुएँ एक खोमचेमें रखकर उसे आस-पासके गाँवोंमें भेजने लगी, इसलिए कि वसुदेवको कुछ परिश्रम करना आजाय–वह कुछ हुशियार हो जाय । ऐसा करनेसे सुमित्राको सफलता प्राप्त हुई और वसुदेव कुछ

सीख भी गया-उसे पहलेकी तरह अब निकम्मा बैठे रहना अच्छा न लगने लगा। सुमित्राने तब कुछ वसीला लगाकर वसुदेवको राजाका अंगरक्षक नियत करा दिया।

एक दिन चक्रवर्त्ती हवा-खोरीके लिए घोड़े पर सवार हो शहर बाहर हुए। जिस घोड़े पर वे बैठे थे वह बड़े दुष्ट स्वभावको लिए हुए था। सो जरा ही पाँवकी ऐड़ा लगाने पर वह चक्रवर्त्तीको लेकर हवा हो गया। बड़ी दूर जाकर उसने उन्हें एक बड़ी भयावनी वनीमें ला गिराया। इस समय चक्रवर्त्ती बड़े कष्टमें थे। भूख प्याससे उनके प्राण छटपटा रहे थे। पाठकोंको स्मरण है कि इनके अंगरक्षक वसुदेवको उसकी माने चलने-फिरने और दौड़ने-दुड़ानेके काममें अच्छा हुशियार कर दिया था। यही कारण था कि जिस समय चक्रवर्त्तीको घोड़ा लेकर भागा, उस समय वसुदेव भी कुछ खाने-पीनेकी वस्तुएँ लेकर उनके पीछे पीछे बेतहाशा भागा गया। चक्रवर्त्तीको आध-पौन घंटा वनीमें बैठे हुआ होगा कि इतनेमें वसुदेव भी उनके पास जा पहुँचा। खाने-पीनेकी वस्तुएँ उसने महाराजकी भेट कीं। चक्रवर्ती उससे बहुत सन्तुष्ट हुए। सच है, योग्य समयमें थोड़ा भी दिया हुआ सुखका कारण होता है। जैसे बुझते हुए दीयेमें थोड़ासा भी तेल डालनेसे वह झटसे तेज हो उठता है। चक्रवर्त्तीने खुश होकर उससे पूछा-तू कौन है? उत्तरमें वसुदेवने कहा-महाराज, सहस्रभट साम-

न्तका मैं पुत्र हूँ । चक्रवर्ती फिर विशेष कुछ पूछ-पाछ न करके चलते समय उसे एक रत्नमयी कंकण देते गये। अयोध्यामें पहुँच कर ही उन्होंने कोतवालसे कहा—मेरा कड़ा खो गया है, उसे ढूँढ़कर पता लगाइए। राजाज्ञा पाकर कोतवाल उसे ढूँढ़नेको निकला। रास्तेमें एक जगह इसने वसुदेवको कुछ लोगोंके साथ कड़ेके सम्बन्धकी ही बात-चीत करते पाया। कोतवाल तब उसे पकड़ कर राजाके पास लिवाले गया। चक्रवर्ती उसे देखकर बोले—मैं तुझ पर बहुत खुश हूँ। तुझे जो चाहिए वही माँगले। वसुदेव बोला—महाराज, इस विषयमें मैं कुछ नहीं जानता कि मैं आपसे क्या माँगू। यदि आप आज्ञा करें तो मैं मेरी माको पूछ आऊँ। चक्रवर्तीके कहनेसे वह अपनी माके पास गया और उसे पूछ आकर चक्रवर्तीसे उसने प्रार्थना की—महाराज, आप मुझे चोल्लक भोजन कराइए। उससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। तब चक्रवर्त्तीने उससे पूछा—भाई, चोल्लक भोजन किसे कहते हैं? हमने तो उसका नाम भी आज तक नहीं सुना। वसुदेवने कहा—सुनिए महाराज, पहले ही बड़े आदरके साथ आपके महलमें मुझे भोजन कराया जाय और खूब अच्छे अच्छे सुन्दर कपड़े, गहने-दागीने दिये जायँ। इसके बाद इसी तरह आपकी रानियोंके महलोंमें क्रम क्रमसे मेरा भोजन हो। फिर आपके परिवार तथा मण्डलेश्वर राजाओंके यहाँ मुझे इसी प्रकार भोजन कराया जाय। इतना सब हो चुकने पर क्रम क्रमसे

फिर आपहीके यहाँ मेरा अन्तिम भोजन हो। महाराज, मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपकी आज्ञासे मुझे यह सब प्राप्त हो सकेगा।

भव्यजनो, इस उदाहरणसे यह शिक्षा लेनेकी है कि यह चोल्लक भोजन वसुदेव सरीखे कंगालको शायद प्राप्त हो भी जाय, तो भी इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं, पर एक वार प्रमादसे खो दिया गया मनुष्य जन्म वेशक अत्यन्त दुर्लभ है। फिर लाख प्रयत्न करने पर भी वह सहसा नहीं मिल सकता। इसलिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे दुःखके कारण खोटे मार्गको छोड़कर जैन धर्मका शरण लें, जो कि मनुष्य जन्मकी प्राप्ति और मोक्षका प्रधान कारण है।

२—पाशेका दृष्टांत।

मगध देशमें शतद्वार नामका एक अच्छा शहर था। उसके राजाका नाम भी शतद्वार था। शतद्वारने अपने शहरमें एक ऐसा देखने योग्य दरवाजा बनवाया, कि जिसके कोई ग्यारह हजार खंभे थे। उन एक एक खंभोंमें छ्यानवे ऐसे स्थान बने हुए थे जिनमें जुआरी लोग पाशे द्वारा सदा जूआ खेला करते थे। एक शिवशर्मा नामके ब्राह्मणने उन जुआरियोंसे प्रार्थना की—भाइयो, मैं बहुत ही गरीब हूँ, इसलिए यदि आप मेरा इतना उपकार करें, कि आप सब खेलनेवालोंका दाव यदि किसी समय एकहीसा पड़ जाय और वह सब

धन-माल आप मुझे दे दें, तो बहुत अच्छा हो। जुआरियोंने सोमशर्माकी प्रार्थना स्वीकार करली। इसलिए कि उन्हें विश्वास था कि—ऐसा होना नितान्त ही कठिन है, बल्कि असंभव है। पर दैवयोग ऐसा हुआ कि एक बार रत्नका दाव एकहीसा पड़ गया और उन्हें अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सब धन सोमशर्माको दे देना पड़ा। वह उस धनको पाकर बहुत खुश हुआ। इस दृष्टान्तसे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जैसा योग सोमशर्माको मिला था, वैसा योग मिलकर और कर्मयोगसे इतना धन भी प्राप्त हो जाय तो कोई बात नहीं, परन्तु जो मनुष्य-जन्म एक बार प्रमाद वश हो नष्ट कर दिया जाय तो वह फिर सहजमें नहीं मिल सकता। इसलिए सत्पुरुषोंको निरन्तर ऐसे पवित्र कार्य करते रहना चाहिए, जो मनुष्य-जन्म या स्वर्ग मोक्षके प्राप्त करानेवाले हैं। ऐसे कर्म हैं—जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करना, दान देना, परोपकार करना, व्रतोंका पालना, ब्रह्मचर्यसे रहना और उपवास करना—आदि।

३—धान्य दृष्टान्त।

जम्बूद्वीपके बराबर चौड़ा और एक हजार योजन अर्थात् दो हजार कोस या चार कोस औंढ़ा एक बड़ा भारी गढ़ा खोदा जाकर वह सरसौंसे भर दिया जाय। उसमेंसे फिर रोज रोज एक एक सरसौं निकाली जाया करे। ऐसा निरन्तर करते रहनेसे एक दिन ऐसा भी आयगा कि जिस

दिन वह कुण्ड सरसोंसे खाली हो जायगा। पर यदि प्रमादसे यह जन्म नष्ट हो गया तो वह समय फिर आना एक तरह असंभवसा ही हो जायगा, जिसमें कि मनुष्य-जन्म मिल सके। इसलिए बुद्धिमानोंको उचित है कि वे प्राप्त हुए मनुष्य जन्मको निष्फल न खोकर जिन-पूजा, व्रत, दान परोपकारादि पवित्र कार्योंमें लगावें। क्योंकि ये सब परम्परा मोक्षके साधन हैं।

धान्यका दूसरा दृष्टान्त।

अयोध्याके राजा प्रजापाल पर राजगृहके जितशत्रु राजाने एक बार चढ़ाई की और सारी अयोध्याको सब ओरसे घेर लिया। तब राजाने अपनी प्रजासे कहा—जिसके यहाँ धानके जितने बोरे हों, उन सब बोरोंको लाकर और गिनती करके मेरे कोठोंमें सुरक्षित रखदें। मेरी इच्छा है कि शत्रुको एक अन्नका दाना भी यहाँसे प्राप्त न हो। ऐसी हालतमें उसे झख मार कर लौट जाना पड़ेगा। सारी प्रजाने राजाकी अज्ञानुसार ऐसा ही किया। जब अभिमानी शत्रुको अयोध्यासे अन्न न मिला तब थोड़े ही दिनोंमें उसकी अकल ठिकाने पर आ गई। उसकी सेना भूखके मारे मरने लगी। आखिर जितशत्रुको लौट जाना ही पड़ा। जब शत्रु अयोध्याका घेरा उठा चल दिया तब प्रजाने राजासे अपने अपने धानके ले-जानेकी प्रार्थना की। राजाने कह दिया कि हाँ अपना अपना धान पहचान कर सब लोग

लेजायें। कभी कर्मयोगसे ऐसा हो जाना भी संभव है, पर यदि मनुष्य जन्म एक वार व्यर्थ नष्ट हो गया तो उसका पुनः ठना अत्यन्त ही कठिन है। इसलिए इसे व्यर्थ खोना त नहीं। इसे तो सदा शुभ कामोंमें ही लगाये ा चाहिए।

४—जूआका दृष्टान्त।

शतद्वार पुरमें पाँचसौ सुन्दर दरवाजे हैं। उन एक एक वाजोंमें जूआ खेलनेके पाँच-पाँचसौ अड्डे हैं। उन एक अड्डोंमें पाँच-पाँचसौ जुआरी लोग जूआ खेलते । उनमें एक चयी नामका जुआरी है। ये सब जुआरी मनु[illegible] जीत-जीत कर अपने अपने गाँवोंमें चले गये। चयी रहा। भाग्यसे इन सब जुआरियोंका और इस यीका फिर भी कभी मुकाविला होना संभव है, पर नष्ट ए मनुष्य-जन्मका पुण्यहीन पुरुषोंको फिर सहसा मिलना असल कठिन है।

जूआका दूसरा दृष्टान्त।

इसी शतद्वार पुरमें निर्लक्षण नामका एक जुआरी था। सके इतना भारी पापकर्मका उदय था कि वह स्वप्नमें । कभी जीत नहीं पाता था। एक दिन कर्मयोगसे वह भी खूब धन जीता। जीतकर उस धनको उसने याचकोंको बाँट दिया। वे सब धन लेकर चारों दिशाओंमें जिसे जिधर जाना था उधर ही चले

गये। ये सब लोग दैवयोगसे फिर भी कभी इकट्ठे हो सकते हैं, पर गया जन्म फिर हाथ आना दुष्कर है। इसलिए जबतक मोक्ष न मिले तबतक यह मनुष्य-जन्म प्राप्त होता रहे, इसके लिए धर्मकी शरण सदा लिये रहना चाहिए।

५—रत्न-दृष्टान्त।

भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, सुभौम, महापद्म, हरिषेण, जयसेन और ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती, इनके मुकटोंमें जड़े हुए मणि, जिन्हें स्वर्गोंके देव ले गये हैं, और इनके वे चौदह रत्न, नौ निधि तथा वे सब देव, ये सब कभी इकट्ठे नहीं हो सके तरह खोया हुआ मनुष्य जीवन पुण्यहीन पुरुष कभी नहीं कर सकते। यह जानकर बुद्धिवानोंको उचित है—उनका कर्त्तव्य है कि वे मनुष्य जीवन प्राप्त करनेके कारण जैनधर्मको ग्रहण करें।

६—स्वप्न-दृष्टान्त।

उज्जैनमें एक लकड़हरा रहता था। वह जंगलमेंसे लकड़ी काट कर लाता और बाजारमें बेच दिया करता था। उसीसे उसका गुजारा चलता था। एक दिन वह लकड़ीका गट्ठा सिर पर लादे आ रहा था। ऊपरसे बहुत गरमी पड़ रही थी। सो वह एक वृक्षकी छायामें सिर परका गट्ठा उतार कर वहीं सो गया। ठंडी हवा बह रही थी। सो उसे नींद

आ गई। उसने एक सपना देखा कि वह सारी पृथिवीका मालिक चक्रवर्त्ती हो गया। हजारों नौकर-चाकर उसके सामने हाथ जोड़े खड़े हैं। जो वह आज्ञा—हुक्म करता है वह सब उसी समय बजाया जाता है। यह सब कुछ हो रहा था कि इतनेमें उसकी स्त्रीने आकर उसे उठा दिया। बेचारेकी सब सपनेकी सम्पति आँख खोलते ही नष्ट हो गई। उसे फिर वही लकड़ीका गट्ठा सिर पर लादना पड़ा। जिस तरह यह लकड़हरा स्वप्नमें चक्रवर्त्ती बन गया, पर जगने पर रहा लकड़हराका लकड़हरा ही। उसके हाथ कुछ भी धन-दौलत न लगी। ठीक इसी तरह जिसने एक वार मनुष्यजन्म प्राप्त कर व्यर्थ गवाँ दिया उस पुण्यहीन मनुष्यके लिए फिर यह मनुष्य जन्म जाग्रद्दशामें लकहड़ेरेको न मिलनेवाली चक्रवर्त्तीकी सम्पत्तिकी तरह असंभव है।

७—चक्र-दृष्टान्त।

अब चक्रदृष्टान्त कहा जाता है। बाईस बड़े मजबूत खंभे हैं। एक एक खम्भे पर एक एक चक्र लगा हुआ है। एक एक चक्रमें हजार हजार आरे हैं। उन आरोंमें एक एक छेद है। चक्र सब उलटे घूम रहे हैं। पर जो वीर पुरुष हैं वे ऐसी हालतमें भी उन खंभों परकी राधाको वेध देते हैं।

काकन्दीके राजा द्रुपदकी कुमारीका नाम द्रौपदी था। वह बड़ी सुन्दरी थी। उसके स्वयंवरमें अर्जुनने ऐसा ही राधावेध कर द्रौपदीको व्याहा था। सो ठीक ही है पुण्यके उदयसे प्राणियोंको सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

यह सब योग कठिन होने पर भी मिल सकता है, पर यदि प्रमादसे मनुष्य जन्म एक वार नष्ट कर दिया जाय तो उसका मिलना बेशक कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है। यह प्राप्त होता है पुण्यसे, इसलिए पुण्यके प्राप्त करनेका यत्न करना अत्यन्त आवश्यक है।

८—कछुएका दृष्टान्त।

सबसे बड़े स्वयंभूरमण समुद्रको एक बड़े भारी चमड़ेमें छोटासा छेद करके उससे ढक दीजिए। समुद्रमें घूमते हुए एक कछुएने कोई एक हजार वर्षबाद उस चमड़ेके छोटेसे छेदमेंसे सूर्यको देखा। वह छेद उससे फिर छूट गया। भाग्यसे यदि फिर कभी ऐसा ही योग मिल जाय कि वह उस छिद्र पर फिर भी आ पहुँचे और सूर्यको देखले, पर यदि मनुष्य-जन्म इसी तरह प्रमादसे नष्ट हो गया तो सचमुच ही उसका मिलना बहुत कठिन है।

९—युगका दृष्टान्त।

दो लाख योजन चौड़े पूर्वके लवणसमुद्रमें युग (धुरा) के छेदसे गिरी हुई समिलाका पश्चिम समुद्रमें वहते हुए युग (धुरा) के छेदमें समय पाकर प्रवेश कर जाना संभव है, पर प्रमाद या विषयभोगों द्वारा गँवाया हुआ मनुष्य जीवन पुण्यहीन पुरुषोंके लिए फिर सहसा मिलना असंभव है। इसलिए जिन्हें दुःखोंसे छूटकर मोक्ष सुख प्राप्त करना है उन्हें तवतक ऐसे पुण्यकर्म करते रहना

चाहिए कि जिनसे मोक्ष होने तक बराबर मनुष्य जीवन मिलता रहे।

१०—परमाणुका दृष्टान्त।

चार हाथ लम्बे चक्रवर्तीके दण्डरत्नके परमाणु बिखर कर दूसरी अवस्थाको प्राप्त करलें और फिर वे ही परमाणु दैवयोगसे फिर कभी दण्डरत्नके रूपमें आजाएँ तो असंभव नहीं, पर मनुष्य पर्याय यदि एक बार दुष्कर्मों द्वारा व्यर्थ खो-दिया जाय तो इसका फिर उन अभागे जीवोंको प्राप्त हो जाना जरूर असंभव है। इसलिए पंडितोंको मनुष्य पर्यायकी प्राप्तिके लिए पुण्यकर्म करना कर्त्तव्य है।

इस प्रकार सर्व श्रेष्ठ मनुष्य जीवनको अत्यन्त दुर्लभ समझ कर बुद्धिमानोंको उचित है कि वे मोक्षसुखके लिए संसारके जीवमात्रका हित करनेवाले पवित्र जैनधर्मको ग्रहण करें।

१०१—भावानुराग-कथा।

सब प्रकार सुखके देनेवाले जिन भगवान्‌को नमस्कार कर धर्ममें प्रेम करनेवाले नागदत्तकी कथा लिखी जाती है।

उज्जैनके राजा धर्मपाल थे। उनकी रानीका नाम धर्मश्री था। धर्मश्री धर्मात्मा और बड़ी उदार

प्रकृतिकी स्त्री थी। यहाँ एक सागरदत्त नामका सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम सुभद्रा था। सुभद्राके नागदत्त नामका एक लड़का था। नागदत्त भी अपनी माताकी तरह धर्मप्रेमी था। धर्म पर उसकी अचल श्रद्धा थी। इसका ब्याह समुद्रदत्त सेठकी सुन्दर कन्या प्रियंगुश्रीके साथ बड़े ठाटबाटसे हुआ। ब्याहमें खूब दान दिया गया। पूजा उत्सव किया गया। दीन दुखियोंकी अच्छी सहायता की गई।

पियंगुश्रीको इसके मामाका लड़का नागसेन चाहता था और सागरदत्तने उसका ब्याह कर दिया नागदत्तके साथ। इससे नागसेनको बड़ा ना-गवार मालूम हुआ। सो उसने बेचारे नागदत्तके साथ शत्रुता बाँधली और उसे कष्ट देनेका मौका ढूँढ़ने लगा।

एक दिन उपासा नागदत्त धर्मप्रेमसे जिन मन्दिरमें कायोत्सर्ग ध्यान कर रहा था। उसे नागसेनने देख लिया। सो इस दुष्टने अपनी शत्रुताका बदला लेनेके लिए एक षड़-यंत्र रचा। गलेमेंसे अपना हार निकाल कर उसे इसने नागदत्तके पाँवोंके पास रख दिया और हल्ला कर दिया कि यह मेरा हार चुराकर लिये जा रहा था, सो मैंने इसके पीछे दौड़ कर इसे पकड़ लिया। अब ढौंग बनाकर ध्यान करने लग गया, जिससे यह पकड़ा न जाय। नाग-सेनका हल्ला सुनकर आसपासके बहुतसे लोग इकट्ठे हो

गये और पुलिस भी आ जमा हुई । नागदत्त पकड़ा जाकर राज-दरवारमें उपस्थित किया गया । राजाने नागदत्तकी पक्षमें कोई प्रमाण न पाकर उसे मारनेका हुक्म दे दिया । नागदत्त उसी समय वध्य भूमिमें ले जाया गया । उसका सिर काटनेके लिए तलवारका जो उस पर वार किया गया, क्या आश्चर्य कि वह वार उसे ऐसा जान पड़ा मानों किसीने उस पर फूलोंकी माला फैंकी हो । उसे जरा भी जोखिम न पहुँची और इसी समय आकाशसे उस पर फूलोंकी वरसा हुई । जय जय, धन्य धन्य, शब्दोंसे आकाश गूँज उठा । यह आश्चर्य देखकर सव लोग दंग रह गये । सच है, धर्मानुरागसे "सत्पुरुषोंका–सहनशील महात्माओंका कौन उपकार नहीं करता । इस प्रकार जैनधर्मका सुखमय प्रभाव देखकर नागदत्त और धर्मपाल राजा वहुत प्रसन्न हुए । वे अव मोक्षसुखकी इच्छासे संसारकी सब माया-ममताको छोड़कर जिनदीक्षा ले साधु हो गये । और वहुतेरे लोगोंने, जो कि जैनी न थे, जैनधर्मको ग्रहण किया ।

संसारके बड़े बड़े महापुरुषोंसे पूजे-जानेवाला जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश किया पवित्र धर्म स्वर्ग-मोक्षके सुखका कारण है–इसीके द्वारा भव्यजन उत्तमसे उत्तम सुख प्राप्त करते हैं । यही पवित्र धर्म कर्मोंका नाश कर मुझे आत्मिक-सच्चा सुख प्रदान करे ।

१०२-प्रेमानुराग-कथा ।

जो धर्मके स्वामी-प्रवर्त्तक हैं उन जिन भगवान्को नमस्कार कर धर्मसे प्रेम करनेवाले सुमित्र सेठकी कथा लिखी जाती है।

अयोध्याके राजा सुवर्णवर्मा और उनकी रानी सुवर्णश्रीके समय अयोध्यामें सुमित्र नामके एक प्रसिद्ध सेठ हो गये हैं। सेठका जैन-धर्म पर अत्यन्त प्रेम था । एक दिन सुमित्र सेठ रातके समय अपने घरहीमें कायोत्सर्ग ध्यान कर रहे थे। उनकी ध्यान समयकी स्थिरता और भावोंकी दृढ़ता देखकर किसी एक देवने सशंकित हो उनकी परीक्षा करनी चाही कि कहीं यह सेठका कोरा ढौंग तो नहीं है । परीक्षामें उस देवने सेठका सब माल-मत्ता, स्त्री, बाल-बच्चे आदिको अपना लिया। सेठके पास इस बातकी पुकार पहुँची। स्त्री-बाल-बच्चे रो-रो कर उसके पाँवों पर जा गिरे और इस पापीसे छुड़ाओ! छुडाओ!-की हृदयभेदनेवाली दीन प्रार्थना करने लगे। जो न होनेका था वह हुआ । पर सेठ महाशयने अपने ध्यानको अधूरा न छोड़ा-वे वैसे ही निश्चल बने रहे। उनकी यह अलौकिक स्थिरता देखकर उस देवको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सेठकी शतमुखसे प्रशंसा की। अन्तमें

अपने निज स्वरूपमें आ और सेठको एक सांकरी नामकी आकाशगामिनी विद्या भेंट कर आप स्वर्ग चला गया। सेठके इस प्रभावको देख कर बहुतेरे भाइयोंने जैनधर्मको ग्रहण किया, कितनोंने मुनिव्रत, कितनोंने श्रावकव्रत और कितनोंने केवल सम्यग्दर्शन ही लिया।

जिन भगवान्‌के चरण-कमल परम सुखके देनेवाले हैं और संसार-समुद्रसे पार करनेवाले हैं, इसलिए भव्य-जनोंको उचित है कि वे सुख प्राप्तिके लिए उनकी पूजा करें, स्तुति करे, ध्यान करें, स्मरण करें।

१०३–जिनाभिषेकसे प्रेम करनेवालेकी कथा।

इन्द्रादिकों द्वारा जिनके पाँव पूजे जाते हैं, ऐसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर जिनाभिषेकसे अनुराग करनेवाले जिन-दत्त और वसुमित्रकी कथा लिखी जाती है।

उज्जैनके राजा सागरदत्तके समय उनकी राजधानीमें जिनदत्त और वसुमित्र नामके दो प्रसिद्ध और बड़े गुण-वान् सेठ हो गये हैं। जिनधर्म और जिनाभिषेक पर उनका बड़ा ही अनुराग था। ऐसा कोई दिन उनका खाली न

जाता था जिस दिन वे भगवान्का अभिषेक न करते हों, पूजा प्रभावना न करते हों, दान-व्रत न करते हों।

एक दिन ये दोनों सेठ व्यापारके लिए उज्जैनसे उत्तरकी ओर रवाना हुए। मंजिल दर मंजिल चलते हुए ये एक ऐसी घनी अटवीमें पहुँच गये, जो दोनों वाजू आकाशसे वातें करनेवाले अवसीर और मालापर्वत नामके पर्वतोंसे घिरी थी और जिसमें डाकू लोगोंका अड्डा था। डाकू लोग इनका सब माल असवाव छीन-कर हवा हो गये। अब ये दोनों उस अटवीमें इधर उधर घूमने लगे। इसलिए कि इन्हें उससे वाहर होनेका रास्ता मिल जाय। पर इनका सब प्रयत्न निष्फल गया। न तो ये स्वयं रास्तेका पता लगा सके और न कोई इन्हें रास्ता वतानेवाला ही मिला। अपने अटवी वाहर होनेका कोई उपाय न देखकर अन्तमें इन जिन-पूजा और जिनाभिषेकसे अनुराग करनेवाले महानुभावोंने संन्यास लेलिया और जिन भगवान्का ये स्मरण-चिंतन करने लगे। सच है, सत्पुरुष सुख और दुःखमें सदा समान भाव रखते हैं—विचारशील रहते हैं।

एक और अभागा भूला भटका सोमशर्मा नामका ब्राह्मण इसी अटवीमें आफँसा। घूमता-फिरता वह इन्हींके पास आ-गया। अपनीसी इस बेचारे ब्राह्मणकी दशा देखकर ये बड़े दिलगीर हुए। सोमशर्मासे इन्होंने सब हाल कहा और यह भी कहा—यहाँसे निकलनेका कोई मार्ग प्रयत्न करने पर भी

जब हमें न मिला तो हमने अन्तमें धर्मका शरण लिया। इस लिए कि यहाँ हमारी मरने सिवा कोई गति ही नहीं है और जब हमें मृत्युके सामने होना ही है तब कायरता और बुरे भावोंसे क्यों उसका सामना करना, जिससे कि दुर्गतिमें जाना पडे। धर्म दुःखोंका नाश कर सुखोंका देनेवाला है। इसलिए उसीका ऐसे समयमें आश्रय लेना परम हितकारी है। हम तुम्हें भी सलाह देते हैं कि तुम भी सुगतिकी प्राप्तिके लिए धर्मका आश्रय ग्रहण करो। इसके बाद उन्होंने सोम-शर्मांको धर्मका सामान्य स्वरूप समझाया—देखो, जो अठा-रह दोषोंसे रहित और सबके देखनेवाले—सर्वज्ञ हैं. वे देव कहाते हैं और ऐसे निर्दोष भगवान् द्वारा बताये दयामय मार्गको धर्म कहते हैं। धर्मका वैसे सामान्य लक्षण है—जो दुःखोंसे छुड़ा कर सुख प्राप्त करावे। ऐसे धर्मको आचार्योंने दस भागोंमें बाँटा है। अर्थात् सुख प्राप्त करनेके दस उपाय हैं। वे ये हैं—उत्तम क्षमा, मार्दव—हृदयका कोमल होना, आर्जव—हृदयका सरल होना, सच बोलना, शौच—निर्लोभी या संतोषी होना, संयम—इन्द्रियोंको वश करना, तप—व्रत उपवा-सादि करना, त्याग—पुण्यसे प्राप्त हुए धनको सुकृतके काम जैसे दान, परोपकार आदिमें लगाना, आकिंचन—परिग्रह अर्थात् धन-धान, चाँदी-सोना, दास-दासी आदि दस प्रकारके परिग्रहकी लालसा कम करके आत्माको शान्तिके मार्ग पर ले जाना, और ब्रह्मचर्यका पालना।

गुरु वे कहलाते हैं जो माया, मोह-ममतासे रहित हों, विषयोंकी वासना जिन्हें छू तक न गई हो, जो पक्के ब्रह्मचारी हों, तपस्वी हो और संसारके दुखी जीवोंको हितका रास्ता बतला कर उन्हें सुख प्राप्त करानेवाले हों । इन तीनों पर अर्थात् देव, धर्म, गुरु पर विश्वास करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन सुखस्थान पर पहुँचनेकी सबसे पहली सीढ़ी है। इसलिए तुम इसे ग्रहण करो। इस विश्वासको जैन शासन या जैनधर्म भी कहते हैं। जैनधर्ममें जीवको, जिसे कि आत्मा भी कहते हैं, अनादि माना है । न केवल माना ही है, किन्तु वह अनादि ही है । नास्तिकोंकी तरह वह पंचभूत-पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश इनसे बना हुआ नहीं है । क्योंकि ये सब पदार्थ जड़ हैं। ये देख जान नहीं सकते । और जीवका देखना जानना ही खास गुण है । इसी गुणसे उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। जीवको जैनधर्म दो भागोंमें बाँट देता है । एक-भव्य अर्थात् ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका, जिन्होंने कि आत्माके वास्तविक स्वरूपको अनादिसे ढाँक रक्खा है, नाश कर मोक्ष जानेवाला और दूसरा अभव्य-जिसमें कर्मोंके नाश करनेकी शक्ति न हो। इनमें कर्मयुक्त जीवको संसारी कहते हैं और कर्म रहितको मुक्त। जीवके सिवा संसारमें एक और भी द्रव्य है। उसे अजीव या पुद्गल कहते हैं। इसमें जानने देखने कि शक्ति नहीं होती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका

है। अजीवको जैनधर्म पाँच भागोंमें बाँटता है, जैसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन पाँचोंकी दो श्रेणियाँ की गई हैं। एक मूर्त्तिक और दूसरी अमूर्त्तिक। मूर्त्तिक उसे कहते हैं जो छुई जा सके, जिसमें कुछ न कुछ स्वाद हो, गन्ध और वर्ण—रूप-रँग हो। अर्थात् जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये बातें पाई जायँ वह मूर्त्तिक है और जिसमें ये न हों वह अमूर्त्तिक है। उक्त पाँच द्रव्योंमें सिर्फ पुद्गल तो मूर्त्तिक है अर्थात् इसमें उक्त चारों बातें सदासे हैं और रहेंगी—कभी उससे जुदा न होंगी। इसके सिवा धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये अमूर्त्तिक हैं। इन सब विषयोंका विशेष खुलासा अन्य जैन ग्रन्थोंमें किया है। प्रकर्णवश तुम्हें यह सामान्य स्वरूप कहा। विश्वास है अपने हितके लिए इसे ग्रहण करनेका यत्न करोगे।

सोमशर्माको यह उपदेश बहुत पसन्द पड़ा। उसने मिथ्यात्वको छोड़ कर सम्यक्त्वको स्वीकार कर लिया। इसके बाद जिनदत्त वसुमित्रकी तरह वह भी संन्यास ले भगवान्का ध्यान करने लगा। सोमशर्माको भूख-प्यास, डाँस-मच्छर आदिकी बहुत बाधा सहनी पड़ी। उसे उसने बड़ी धीरताके साथ सहा। अन्तमें समाधिसे मृत्यु प्राप्त कर वह सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। वहाँसे श्रेणिक महाराजका अभयकुमार नामका पुत्र हुआ। अभयकुमार बड़ा ही धीर-वीर और पराक्रमी था, परोपकारी था। अन्तमें वह कर्मोंका नाश कर मोक्ष गया।

सोमशर्माकी मृत्युके कुछ ही दिनों बाद जिनदत्त और वसुमित्रकी भी समाधिसे मृत्यु हुई। वे दोनों भी इसी सौधर्म स्वर्गमें, जहाँ कि सोमशर्म देव हुआ था, देव हुए।

संसारका उपकार करनेवाले और पुण्यके कारण जिनके उपदेश किये धर्मको कष्ट समयमें भी धारण कर भव्यजन उस कठिनसे कठिन सुखको, जिसके कि प्राप्त करनेकी उन्हें स्वप्नमें भी आशा नहीं होती, प्राप्त कर लेते हैं, वे सर्वज्ञ भगवान् मुझे वह निर्मल सुख दें, जिस सुखकी इन्द्र, चक्री, और विद्याधर राजे पूजा करते हैं।

१०४–धर्मानुराग-कथा।

जो निर्मल केवलज्ञान द्वारा लोक और अलोकके जानने देखनेवाले हैं–सर्वज्ञ हैं, उन जिनेन्द्र भगवानको नमस्कार कर धर्मसे अनुराग करनेवाले राजकुमार लकुचकी कथा लिखी जाती है।

उज्जैनके राजा धनवर्मा और उनकी रानी धनश्रीके लकुच नामका एक पुत्र था। लकुच बड़ा अभिमानी था। पर साथमें वीर भी था। उसे लोग मेघकी उपमा देते थे। इस लिए कि वह शत्रुओंकी मान रूपी अग्निको बुझा देता था–शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना उसके बायें हाथका खेल था।

कालमेघ नामके म्लेच्छ राजाने एक बार उज्जैन पर चढ़ाई की थी। अवन्ति देशकी प्रजाको तब जन-धनकी बहुत हानि उठाना पड़ी थी। लकुचने इसका बदला चुकानेके लिए कालमेघके देश पर भी चढ़ाई करदी। दोनों ओरसे घमासान युद्ध होने पर विजयलक्ष्मी लकुचकी गोदमें आकर लेटी। लकुचने तब कालमेघको बाँध लाकर पिताके सामने रख दिया। धनवर्मा अपने पुत्रकी इस वीरताको देख कर बड़े खुश हुए। इस खुशीमें धनवर्माने लकुचको कुछ वर देनेकी इच्छा जाहिर की। पर उसकी प्रार्थनासे वरको उपयोगमें लानेका भार उन्होंने उसीकी इच्छा पर छोड़ दिया। अपनी इच्छाके माफिक करनेकी पिताकी आज्ञा पा लकुचकी आँखें फिर गईं। उसने अपनी इच्छाका दुरुपयोग करना शुरू किया। व्यभिचारकी ओर उसकी दृष्टि गई। तब अच्छे अच्छे घरानेकी सुशील स्त्रियाँ उसकी शिकार बनने लगीं। उनका धर्म भ्रष्ट किया जाने लगा। अनेक सतियोंने इस पापीसे अपने धर्मकी रक्षाके लिए आत्महत्याएँ तक कर डालीं। प्रजाके लोग तंग आ गये। वे महाराजसे राजकुमारकी शिकायत तक करने नहीं पाते। कारण राजकुमारके जासूस उज्जैनके कोने कोनेमें फैल रहे थे, इसलिए जिसने कुछ राजकुमारके विरुद्ध जबान हिलाई या विचार भी किया कि वह बेचारा फौरन ही मौतके मुँहमें फैंक दिया जाता था।

यहाँ एक पुंगल नामका सेठ रहता था। इसकी स्त्रीका नाम नागदत्ता था। नागदत्ता बड़ी खूबसूरत थी।

एक दिन पापी लकुचकी इस पर आँखें चली गईं। बस, फिर क्या देर थी? उसने उसी समय उसे प्राप्त कर अपनी नीच मनोवृत्तिकी तृप्ति की। पुंगल उसकी इस नीचतासे सिरसे पाँव तक जल उठा। क्रोधकी आग उसके रोम रोममें फैल गई। वह राजकुमारके दबदबेसे कुछ करने-धरनेको लाचार था। पर उस दिनकी बाट वह बड़ी आशासे जो रहा था, जिस दिन कि वह लकुचसे उसके कर्मोंका भरपूर बदला चुका कर अपनी छाती ठंडी करे।

एक दिन लकुच वन क्रीड़ाके लिए गया हुआ था। भाग्यसे वहाँ उसे मुनिराजके दर्शन हो गये। उसने उनसे धर्मका उपदेश सुना। उपदेशका प्रभाव उस पर खूब पड़ा। इसलिए वह वहीं उनसे दीक्षा ले मुनि हो गया। उधर पुंगल ऐसे मौकेकी आशा लगाये बैठा ही था, सो जैसे ही उसे लकुचका मुनि होना जान पड़ा वह लोहेके बड़े बड़े तीखे कीलोंको लेकर लकुच मुनिके ध्यान करनेकी जगह पर आया। इस समय लकुच मुनि ध्यानमें थे। पुंगल तब उन कीलोंको मुनिके शरीरमें ठोक कर चलता बना। लकुच मुनिने इस दुःसह उपसर्गको बड़ी शान्ति, स्थिरता और धर्मानुरागसे सह कर स्वर्ग लोक प्राप्त किया। सच है, महात्माओंका चरित्र विचित्र ही हुआ करता है। वे अपने जीवनकी गतिको मिनट भरमें कुछकी कुछ बदल डालते हैं।

वे लकुच मुनि जयलाभ करें–कर्मोंको जीतें, जिन्होंने

असह कष्ट सहकर जिनेन्द्र भगवान् रूपी चन्द्रमाकी उपदेश रूपी अमृतमयी किरणोंसे स्वर्गका उत्तम सुख प्राप्त किया, गुणरूपी रत्नोंके जो पर्वत हुए और ज्ञानके गहरे समुद्र कहलाये।

१०५–सम्यग्दर्शन पर दृढ़ रहनेवालेकी कथा।

सब प्रकारके दोषोंसे रहित जिन भगवान्को नमस्कार कर सम्यग्दर्शनको खूब दृढ़ताके साथ पालन करनेवाले जिनदास सेठकी पवित्र कथा लिखी जाती है।

प्राचीन कालसे प्रसिद्ध पाटलिपुत्र (पटना) में जिनदत्त नामका एक प्रसिद्ध और जिनभक्त सेठ हो चुका है। जिनदत्त सेठकी स्त्रीका नाम जिनदासी था। जिनदास, जिसकी कि यह कथा है, इसीका पुत्र था। अपनी माताके अनुसार जिनदास भी ईश्वर प्रेमी, पवित्र हृदयी और अनेक गुणोंका धारक था।

एक वार जिनदास सुवर्ण द्वीपसे धन कमाकर अपने नगरकी ओर आ रहा था। किसी काल नामके देवकी जिनदासके साथ कोई पूर्व जन्मकी शत्रुता होगी और इसलिए वह

देव इसे मारना चाहता होगा। यही कारण था कि उसने कोई सौ योजन चौड़े जहाज पर बैठे बैठे ही जिनदाससे कहा—जिनदास, यदि तू यह कहदे कि जिनेन्द्र भगवान् कोई चीज नहीं, जैनधर्म कोई चीज नहीं, तो तुझे मैं जीता छोड़ सकता हूँ, नहीं तो मार डालूँगा। उस देवका यह डराना सुन जिनदास वगैरहने हाथ जोड़कर श्रीमहावीर भगवान्को बड़ी भक्तिसे नमस्कार किया और निडर होकर वे उससे बोले—पापी, यह हम कभी नहीं कह सकते कि जिन भगवान् और उनका धर्म कोई चीज नहीं; बल्कि हम यह दृढ़ताके साथ कहते हैं कि केवलज्ञान द्वारा सूर्यसे अधिक तेजस्वी जिनेन्द्र भगवान् और संसार द्वारा पूजा जानेवाला उनका मत सबसे श्रेष्ठ है। उनकी समानता करनेवाला कोई देव और कोई धर्म संसारमें है ही नहीं। इतना कहकर ही जिनदासने सबके सामने ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीकी कथा, जो कि पहले लिखी जा चुकी है, कह सुनाई। उस कथाको सुनकर सबका विश्वास और भी दृढ़ हो गया।

इन धर्मात्माओं पर इस विपत्तिके आनेसे उत्तरकुरुमें रहनेवाले अनाव्रत नामके यक्षका आसन कँपा। उसने उसी समय आकर क्रोधसे कालदेवके सिर पर चक्रकी बड़ी जोरकी मार जमाई और उसे उठाकर बडवानलमें डाल दिया।

जहाजके लोगोंकी इस अचल भक्तिसे लक्ष्मी देवी बड़ी प्रसन्न हुई। उसने आकर इन धर्मात्माओंका बड़ा आदर-

सत्कार किया और इनके लिए भक्तिसे अर्घ चढ़ाया। सच है, जो भव्यजन सम्यग्दर्शनका पालन करते हैं, संसारमें उनका आदर-मान कौन नहीं करता। इसके बाद जिन-दास वगैरह सब लोग कुशलतासे अपने घर आ गये। भक्तिसे उत्पन्न हुए पुण्यने इनकी सहायता की। एक दिन मौका पाकर जिनदासने अवधिज्ञानी मुनिसे कालदेवने ऐसा क्यों किया, इस बाबत खुलासा पूछा। मुनिराजने इस वैरका सब कारण जिनदाससे कहा। जिनदासको सुनकर सन्तोष हुआ।

जो बुद्धिमान् हैं, उन्हें उचित है या उनका कर्त्तव्य है कि वे परम सुखके लिए संसारका हित करनेवाले और मोक्षके कारण पवित्र सम्यग्दर्शनको ग्रहण करें। इसे छोड़कर उन्हें और बातोंके लिए कष्ट उठाना उचित नहीं, कारण वे मोक्षकी कारण नहीं हैं।
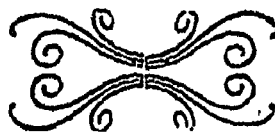
१०६–सम्यक्त्वको न छोड़नेवालेकी कथा ।

जिन्हें स्वर्गके देव नमस्कार करते हैं, उन जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार कर सम्यक्त्वको न छोड़नेवाली जिनमतीकी कथा लिखी जाती है ।

लाटदेशके सुप्रसिद्ध गलगोद्रह नामके शहरमें जिनदत्त नामका एक सेठ हो चुका है। उसकी स्त्रीका नाम जिनदत्ता था। इसके जिनमती नामकी एक लड़की थी। जिनमती बहुत सुन्दरी थी। उसकी भुवन-मोहिनी सुन्दरता देखकर स्वर्गकी अप्सराएँ भी लजा जाती थीं। पुण्यसे सुन्दरता प्राप्त होती ही है।

यहीं पर एक दूसरा और सेठ रहता था। इसका नाम नागदत्त था। नागदत्तकी स्त्री नागदत्ताके रुद्रदत्त नामका एक लड़का था। नागदत्तने वहुतेरा चाहा कि जिनदत्त जिनमतीका ब्याह उसके पुत्र रुद्रदत्तसे करदे। पर उसको विधर्मी होनेसे जिनदत्तने उसे अपनी पुत्री न ब्याही। जिनदत्तका यह हठ नागदत्तको पसन्द न आया। उसने तब एक दूसरी ही युक्ति की। वह यह कि–नागदत्त और रुद्रदत्त समाधिगुप्त मुनिसे कुछ व्रत-नियम लेकर श्रावक वन गये और श्रावक सरीखी सब क्रियाएँ करने लगे। जिनदत्तको

इससे बड़ी खुशी हुई और उसे इस बात पर पूरा पूरा विश्वास हो गया कि वे सचमुच ही जैनी हो गये हैं। तब इसने बड़ी खुशीके साथ जिनमतीका व्याह रुद्रदत्तसे कर दिया। जहाँ व्याह हुआ कि इन दोनों पिता-पुत्रोंने जैनधर्म छोड़कर पीछा अपना धर्म ग्रहण कर लिया।

रुद्रदत्त अब जिनमतीसे रोज रोज आग्रहके साथ कहने लगा कि प्रिये, तुम भी अब क्यों न मेरा ही धर्म ग्रहण कर लेती हो। वह बड़ा उत्तम धर्म है। जिनमतीकी जिनधर्म पर गाढ़ श्रद्धा थी। वह जिनेन्द्र भगवानकी सच्ची सेविका थी। ऐसी हालतमें उसे जिनधर्मके सिवा अन्य धर्म कैसे रुच सकता था। उसने तब अपने विचार बड़ी स्वतंत्रताके साथ अपने स्वामी पर प्रगट किये। वह बोली--प्राणनाथ, आपका जैसा विश्वास हो, उस पर मुझे कुछ कहना-सुनना नहीं। पर मैं अपने विश्वासके अनुसार यह कहूँगी कि संसारमें जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जो सर्वोच्च होनेका दावा कर सकता है। इसलिए कि जीवमात्रका उपकार करनेकी उसमें योग्यता है और बड़े बड़े राजे महाराजे, स्वर्गके देव, विद्याधर, और चक्रवर्ती आदि उसे पूजते-मानते हैं। फिर मैं ऐसी कोई बेजा बात उसमें नहीं पाती कि जिससे मुझे उसके छोड़नेके लिए बाध्य होना पड़े। बल्कि मैं आपको भी सलाह दूँगी कि आप इसी सच्चे और जीव मात्रका हित करनेवाले जैनधर्मको ग्रहण करलें तो बड़ा अच्छा हो।

इसी प्रकार इन दोनों पतिपत्नीमें परस्पर बात-चीत हुआ करती थी। अपने अपने धर्मकी दोनों ही तारीफ किया करते थे। रुद्रदत्त जरा अधिक हठी था। इसलिए कभी कभी जिनमती पर वह जरा गुस्सा भी हो जाता था। पर जिनमती बुद्धिमती और चतुर थी, इस लिए वह उसकी नाराजी पर कभी अप्रसन्नता जाहिर न करती। बल्कि उसकी नाराजीको हँसीका रूपदे झटसे रुद्रदत्तको शान्त कर देती थी। जो हो, पर ये रोज रोजकी विवादभरी बातें सुखका कारण नहीं होतीं।

इस तरह बहुत समय बीत गया। एक दिन ऐसा मौका आया कि दुष्ट भीलोंने शहरके किसी हिस्सेमें आग लगादी। चारों ओर आग बुझानेके लिए दौड़ा-दौड़ पड़ गई। उस भयंकर आगको देखकर लोगोंको अपनी जानका भी सन्देह होने लगा। इस समयको योग्य अवसर देख जिनमतीने अपने स्वामी रुद्रदत्तसे कहा–प्राणनाथ, मेरी बात सुनिए। रोज रोजका जो अपनेमें वाद-विवाद होता है, मैं उसे अच्छा नहीं समझती। मेरी इच्छा है कि यह झगड़ा रफा हो जाय। इसके लिए मेरा यह कहना है कि आज अपने शहरमें आग लगी है उस आगको जिसका देव बुझादे, समझना चाहिए कि वही देव सच्चा है और फिर उसीको हमें परस्परमें स्वीकार कर लेना चाहिए। रुद्रदत्तने जिनमतीकी यह बात मानली। उसने तब कुछ लोगोंको इस बातका

गवाह कर महादेव, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवोंके लिए अर्घ दिया; बड़ी भक्तिसे उनकी पूजा-स्तुति कर उसने अग्निशान्तिके लिए प्रार्थना की। पर उसकी इस प्रार्थनाका कुछ उपयोग न हुआ। अग्नि जिस भयंकरताके साथ जल रही थी वह उसी तरह जलती रही। सच है, ऐसे देवोंसे कभी उपद्रवोंकी शान्ति नहीं होती, जिनका हृदय दुष्ट है, जो मिथ्यात्वी हैं।

अब धर्मवत्सला जिनमतीकी बारी आई। उसने बड़ी भक्तिसे पंच परमेष्ठियोंके चरण-कमलोंको अपने हृदयमें विराजमान कर उनके लिए अर्घ चढ़ाया। इसके बाद वह अपने पति, पुत्र, आदि कुटुम्ब वर्गको अपने पास बैठाकर आप कायोत्सर्ग ध्यान द्वारा पञ्च नमस्कार मंत्रका चिन्तन करने लगी। इसकी इस अचल श्रद्धा और भक्तिको देखकर शासनदेवता बड़ी प्रसन्न हुई। उसने तब उसी समय आकर उस भयंकर आगको देखते देखते बुझा दिया। इस अतिशयको देखकर रुद्रदत्त वगैरह बड़े चकित हुए। उन्हें विश्वास हुआ कि जैनधर्म ही सच्चा धर्म है। उन्होंने फिर सच्चे मनसे जैनधर्मकी दीक्षा ले श्रावकोंको व्रत ग्रहण किये। जैनधर्मकी खूब प्रभावना हुई। सच है, संसार श्रेष्ठ जैनधर्मकी महिमाको कौन कह सकता है, जो कि स्वर्ग-मोक्षका देनेवाला है। जिस प्रकार जिनमतीने अपने सम्यक्त्वकी रक्षा की उसी तरह अन्य भव्यजनोंको भी सुख प्राप्तिके लिए पवित्र सम्यग्दर्शनकी सदा सुरक्षा करते रहना चाहिए।

जिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंमें जिनमतीकी अचल भक्ति, उसके हृदयकी पवित्रता और उसका दृढ़ विश्वास देखकर स्वर्गके देवोंने दिव्य वस्त्राभूषणोंसे उसका खूब आदर–मान किया। और सच भी है, सच्चे जिनभक्त सम्यग्दृष्टिकी कौन पूजा नहीं करते।

१०७–सम्यग्दर्शनके प्रभावकी कथा।

जो सारे संसारके देवाधिदेव हैं, और स्वर्गके देव जिनकी भक्तिसे पूजा किया करते हैं उन जिन भगवान्‌को प्रणाम कर महारानी चेलिनी और श्रेणिकके द्वारा होनेवाली सम्यक्त्वके प्रभावकी कथा लिखी जाती है।

उपश्रेणिक मगधके राजा थे। राजगृह मगधकी तब खास राजधानी थी। उपश्रेणिककी रानीका नाम सुप्रभा था। श्रेणिक इसीके पुत्र थे। श्रेणिक जैसे सुन्दर थे, वैसे ही उनमें अनेक गुण भी थे। वे बुद्धिमान् थे, बड़े गंभीर प्रकृतिके थे, शूरवीर थे, दानी थे और अत्यन्त तेजस्वी थे।

मगध राज्यकी सीमासे लगते ही एक नागधर्म नामके राजाका राज्य था। नागधर्मकी और उपश्रेणिककी पुरानी शत्रुता चली आती थी। नागदत्त उसका बदला लेनेका

मौका तो सदा ही देखता रहता था, पर इस समय उसका उपश्रेणिकके साथ कोई भारी मनमुटाव न था। वह कपटसे उपश्रेणिकका मित्र बना रहता था। यही कारण था कि उसने एक बार उपश्रेणिकके लिए एक दुष्ट घोड़ा भेंटमें भेजा। घोड़ा इतना दुष्ट था कि वैसे तो वह चलता ही न था और उसे जरा ही ऐड़ लगाई या लगाम खींची कि बस वह फिर हवासे बातें करने लगता था। दुष्टोंकी ऐसी गति हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। उपश्रेणिक एक दिन इसी घोड़े पर सवार हो हवा-खोरीके लिए निकले। इन्होंने बैठते ही जैसे उसकी लगाम तानी कि वह हवा हो गया। बड़ी देर बाद वह एक अटवीमें जाकर ठहरा। उस अटवीका मालिक एक यमदण्ड नामका भील था, जो दीखनेमें सचमुच ही यमसा भयानक था। इसके तिलकावती नामकी एक लड़की थी। तिलकावती बड़ी सुन्दरी थी। उसे देख यह कहना अनुचित न होगा कि कोयलेकी खानमें हीरा निकला। कहाँ काला भुसंड यमदण्ड और कहाँ स्वर्गकी अप्सराओंको लजानेवाली इसकी लड़की चन्द्रवदनी तिलकावती! अस्तु, इस भुवन-सुन्दर रूपराशिको देखकर उपश्रेणिक उस पर मोहित हो गये। उन्होंने तिलकावतीके लिए यमदण्डसे मँगनी की। उत्तरमें यमदण्डने कहा—राजराजेश्वर, इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं बड़ा भाग्यवान् हूँ। जब कि एक पृथिवीके सम्राट् मेरे जमाई बनते हैं। और

इसके लिए मुझे बेहद खुशी है । मैं अपनी पुत्रीका आपके साथ व्याह करूँ, इसके पहले आपको एक शर्त करनी होगी और वह यह कि आप राज्य तिलकावतीसे होनेवाली सन्तानको दें । उपश्रेणिकने यमदण्डकी इस बातको स्वीकार कर लिया। यमदण्डने भी तब अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार उसका व्याह उपश्रेणिकसे कर दिया। उपश्रेणिक फिर तिलावतीको साथ ले राजगृह आगये।

कुछ समय सुख पूर्वक बीतने पर तिलकावतीके एक पुत्र हुआ। उसका नाम रक्खा गया चिलातपुत्र । एक दिन उपश्रेणिकने विचार कर, कि मेरे इन पुत्रोंमें राजयोग किसको है, एक निमित्तज्ञानीको बुलाया और उससे पूछा-पंडितजी, अपना निमित्तज्ञान देखकर बतलाइए कि मेरे इतने पुत्रोंमें राज्य-सुख कौन भोग सकेगा ? निमित्त-ज्ञानीने कहा- महाराज, जो सिंहासन पर बैठा हुआ नगारा बजाता रहे और दूरहीसे कुत्तोंको खीर खिलाता हुआ आप भी खाता रहे और आग लगने पर सिंहासन, छत्र, चवँर आदि राज्य चिह्नोंको निकाल ले भागे, वह राज्य-लक्ष्मीका सुख भोग करेगा। इसमें आप किसी तर-हका सन्देह न समझें। उपश्रेणिकने एक दिन इस बातकी परीक्षा करनेके लिए अपने सब पुत्रोंको खीर खानेके लिए बैठाया। उनके पास ही सिंहासन और एक नगारा भी रखवा दिया। पर यह किसीको पता न पड़ने दिया कि ऐसा

क्यों किया गया। सब कुमार भोजन करनेको बैठे और खाना उन्होंने आरंभ किया, कि इतनेमें एक ओरसे कोई सैकड़ों कुत्तोंका झुण्डका झुण्ड उन पर आ-टूटा। तब वे सब डरके मारे उठ उठकर भागने लगे। श्रेणिक उन कुत्तोंसे न डरा। वह जल्दीसे उठकर खीरकी पत्तलोंको एक ऊँचे स्थान पर धरने लगा। थोड़ी ही देरमें उसने बहुतसी पत्तलें इकट्ठी करलीं। इसके बाद वह स्वयं उस ऊँचे स्थान पर रखे हुए सिंहासन पर बैठकर नगारा बजाने लगा, जिससे कुत्ते उसके पास न आ-पावें और इकट्ठीकी हुई पत्तलोंमेंसे एक एक पत्तल उठा उठाकर दूर दूर फैंकता गया। इस प्रकार अपनी बुद्धिसे व्यवस्था कर उसने बड़ी निर्भयताके साथ भोजन किया। इसी प्रकार आग लगने पर श्रेणिकने सिंहासन, छत्र, चवँर आदि राज्य चिन्होंकी रक्षा करली।

उपश्रेणिकको तब निश्चय हो गया कि इन सब पुत्रोंमें श्रेणिक ही एक ऐसा भाग्यशाली है जो मेरे राज्यको अच्छी तरह चलाएगा। उपश्रेणिकने तब उसकी रक्षाके लिए उसे यहाँसे कहीं भेज देना उचित समझा। उन्हें इस बातका खटका था कि मैं राज्यका मालिक तिलकावतीके पुत्रको बना चुका हूँ, और ऐसी दशामें श्रेणिक यहाँ रहा तो कोई असंभव नहीं कि इसकी तेजस्विता, इसकी बुद्धिमानी, इसकी कार्यक्षमताको देखकर किसीको डाह उपज जाय और उस हालतमें इसका कुछ अनिष्ट हो जाय। इसलिए जब

तक यह अच्छा हुशियार न हो जाये तबतक इसका बाहर कहीं रहना ही उत्तम है। फिर यदि इसमें बल होगा तो यह स्वयं अपने राज्यको हस्तगत कर सकेगा। इसके लिए उपश्रेणिकने श्रेणिकके सिर पर यह अपराध मढ़ा कि इसने कुत्तोंका झूठा खाया है, इसलिए अब यह राजघरानेमें रहने योग्य नहीं रहा। मैं इसे आज्ञा करता हूँ कि यह मेरे राज्यसे निकल जाये। सच है, राजे लोग बड़े विचारके साथ काम करते हैं। निरपराध श्रेणिक पिताकी आज्ञा पा उसी समय राजगृहसे निकल गया। फिर एक मिनटके लिए भी वह वहाँ न ठहरा।

श्रेणिक यहाँसे चलकर कोई दुपहरके समय नन्द नामक गाँवमें पहुँचा। यहाँके लोगोंको श्रेणिकके निकाले जानेका हाल मालूम हो गया था, इसलिए राजद्रोहके भयसे उन्होंने श्रेणिकको अपने गाँवमें न रहने दिया। श्रेणिकने तब लाचार हो आगेका रास्ता लिया। रास्तमें इसे एक संन्यासियोंका आश्रम मिला। इसने कुछ दिनोंतक यहीं अपना डेरा जमा दिया। मठमें यह रहता और और संन्यासियोंका उपदेश सुनता। मठका प्रधान संन्यासी बड़ा विद्वान् था। श्रेणिक पर उसका बहुत असर पड़ा। उसने तब वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया। श्रेणिक और कुछ दिनोंतक यहाँ ठहरा। इसके बाद वह यहाँसे रवाना होकर दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ा।

इस समय दक्षिणकी राजधानी काञ्ची थी। काञ्चीके राजा वसुपाल थे। उनकी रानीका नाम वसुमती था। इनके वसुमित्रा नामकी एक सुन्दर और गुणवती पुत्री थी। यहाँ एक सोमशर्मा ब्राह्मण रहता था सोमशर्माकी स्त्रीका नाम सोमश्री था। इसके भी एक पुत्री थी। इसका नाम अभयमती था। अभयमती बड़ी बुद्धिमती थी।

एक बार सोमशर्मा तीर्थयात्रा करके लौट रहा था। रास्तेमें उसे श्रेणिकने देखा। कुछ मेल-मुलाकात और बोल-चाल हुए बाद जब ये दोनों चलनेको तैयार हुए तब श्रेणिकने सोमशर्मासे कहा—मामाजी, आप भी बड़ी दूरसे आते हैं और मैं भी बड़ी दूरसे चला आ रहा हूँ, इसलिए हम दोनों ही थक चुके हैं। अच्छा हो यदि आप मुझे अपने कन्धे पर बैठालें और आप मेरे कन्धे पर बैठकर चलें तो। श्रेणिककी यह बे-सिर पैरकी बात सुनकर सोमशर्मा बड़ा चकित हुआ। उसने समझा कि यह पागल हो गया जान पड़ता है। उसने तब श्रेणिककी बातका कुछ जवाब न दिया। थोड़ी दूर चुपचाप आगे बढ़ने पर श्रेणिकने दो गाँवोंको देखा। उसने तब जो छोटा गाँव था उसे तो बड़ा बताया और जो बड़ा था उसे छोटा बताया। रास्तेमें श्रेणिक जहाँ सिर पर कड़ी धूप पड़ती वहाँ तो छत्री उतार लेता और जहाँ वृक्षोंकी ठंडी छाया आती वहाँ छत्रीको चढ़ा लेता। इसी तरह जहाँ कोई नदी-नाला पड़ता तब

तो वह जूतियोंको पाँवोंमें पहर लेता और रास्तेमें उन्हें हाथमें लेकर नंगे पैरों चलता। आगे चलकर उसने एक स्त्रीको पति द्वारा मार खाती देखकर सोमशर्मासे कहा–क्यों मामाजी, यह जो स्त्री पिट रही है वह बँधी है या खुली? आगे एक मरे पुरुषको देखकर उसने पूछा कि यह जीता है या मर गया? थोड़ी दूर चलकर इसने एक धानके पके हुए खेतको देखकर कहा–इसे इसके मालिकोंने खा लिया है या वे अब खायँगे? इसी तरह सारे रास्तेमें एकसे एक असंगत और वे-मतलबके प्रश्न सुनकर वेचारा सोमशर्मा ऊब गया। राम राम करते वह घर पर आया। श्रेणिकको वह शहर वाहर ही एक जगह बैठाकर यह कह आया कि मैं अपनी लड़कीसे पूछकर अभी आता हूँ, तबतक तुम यहीं बैठना।

अभयमती अपने पिताको आया देख बड़ी खुश हुई। उन्हें कुछ खिला-पिला कर उसने पूछा–पिताजी, आप अकेले गये थे और अकेले ही आये हैं क्या? सोमशर्माने कहा–बेटा, मेरे साथ एक बड़ा ही सुन्दर लड़का आया है। पर बड़े दुःखकी बात है कि वह वेचारा पागल हो गया जान पड़ता है। उसकी देवकुमारसी सुन्दर जिन्दगी धूलधानी हो गई। कर्मोंकी लीला बड़ी ही विचित्र है। मुझे तो उसकी वह स्वर्गीय सुन्दरता और साथ ही उसका वह पागलपन देखकर उस पर बड़ी दया आती है। मैं उसे शहर बाहर एक स्थान पर बैठा आया हूँ। अपने पिताकी बातें सुनकर

अभयमतीको बड़ा कौतुक हुआ। उसने सोमशर्मासे पूछा—हाँ तो पिताजी, उसमें किस तरहका पागलपन है? मुझे उसके सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा हो गई है। आप बतलावें। सोमशर्माने तब अभयमतीसे श्रेणिककी वे सब चेष्टाएँ—कन्धे पर चढ़ना चढ़ाना, छोटे गाँवको बड़ा और बड़ेको छोटा कहना, वृक्षके नीचे छत्री उतार देना और धूपमें चढ़ा लेना, पानीमें चलते समय जूते पहर लेना और रास्तेमें चलते उन्हें हाथमें ले लेना आदि, कह सुनाई। अभयमतीने उन सबको सुनकर अपने पितासे कहा—पिताजी, जिस पुरुषने ऐसी बातें की हैं उसे आप पागल या साधारण पुरुष न समझें। वह तो बड़ा ही बुद्धिमान् है। मुझे मालूम होता है उसकी बातोंके रहस्य पर आपने ध्यानसे विचार न किया इसीसे आपको उसकी बातें बे-सिर पैरकी जान पड़ीं। पर ऐसा नहीं है। उन सबमें कुछ न कुछ रहस्य जरूर है। अच्छा, वह सब मैं आपको समझाती हूँ—पहले ही उसने जो यह कहा था कि आप मुझे अपने कन्धे पर चढ़ा लीजिए और आप मेरे कन्धे पर चढ़ जाइए, इससे उसका मतलब था, आप हम दोनों एक ही रास्तेसे चलें। क्योंकि स्कन्ध शब्दका रास्ता अर्थ भी होता है। और यह उसका कहना ठीक भी था। इसलिए कि दो जने साथ रहनेसे हर तरह बड़ी सहायता मिलती रहती है।

दूसरे उसने दो ग्रामोंको देख कर बड़ेको तो छोटा और छोटेको बड़ा कहा था। इससे उसका अभिप्राय यह है कि

छोटे गाँवके लोग सज्जन हैं, धर्मात्मा हैं, दयालु हैं, परोपकारी हैं और हर एककी सहायता करनेवाले हैं। इसलिए यद्यपि वह गाँव छोटा था, पर तब भी उसे बड़ा ही कहना चाहिए। क्योंकि बड़प्पन गुणों और कर्त्तव्य पालनसे कहलाता है। केवल बाहरी चमक दमकसे नहीं। और बड़े गाँवको उसने तब छोटा कहा, इससे उसका मतलब स्पष्ट ही है कि उसके रहवासी अच्छे लोग नहीं हैं—उनमें बड़प्पनके जो गुण होने चाहिए वे नहीं हैं।

तीसरे उसने वृक्षके नीचे छत्रीको चढ़ा लिया था और रास्तेमें उसे उतार लिया था। ऐसा करनेसे उसकी मंशा यह थी—रास्तेमें छत्रीको न लगाया जाय तो भी कुछ नुकसान नहीं और वृक्षके नीचे न लगानेसे उस पर बैठे हुए पक्षियोंके बींट वगैरहके करनेका डर बना रहता है। इस लिए वहाँ छत्रीका लगाना आवश्यक है।

चौथे उसने पानीमें चलते समय तो जूतोंको पहर लिया और रास्तेमें चलते समय उन्हें हाथमें ले लिया था। इससे वह यह बतलाना चाहता है—पानीमें चलते समय यह नहीं देख पड़ता है कि कहाँ क्या पड़ा है। काँटे, कीले और कंकर-पत्थरोंके लग जानेका भय रहता है, जल जन्तुओंके काटनेका भय रहता है। अतएव पानीमें उसने जूतोंको पहर कर बुद्धिमानीका ही काम किया। रास्तेमें अच्छी तरह देख-भाल कर चल सकते हैं, इसलिए यदि वहाँ जूते न पहरे जायँ तो उतनी हानिकी संभावना नहीं।

पाँचवें उसने एक स्त्रीको मारखाते देखकर पूछा था कि यह स्त्री बँधी है या खुली? इस प्रश्नसे मतलब था—उस स्त्रीका व्याह हो गया है या नहीं?

छठे—उसने एक मुर्देको देखकर पूछा था—यह मर गया है या जीता है? पिताजी, उसका यह पूछना वड़ा मार्के था। इससे वह यह जानना चाहता था कि यदि यह संसारका कुछ काम करके मरा है, यदि इसने स्वार्थ त्याग अपने धर्म, अपने देश और अपने देशके भाई-बन्धुओंके हितमें जीवनका कुछ हिस्सा लगाकर मनुष्य जीवनका कुछ कर्त्तव्य पालन किया है, तब तो वह मरा हुआ भी जीता ही है। क्योंकि उसकी वह प्राप्त की हुई कीर्ति मोजूद है, सारा संसार उसे स्मरण करता हैं, उसे ही अपना पथप्रदर्शक बनाता है। फिर ऐसी हालतमें उसे मरा कैसे कहा जाय? और इससे उलटा जो जीता रह कर भी संसारका कुछ काम नहीं करता, जिसे सदा अपने स्वार्थकी ही पड़ी रहती है और जो अपनी भलाईके सामने दूसरोंके होनेवाले अहित या नुकसानको नहीं देखता; बल्कि दूसरोंका बुरा करनेकी कोशिश करता है ऐसे पृथिवीके बोझको कौन जीता कहेगा? उससे जब किसीको लाभ नहीं तब उसे मरा हुआ ही समझना चाहिए।

सातवें उसने पूछा कि यह धानका खेत मालिकों द्वारा खा-लिया गया या अब खाया जायगा? इस प्रश्नसे उसका यह मतलब था कि इसके मालिकोंने क़र्ज लेकर इस खेतको

बोया है या इसके लिए उन्हें कर्ज लेनेकी जरूरत न पड़ी अर्थात् अपना ही पैसा उन्होंने इसमें लगाया है? यदि कर्ज लेकर उन्होंने इसे तैयार किया तब तो समझना चाहिए कि यह खेत पहलेहीसे खा लिया गया और यदि कर्ज नहीं लिया गया तो अब वे इसे खायँगे—अपने उपयोगमें लावेंगे।

इस प्रकार श्रेणिकके सब प्रश्नोंका उत्तर अभयमतीने अपने पिताको समझाया। सुनकर सोमशर्माको बड़ा ही आनन्द हुआ। सोमशर्माने तब अभयमतीसे कहा—तो बेटा, ऐसे गुणवान् और रूपवान् लड़केको तो अपने घर लाना चाहिए। और अभयमती, वह जब पहले ही मिला तब उसने मुझे मामाजी कह कर पुकारा था। इसलिए उसका कोई अपने साथ सम्बन्ध भी होगा। अच्छा तो मैं उसे बुलाये लाता हूँ।

अभयमती बोली—पिताजी, आपको तकलीफ उठानेकी कोई आवश्यकता नहीं। मैं अपनी दासीको भेजकर उसे अभी बुलवा लेती हूँ। मुझे अभी एक दो बातों द्वारा और उसकी जाँच करना है। इसके लिए मैं निपुणमतीको भेजती हूँ। अभयमतीने इसके बाद निपुणमतीको कुछ थोड़ासा उबटन चूर्ण देकर भेजा और कहा—तू उस नये आगन्तुकसे कहना कि मेरी मालकिनने आपकी मालिशके लिए यह तैल और उबटन चूर्ण भेजा है, सो आप अच्छी तरह मालिश तथा

स्नान करके फलाँ रास्तेसे घर पर आवें। निपुणमतीने श्रेणिकके पास पहुँच कर सब हाल कहा और तैल तथा उबटन रखनेको उससे बरत माँगा। श्रेणिक उस थोड़ेसे तैल और उबटनको देखकर, जिससे कि एक हाथका भी मालिश होना असंभव था, दंग रह गया। उसने तब जान लिया कि सोमशर्मासे मैंने जो जो प्रश्न किये थें उसने अपनी लड़कीसे अवश्य कहा है और इसीसे उसकी लड़कीने मेरी परीक्षाके लिए यह उपाय रचा है। अस्तु, कुछ परवा नहीं। यह विचार कर उस उपजत-बुद्धि श्रेणिकने तैल और उबटन चूर्णके रखनेको अपने पाँवके अँगूठेसे दो गढ़े बनाकर निपुणमतीसे कहा—आप तैल और चूर्णके लिए बरतन चाहतीं हैं। अच्छी बात है, ये (गढ़ेकी ओर इशारा करके) बरतन हैं। आप इनमें तैल और चूर्ण रख दीजिए। मैं थोड़ी ही देर बाद स्नान करके आपकी मालकिनकी आज्ञाका पालन करूँगा। निपुणमती श्रेणिककी इस बुद्धिमानीको देखकर दंग रह गई। वह फिर श्रेणिकके कहे अनुसार तैल और चूर्णको रखकर चली गई।

अभयमतीने श्रेणिकको जिस रास्तेसे बुलाया था, उसमें उसने कोई घुटने घुटने तक कीचड़ करवा दिया था। और कीचड़ बाहर होनेके स्थान पर बाँसकी एक छोटीसी पतली छोई (कमची) और बहुत ही थोड़ासा जल रख दिया था। इसलिए कि श्रेणिक अपने पाँवोंको साफ कर भीतर आये।

श्रेणिकने घर पहुँच कर देखा तो भीतर जानेके रास्तेमें बहुत कीचड़ हो रहा है। वह कीचड़में होकर यदि जाये तो उसके पाँव भरते हैं और दूसरी ओरसे भीतर जानेका रास्ता उसे मालूम नहीं है। यदि वह मालूम भी करे तो उससे कुछ लाभ नहीं। अभयमतीने उसे इसी रास्ते बुलाया है। वह फिर कीचड़हीमें होकर गया। बाहर होते ही उसे पाँव धोने-के लिए थोड़ा जल रखा हुआ मिला। वह बड़े आश्चर्यमें आ-गया कि कीचड़से ऐसे लथपथ भरे पाँवोंको मैं इस थोड़ेसे पानीसे कैसे धो सकूँगा। पर इसके सिवा उसके पास और कुछ उपाय भी न था। तब उसने पानीके पास ही रखी हुई उस छोईको उठाकर पहले उससे पाँवोंका कीचड़ साफ कर लिया और फिर उस थोड़ेसे जलसे धोकर एक कपड़ेसे उन्हें पोंछ लिया। इन सब परीक्षाओंमें पास होकर जब श्रेणिक अभयमतीके सामने आया तब अभयमतीने उसके सामने एक ऐसा मूँगेका दाना रक्खा कि जिसमें हजारों बाँके-सीधे छेद थे। यह पता नहीं पड़ पाता था कि किस छेदमें सूतका धागा पिरोनेसे उसमें पिरोया जा सकेगा और साधारण लोगोंके लिए यह बड़ा कठिन भी था। पर श्रेणिकने अपनी बुद्धिकी चतुरतासे उस मूँगेमें बहुत जल्दी धागा पिरो दिया। श्रेणिककी इस बुद्धिमानीको देखकर अभयमती दंग रह गई। उसने तब मनही मन संकल्प किया कि मैं अपना ब्याह इसीके

साथ करूँगी। इसके बाद उसने श्रेणिकका बड़ी अच्छी तरह आदर-सत्कार किया, खूब आनन्दके साथ उसे अपने ही घर पर जिमाया और कुछ दिनोंके लिए उसे वहीं ठहरा भी लिया। अभयमतीकी मंशा उसकी सखी द्वारा जानकर उसके माता-पिताको बड़ी प्रसन्नता हुई। घर बैठे उन्हें ऐसा योग्य जमाई मिल गया, इससे बढ़कर और प्रसन्नताकी बात उनके लिए हो भी क्या सकती थी। कुछ दिनोंबाद श्रेणिकके साथ अभयमतीका व्याह भी हो गया। दोनों नव दम्पतिने नये जीवनमें पाँव धरा। श्रेणिकके कष्ट भी बहुत कम हो गये। वह अब अपनी प्रियाके साथ सुखसे दिन बिताने लगा।

सोमशर्मा नामका एक ब्राह्मण एक अटवीमें जिनदत्त मुनिके पास दीक्षा लेकर संन्याससे मरा था। उसका उल्लेख अभिषेकाविधिसे प्रेम करनेवाले जिनदत्त और वसुमित्रकी १०३ री कथामें आचुका है। यह सोमशर्मा यहाँसे मरकर सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। जब इसकी स्वर्गायु पूरी हुई तब यह काञ्चीपुरमें हमारे इस कथानायक श्रेणिकके अभयकुमार नामका पुत्र हुआ। अभयकुमार बड़ा वीर और गुणवान् था। और सच भी है जो कर्मोंका नाश कर मोक्ष जानेवाला है उसकी वीरताका क्या पूछना?

काञ्चीके राजा वसुपाल एक बार दिग्विजय करनेको निकले। एक जगह उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर और

भव्य जिनमन्दिर देखा। उसमें विशेषता यह थी कि वह एक ही खम्भेके ऊपर बनाया गया था-उसका आधार एक ही खंभा था। वसुपाल उसे देखकर बहुत खुश हुए। उनकी इच्छा हुई कि ऐसा मन्दिर कांचीमें भी बनवाया जाय। उन्होंने उसी समय अपने पुरोहित सोमशर्माको एक पत्र लिखा। उसमें लिखा कि-"अपने यहाँ एक ऐसा सुन्दर जिन मन्दिर तैयार करवाना, जिसकी इमारत भव्य और बड़ी ही मनोहर हो। सिवा इसके उसमें यह विषेतता हो कि सारी ही मन्दिरकी इमारत एक ही खम्भे पर खड़ी की जाय। मैं जबतक आऊँ तबतक मन्दिर तैयार हो जाना चाहिए।" सोमशर्मा पत्र वाँचकर बड़ी चिन्तामें पड़ गया। वह इस विषयमें कुछ जानता-करता न था, इसलिए वह क्या करे, कैसा मन्दिर बनवावे, इसकी उसे कुछ सूझ न पड़ती थी। चिन्ता उसके मुँह पर सदा छाई रहती थी। उसे इस प्रकार उदास देखकर श्रेणिकने उससे उसकी उदासीका कारण पूछा। सोमशर्माने तब वह पत्र श्रेणिकके हाथ देकर कहा-यही पत्र मेरी इस चिन्ताका मुख्य कारण है। मुझे इस विषयका रत्ती भर भी ज्ञान नहीं तब मैं मन्दिर बनवाऊँ भी तो कैसा? इसीसे दिन रात मैं चिन्तातुर रहा करता हूँ। श्रेणिकने तब सोमशर्मासे कहा-आप इस विषयकी चिन्ता छोड़कर इसका सब भार मुझे दीजिए। फिर देखिए, मैं थोड़े ही समयमें महाराजके लिखे अनुसार मन्दिर बनवाये देता हूँ। सोमश-

माँको श्रेणिकके इस साहस पर आश्चर्य तो अवश्य हुआ, पर उसे श्रेणिककी बुद्धिमानीका परिचय पहलेहीसे मिल चुका था; इसलिए उसने कुछ विशेष सोच-विचार न कर सब काम श्रेणिकके हाथ सौंप दिया। श्रेणिकने पहले मन्दिरका एक नकशा तैयार किया। जब नकशा उसके मनके माफिक बन गया तब उसने हजारों अच्छे अच्छे कारीगरोंको लगाकर थोड़े ही समयमें मन्दिरकी विशाल और भव्य इमारत तैयार करवाली। श्रेणिककी इस बुद्धिमानीको जो देखता वही उसकी शतमुखसे तारीफ करता। और वास्तवमें श्रेणिकने यह कार्य प्रशंसाके लायक किया भी था। सच है, उत्तम ज्ञान, कला-चतुराई ये सब बातें बिना पुण्यके प्राप्त नहीं होती।

जब वसुपाल लौटकर काञ्ची आये और उन्होंने मन्दिरकी उस भव्य इमारतको देखा तो वे बड़े खुश हुए। श्रेणिक पर उनकी अत्यन्त प्रीति हो गई। उन्होंने तब अपनी कुमारी वसुमित्राका उसके साथ ब्याह भी कर दिया। श्रेणिक राज-जमाई बनकर सुखके साथ रहने लगा।

अब राजगृहकी कथा लिखी जाती है—

उपश्रेणिकने श्रेणिकको, उसकी रक्षा हो इसके लिए, देश बाहर कर दिया। इसके बाद कुछ दिनोंतक उन्होंने और राज्य किया। फिर कोई कारण मिल जानेसे उन्हें संसार-विषय-भोगादिसे बड़ा वैराग्य हो गया। इसलिए वे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार चिलातपुत्रको सब राज्यभार सौंपकर

दीक्षा ले योगी हो गये । राज्यसिंहासनको अब चिलात-पुत्रने अलंकृत किया ।

प्रायः यह देखा जाता है कि एक छोटी जातिके या विषयोंके कीड़े, स्वार्थी, अभिमानी, मनुष्यको कोई बड़ा अधिकार या खूब मनमानी दौलत मिल जाती है तो फिर उसका सिर आसमानमें चढ़ जाता है, आँखें उसकी अभिमानके मारे नीची देखती ही नहीं । ऐसा मनुष्य संसारमें फिर सब कुछ अपनेको ही समझने लगता है । दूसरोंकी इज्जत-आबरूकी वह कुछ परवा न कर उनका कौड़ीके भाव भी मौल नहीं समझता । चिलातपुत्र भी ऐसे ही मनुष्योंमें था । बिना परिश्रम या बिना हाथ पाँव हिलाये उसे एक विशाल राज्य मिल गया और मजा यह कि अच्छे शूर-वीर और गुणवान् भाइयोंके बैठे रहते ! तब उसे क्यों न राज-लक्ष्मीका अभिमान हो ? क्यों न वह गरीब प्रजाको पैरों नीचे कुचल कर इस अभिमानका उपयोग करे ? उसकी मा भीलकी लड़की, जिसका कि काम दिनरात लूट-खोस करने, और लोगोंको मारने-काटनेका रहा, उसके विचार गन्दे, उसकी वासनाएँ नीचातिनीच; तब वह अपनी जाति, अपने विचार और अपनी वासनाके अनुसार यदि काम करे तो इसमें नई बात क्या ? कुछ लोग ऐसा कहें कि यह सब कुछ होने पर भी अब वह राजा है–प्रजाका प्रतिपालक है, तब उसे तो अच्छा होना ही चाहिए । इसका यह उत्तर है

कि ऐसा होना आवश्यक है और एक ऐसे मनुष्यको, जिसका कि अधिकार बहुत बड़ा है—हजारों लाखों अच्छे अच्छे इज्जत-आबरूदार, धनी, गरीब, दीन, दुखी जिसकी कृपाकी चाह करते हैं, विशेष कर शिष्ट और सबका हितैषी होना ही चाहिए। हाँ ये सब बातें उसमें हो सकती हैं, जिसमें दयालुता, परोपकारता, कुलीनता, निरभिमानता, सरलता, सज्जनता आदि गुण कुल-परम्परासे चले आते हों। और जहाँ इनका मूलमें ही कुछ ठिकाना नहीं वहाँ इन गुणोंका होना असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। आप एक कौएको मोरके पींखोंसे खूब सजाकर सुन्दर बना दीजिए, पर रहेगा वह कौआका कौआ ही। ठीक इसी तरह चिलातपुत्र आज एक विशाल राज्यका मालिक जरूर बन गया, पर उसमें जो भील-जातिका अंश है वह अपने चिर संस्कारके कारण इसमें पवित्र गुणोंकी:दाल गलने नहीं देता। और यही कारण हुआ कि राज्याधिकार प्राप्त होते ही उसकी प्रवृत्तिं अच्छी ओर न होकर अन्यायकी ओर हुई। प्रजाको उसने हर तरह तंग करना शुरू किया। कोई दुर्व्यसन, कोई कुकर्म उससे न छूट पाया। अच्छे अच्छे घरानेकी कुलशील सतियोंकी इज्जत ली जाने लगी। लोगोंका धन-माल जबरन लूटा-खोसा जाने लगा। उसकी कुछ पुकार नहीं, सुनवाई नहीं, जिसे रक्षक जानकर नियत किया वही

जब भक्षक बन बैठा तब उसकी पुकार की भी कहाँ जाये !
प्रजा अपनी आँखोंसे घोरसे घोर अन्याय देखती, पर कुछ
करने-धरनेको समर्थ न होकर वह मन मसोस कर रह जाती।
जब चिलात बहुत ही अन्याय करने लगा तब उसकी
खबर बड़ी बड़ी दूरतक फैल गई। जिसके मुँहसे सुनो
यही एक चिलातके अन्यायकी बात सुन पड़ने लगी। श्रेणि-
कको भी प्रजा द्वारा यह हाल मालूम हुआ। उसे अपने पिताकी
निरीह प्रजा पर चिलातका यह अन्याय सहन नहीं हुआ।
उसने तब अपने श्वसुर वसुपालसे कुछ सहायता लेकर
चिलात पर चढ़ाई करदी। प्रजाको जब श्रेणिककी चढ़ाईका हाल
मालूम हुआ तो उसने बड़ी खुशी मनाई, और हृदयसे उसका
स्वागत किया। श्रेणिकने प्रजाकी सहायतासे चिलातको सिंहास-
नसे उतार देश बाहर किया और प्रजाकी अनुमतिसे फिर
आप ही सिंहासन पर बैठा। सच है, राज्यशासन वही कर
सकता है और वही पात्र भी है जो बुद्धिवान् हो, समर्थ हो और
न्यायप्रिय हो। दुर्बुद्धि, दुराचारी, कायर, और अकर्मण्य
पुरुष उसके योग्य नहीं।

इधर कई दिनोंसे अपने पिताको न देखकर अभय-
कुमारने अपनी मातासे एक दिन पूछा—मा, बहुत दिनोंसे पिताजी
देख नहीं पड़ते, सो वे कहाँ है। अभयमतीने उत्तरमें कहा—
बेटा, वे जाते समय कह गये थे कि राजगृहमें 'पाण्डुकुटि'
नामका महल है। प्रायः मैं वहीं रहता हूँ। सो मैं जब समा-

चार दूँ तब वहीं आजाना। तबसे अभी तक उनका कोई पत्र न आया। जान पड़ता है राज्यके कामोंसे उन्हें स्मरण न रहा। माता द्वारा पिताका पता पा अभयकुमार अकेला ही राजगृहको रवाना हुआ। कुछ दिनोंमें वह नन्दगाँवमें पहुँचा।

पाठकोंको स्मरण होगा कि जब श्रेणिकको उसके पिता उपश्रेणिकने देश बाहर हो जानेकी आज्ञा दी थी और श्रेणिक उसके अनुसार राजगृहसे निकल गया था तब उसे सबसे पहले रास्तेमें यही नन्दगाँव पड़ा था। पर यहाँके लोगोंने राजद्रोहके भयसे श्रेणिकको गाँवमें आने नहीं दिया था। श्रेणिक इससे उन लोगों पर बड़ा नाराज हुआ था। इस समय उन्हें उनकी उस असहानुभूतिकी सजा देनेके अभिप्रायसे श्रेणिकने उन पर एक हुक्म नामा भेजा और उसमें लिखा कि "आपके गाँवमें एक मीठे पानीका कुआ है। उसे बहुत जल्दी मेरे यहाँ भेजो, अन्यथा इस आज्ञाका पालन न होनेसे तुम्हें सजा दी जायगी।" बेचारे गाँवके रहनेवाले स्वभावसे डरपौंक ब्राह्मण राजाके इस विलक्षण हुक्म नामेको सुनकर बड़े घबराये। जो ले जानेकी चीज होती है वही ले-जाई जाती है, पर कुआ एक स्थानसे अन्य स्थान पर कैसे ले-जाया जाय? वह कोई ऐसी छोटी मोटी वस्तु नहीं जो यहाँसे उठाकर वहाँ रखदी जाय। तब वे बड़ी चिन्तामें पड़े। क्या करें, और क्या न करे, यह उन्हें बिलकुल न सूझ पड़ा। न वे राजाके पास ही जाकर कह

सकते हैं कि-महाराज, यह असंभव वात कैसे हो सकती है! कारण गाँवके लोगोंमें इतनी हिम्मत कहाँ! सारे गाँवमें यही एक चर्चा होने लगी। सबके मुँह पर मुर्दिनी छागई। और बात भी ऐसी ही थी। राजाज्ञा न पालने पर उन्हें दण्ड भोगना चाहिए। यह चर्चा घरों घर हो रही थी कि इसी समय अभयकुमार यहाँ आ पहुँचा, जिसका कि जिकर ऊपर आ चुका है। उसने इस चर्चाका आदि अन्त मालूम कर गाँवके सब लोगोंको इकट्ठा कर कहा-इस साधारण वातके लिए आप लोग ऐसी चिन्तामें पड़ गये। घवराने करनेकी कोई वात नहीं। मैं जैसा कहूँ वैसा कीजिए। आपका राजा उससे खुश होगा। तब उन लोगोंने अभयकुमारकी सलाहसे श्रेणिककी सेवामें एक पत्र लिखा। उसमें लिखा कि-"राजराजेश्वर, आपकी आज्ञाको सिर पर चढ़ाकर हमने कुएसे वहुत वहुत प्रार्थनाएँ कर कहा कि-महाराज तुझ पर प्रसन्न हैं। इसालिए वे तुझे अपने शहरमें बुलाते हैं, तू राजगृह जा! पर महाराज, उसने हमारी एक भी प्रार्थना न सुनी और उलटा रूठकर गाँव बाहर चल दिया। सो हमारे कहने सुननेसे तो वह आता नहीं देख पड़ता। पर हाँ उसके लेजानेका एक उपाय है और उसे यदि आप करें तो संभव है वह रास्ते पर आजाये। वह उपाय यह है कि पुरुष स्त्रियोंका गुलाम होता है-स्त्रियों द्वारा वह जल्दी वश हो जाता है। इसलिए आप अपने शहरकी उदुंबर नामकी कुईको इसे

लेनेको भेजें तो अच्छा हो। बहुत विश्वास है कि उसे देख-ते ही हमारा कुआ उसके पीछे पीछे हो जायगा।" श्रेणिक पत्र पढ़कर चुप रहे गये। उनसे उसका कुछ उत्तर न बन पड़ा। सच है, जब जैसेको तैसा मिलता है तब अकल ठिकाने पर आती है। और धूर्त्तोंको सहजमें काबूमें लेलना कोई हँसी-खेल थोड़े ही है?

कुछ दिनों बाद श्रेणिकने उनके पास एक हाथी भेजा और लिखा कि इसका ठीक ठीक तोल कर जल्दी खबर दो कि यह वजनमें कितना है? अभयकुमार उन्हें बुद्धि सुझाने-वाला था ही, सो उसके कहे अनुसार उन लोगोंने नावमें एक ओर तो हाथीको चढ़ा दिया और दूसरी ओर खूब पत्थर रखना शुरू किया। जब देखा कि दोनों ओरका वजन समतोल हो गया तब उन्होंने उन सब पत्थरोंको अलग तोलकर श्रेणिकको लिख भेजा कि हाथीका तोल इतना है। श्रेणिकको अब भी चुप रह जाना पड़ा।

तीसरी बार तब श्रेणिकने लिख भेजा कि "आपका कुआ गाँवके पूर्वमें है, उसे पश्चिमकी ओर कर देना। मैं बहुत जल्दी उसे देखनेको आऊँगा।" इसके लिए अभय-कुमारने उन्हें युक्ति सुझाकर गाँवको ही पूर्वकी ओर बसा दिया। इससे कुआ सुतरां पश्चिममें हो गया।

चौथी बार श्रेणिकने एक मेंढ़ा भेजा कि "यह मेंढ़ा न दुर्बल हो, न बढ़ जाय और न इसके खाने पिलानेमें

किसी तरहकी असावधानीकी जाय । मतलव यह कि जिस स्थितिमें यह अव है इसी स्थितिमें बना रहे । मैं कुछ दिनों बाद इसे वापिस मँगा लूँगा । " इसके लिए अभयकुमारने उन्हें यह युक्ति बताई कि मेंढ़ेको खूब खिला-पिला कर घण्टा दो घंटाके लिए उसे सिंहके सामने बाँध दिया करिए, ऐसा करनेसे न यह बढ़ेगा और न घटेगा ही। वैसा ही किया गया । मेंढ़ा जैसा था वैसा ही रहा । श्रेणिकको इस युक्तिमें भी सफलता प्राप्त न हुई ।

पाँचवी बार श्रेणिकने उनसे घड़ेमें रखा एक कोला (कद्दू) मँगाया । इसके लिए अभयकुमारने बेल पर लगे हुए एक छोटे कोलेको घड़ेमें रखकर बढ़ाना शुरू किया और जब उससे घड़ा भर गया तब उस घड़ेको श्रेणिकके पास पहुँचा दिया ।

छठी वार श्रेणिकने उन्हें लिख भेजा कि " मुझे वालूरेतकी रस्सी दरकार है, सो तुम जल्दी बनाकर भेजो । " अभयकुमारने इसके उत्तरमें यह लिखवा भेजा कि " महाराज, जैसी रस्सी आप तैयार करवाना चाहते हैं कृपा कर उसका नमूना भिजवा दीजिए । हम वैसी ही रस्सी फिर तैयार कर सेवामें भेज देंगे । " इत्यादि कई बातें श्रेणिकने उनसे करवाईं । सबका उत्तर उन्हें बराबर मिला । उत्तर ही न मिला किन्तु श्रेणिकको कुछ हतप्रभ भी होना पड़ा । इसलिए कि वे उन ब्राह्मणोंको इस बातकी सजा देना चाहते

थे कि उन्होंने मेरे साथ सहानुभूति क्यों न वतलाई? पर वे सजा दे नहीं पाये। श्रेणिकको जब यह मालूम हुआ कि कोई एक विदेशी नन्दगाँवमें है। वही गाँवके लोगों-को ये सब बातें सुझाया करता है। उन्हें उस विदेशी-की बुद्धि देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और सन्तोष भी हुआ। श्रेणिककी उत्कण्ठा तब उसके देखनेके लिए बढ़ी। उन्होंने एक पत्र लिखा। उसमें लिखा कि "आपके यहाँ जो एक विदेशी आकर रहा है, उसे मेरे पास भेजिए। पर साथमें उसे इतना और समझा देना कि वह न तो रातमें आये, और न दिनमें, न सीधे रास्तेसे आये और न टेढ़े-मेढ़े रास्तेसे।

अभयकुमारको पहले तो कुछ जरा विचारमें पड़ना पड़ा, पर फिर उसे इसके लिए भी युक्ति सूझ गई और अच्छी सूझी। वह शामके वक्त गाड़ीके एक कोनेमें बैठकर श्रेणिकके दरबारमें पहुँचा। वहाँ वह देखता है तो सिंहासन पर एक साधारण पुरुष बैठा है—उस पर श्रेणिक नहीं है। वह बड़ा आश्चर्यमें पड़ गया। उसे ज्ञात हो गया कि यहाँ भी कुछ न कुछ चाल खेली गई है। बात यह थी कि श्रेणिक अंगरक्षक पुरुषोंके साथ बैठ गये थे। उनकी इच्छा थी कि अभयकुमार मुझेन पहचान कर लज्जित हो। इसके बाद ही अभयकुमारने एक वार अपनी दृष्टि राजसभा पर डाली। उसे कुछ गहरी निगाहसे देखने पर जान पड़ा कि राजसभामें बैठे हुए लोगोंकी नजर बार बार एक पुरुष पर पड़ रही है। और वह लोगोंकी अपेक्षा

सुन्दर और तेजस्वी है। पर आश्चर्य यह कि वह राजाके अंग-रक्षक लोगोंमें बैठा है। अभयकुमारको उसीं पर कुछ सन्देह गया। तब उसके कुछ चिह्नोंको देखकर उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि यही मेरे पूज्य पिता श्रेणिक हैं। तब उसने जाकर उनके पाँवोंमें अपना सिर रख लिया। श्रेणिकने उठा-कर झट उसे छातीसे लगा लिया। वर्षों बाद पितापुत्रका मिलाप हुआ। दोनोंको ही बड़ा आनन्द हुआ। इसके बाद श्रेणिकने पुत्रप्र-वेशके उपलक्ष्यमें प्रजाको उत्सव मनानेकी आज्ञा की। खूब आनन्द-उत्सव मनाया गया। दुखी, अना-थोंको दान किया गया। पूजा-प्रभावना की गई। सच है, कुलदीपक पुत्रके लिए कौन खुशी नहीं मनाता? इसके बाद ही श्रेणिकने अपने कुछ आदमियोंको भेजकर काञ्चीसे अभ-यमती और वसुमित्रा इन दोनों प्रियाओंको भी बुलवा लिया। इस प्रकार प्रिया-पुत्र सहित श्रेणिक सुखसे राज्य करने लगे। अब इसके आगेकी कथा लिखी जाती है—

सिन्धुदेशकी विशाला नगरीके राजे चेटक थे। वे बड़े बुद्धिमान, धर्मात्मा और सम्यग्दृष्टि थे। जिन भगवान् पर उनकी बड़ी भक्ति थी। उनकी रानीका नाम सुभद्रा था। सुभद्रा बड़ी पतिव्रता और सुन्दरी थी। इसके सात लड़-कियाँ थीं। इनमें पहली लड़की प्रियकारिणी थी। इसके पुण्यका क्या कहना, जो इसका पुत्र संसारका महान् नेता तीर्थंकर हुआ। दूसरी मृगावती, तीसरी सुप्रभा, चौथी

प्रभावती, पाँचवी चेलिनी, छठी ज्येष्ठा और सातवीं चन्दना थी। इनमें अन्तकी चन्दनाको बड़ा उपसर्ग सहना पड़ा। उस समय इसने बड़ी वीरतासे अपने सतीधर्मकी रक्षा की।

चेटक महाराजका अपनी इन पुत्रियों पर बड़ा प्रेम था। इससे उन्होंने इन सबकी एक ही साथ तस्वीर बनवाई। चित्रकार बड़ा हुशियार था, सो उसने उन सबका बड़ा ही सुन्दर चित्र बनाया। चित्रपटको चेटक महाराज बड़ी बारीकीके साथ देख रहे थे। देखते हुए उनकी नजर चेलिनीकी जाँघ पर जा पड़ी। चेलिनीकी जाँघ पर जैसा तिलका चिह्न था, चित्रकारने चित्रमें भी वैसा ही तिलका चिह्न बना दिया था। सो चेटक महाराजने ज्यों ही उस तिलको देखा उन्हें चित्रकार पर बड़ा गुस्सा आया। उन्होंने उसी समय उसे बुलाकर पूछा कि–तुझे इस तिलका हाल कैसे जान पड़ा। महाराजकी क्रोधभरी आँखें देखकर वह बड़ा घबराया। उसने हाथ जोड़कर कहा–राजाधिराज, इस तिलको मैंने कोई छह सात बार मिटाया, पर मैं ज्यों ही चित्रके पास लिखनेको कलम ले जाता त्यों ही उसमेंसे रंगकी बूँद इसी जगह पड़ जाती। तब मेरे मनमें दृढ़ विश्वास हो गया कि ऐसा चिह्न राजकुमारी चेलिनीके होना ही चाहिए और यही कारण है कि मैंने फिर उसे न मिटाया। यह सुनकर चेटक महाराज बड़े खुश हुए। उन्होंने फिर चित्रकारको

बहुत पारितोषिक दिया। सच है बड़े पुरुषोंका खुश होना निष्फल नहीं जाता।

अबसे चेटक महाराज भगवान्की पूजन करते समय पहले इस चित्रपटको खोल कर भगवान्की प्रतिमाके पास ही रख लेते हैं और फिर बड़ी भक्तिके साथ जिनपूजा करते रहते हैं। जिन पूजा सब सुखोंकी देनेवाली और भव्यजनोंके मनको आनन्दित करनेवाली है।

एक बार चेटक महाराज किसी खास कारण वश अपनी सेनाको साथ लिये राजगृह आये। वे शहर बाहर बगीचेमें ठहरे। प्रातःकाल शौचमुख मार्जनादि आवश्यक क्रियाओंसे निवट उन्होंने स्नान किया और निर्मल वस्त्र पहर भगवान्की विधिपूर्वक पूजा की। रोजके माफिक आज भी चेटक महाराजने अपनी राजकुमारियोंके उस चित्रपटको पूजन करते समय अपने पास रख लिया था और पूजनके अन्तमें उस पर फूल वगैरह डाल दिये थे।

इसी समय श्रेणिक महाराज भगवानके दर्शन करनेको आये। उन्होंने इस चित्रपटको देखकर पास खड़े हुए लोगोंसे पूछा—यह किनका चित्रपट है? उन लोगोंने उत्तर दिया—राजराजेश्वर, ये जो विशालाके चेटक महाराज आये हैं, उनकी लड़कियोंका यह चित्रपट है। इनमें चार लड़कियोंका तो ब्याह हो चुका है और चेलिनी तथा ज्येष्ठा ये दो लड़कियाँ ब्याह योग्य हैं। सातवीं चन्दना अभी बिलकुल

वालिका है। ये तीनों ही इस समय विशालामें हैं। यह सुन श्रेणिक महाराज चेलिनी और ज्येष्ठा पर मोहित हो गये। उन्होंने महल पर आकर अपने मनकी वात मंत्रियोंसे कही। मंत्रियोंने अभयकुमारसे कहा—आपके पिताजीने चेटक महाराजसे उनकी दो सुन्दर लड़कियोंके लिए मँगनी की थी, पर उन्होंने अपने महाराजकी अधिक उमर देख उन्हें अपनी राजकुमारियोंके देनेसे इन्कार कर दिया। अब तुम वतलाओं कि क्या उपाय किया जाये जिससे यह काम पूरा पड़ ही जाय।

बुद्धिमान् अभयकुमार मंत्रियोंके बचन सुनकर बोला—आप इस विषयकी कुछ चिन्ता न करें जबतक कि सब कामोंको करनेवाला मैं मौजूद हूँ। यह कहकर अभयकुमारने अपने पिताका एक वहुत सुन्दर चित्र तैयार किया और उसे लेकर साहूकारके वेषमें आप विशाला पहुँचा। किसी उपायसे उसने वह चित्रपट दोनों राजकुमारियोंको दिखलाया। वह इतना बढ़िया वना था कि उसे यदि एक वार देवाङ्गनाएँ देख पातीं तो उनसे भी अपने आपेमें न रहा जाता तव ये दोनों कुमारियाँ उसे देखकर मुग्ध हो जाँय, इसमें आश्चर्य क्या। उन दोनोंको श्रेणिक महाराज पर मुग्ध देख अभयकुमार उन्हें सुरंगके रास्तेसे राजगृह ले-जाने लगा। चेलिनी बड़ी धूर्त थी। उसे स्वयं तो जाना पसंद था, पर वह ज्येष्ठाको ले जाना न चाहती थी।

सो जब ये थोड़ी ही दूर आई होगी कि चेलिनीने ज्येष्ठासे कहा-हाँ, बहिन, मैं तो अपने सब गहने-दागीने महलहीमें छोड़ आई हूँ, तू जाकर उन्हें ले-आ न ? तबतक मैं यहीं खड़ी हूँ। बेचारी भोली-भाली ज्येष्ठा इसके झाँसेमें आकर चली गई । वह आँखोंकी ओट हुई होगी कि चेलिनी वहाँसे रवाना होकर अभयकुमारके साथ राजगृह आगई । फिर बड़े उत्सवके साथ यहाँ इसका श्रेणिक महाराजके साथ व्याह हो गया । पुण्यके उदयसे श्रेणिककी सब रानियोंमें चेलिनी-के ही भाग्यका सितारा चमका-पट्टरानी यही हुई ।

यह बात ऊपर लिखी जा चुकी है-श्रेणिक एक संन्यासीके उपदेशसे वैष्णवधर्मी हो गये थे और तबसे वे इसी धर्मको पालते थे । महारानी चेलिनी जैनी थी । जिनधर्म पर जन्मसे ही उसकी श्रद्धा थी । इन दो धर्मोंको पालनेवाले पति-पत्नीका अपने अपने धर्मकी उच्चता बाबत रोज रोज थोड़ा बहुत वार्त्तालाप हुआ करता था । पर वह बड़ी शान्तिसे । एक दिन श्रेणिकने चेलिनीसे कहा-प्रिये, उच्च घरानेकी सुशील स्त्रियोंका देव पूछो तो पति है, तब तुम्हें मैं जो कहूँ वह करना चाहिए । मेरी इच्छा है कि एक बार तुम इन विष्णुभक्त सच्चे गुरुओंको भोजन दो । सुनकर महा-रानी चेलिनीने बड़ी नम्रताके साथ कहा-अच्छा नाथ, दूँगी ।

इसके कुछ दिनों बाद चेलनीने कुछ भागवत साधुओंका निमंत्रण किया और बड़े गौरवके साथ उन्हें अपने यहाँ

बुलाया। आकर वे लोग अपना ढोंग दिखलानेके लिये कपट, मायाचारीसे ईश्वराराधन करनेको वैठे। उस समय चेलनीने उनसे पूछा—आप लोग क्या करते हैं? उत्तरमें उन्होंने कहा—देवी, हम लोग मलमूत्रादि अपवित्र वस्तुओंसे भरे इस शरीरको छोड़कर अपने आत्माको विष्णु अवस्थामें प्राप्त कर स्वानुभवका सुख भोगते हैं।

सुनकर चेलनीने उस मंडपमें, जिसमें कि सब साधु ध्यान करनेको वैठे थे, आग लगवादी। आग लगते ही वे सब कौएकी तरह भाग खड़े हुए। यह देख श्रेणिकने बड़े क्रोधके साथ चेलनीसे कहा—आज तुमने साधुओंके साथ बड़ा अनर्थ किया। यदि तुम्हारी उन पर भक्ति नहीं थी, तो क्या उसका यह अर्थ है कि उन्हें जानसे ही मार डालना? वतलाओ उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध किया जिससे तुम उनके जीवनकी ही प्यासी हो उठी?

रानी बोली—नाथ, मैंने तो कोई बुरा काम नहीं किया और जो किया वह उन्हींके कहे अनुसार उनके लिए सुखका कारण था। मैंने तो केवल परोपकार बुद्धिसे ऐसा किया था। जब वे लोग ध्यान करनेको बैठे तब मैंने उनसे पूछा कि आप लोग क्या करते हैं, तब उन्होंने मुझे कहा कि—हम अपवित्र शरीरको छोड़कर उत्तम सुखमय विष्णुपदको प्राप्त करते हैं। तब मैंने सोचा कि—ओहो, ये जब शरीर छोड़कर विष्णुपद प्राप्त करते हैं तब तो बहुत ही अच्छा है और इससे यह और

उत्तम होगा कि यदि ये निरन्तर विष्णु ही बने रहें। संसारमें बार बार आने जानेका इनके पीछे पचड़ा क्यों? यह विचार कर वे निरन्तर विष्णुपदमें रह कर सुख भोगें इस परोपकार बुद्धिसे मैंने मंडपमें आग लगवादी। तब आप ही विचार कर बतलाइए कि इसमें मैंने सिवा परोपकारके कौन बुरा काम किया? और सुनिए, मेरे वचनों पर आपको विश्वास हो, इसके लिए मैं एक कथा आपको सुना हूँ।

"जिस समयकी यह कथा है, उस समय वत्सदेशकी राजधानी कोशाम्बीके राजा प्रजापाल थे। वे अपना राज्य-शासन नीतिके साथ करते हुए सुखसे समय विताते थे। कोशाम्बीमें दो सेठ रहते थे। उनके नाम थे सागरदत्त और समुद्रदत्त। दोनों सेठोंमें परस्पर बहुत प्रेम था। उनका प्रेम सदा ऐसा ही दृढ़ बना रहे, इसके लिए उन्होंने परस्परमें एक शर्त की। वह यह कि—"मेरे यदि पुत्री हुई तो मैं उसका व्याह तुम्हारे लड़केके साथ कर दूँगा और इसी तरह मेरे पुत्र हुआ तो तुम्हें अपनी लड़कीका व्याह उसके साथ कर देना पड़ेगा।"

दोनोंने उक्त शर्त स्वीकार की। इसके कुछ दिनों बाद सागरदत्तके घर पुत्रजन्म हुआ। उसका नाम वसुमित्र रक्खा। पर उसमें एक बड़े आश्चर्यकी बात थी। वह यह कि—वसुमित्र न जाने किस कर्मके उदयसे रातके समय तो एक दिव्य मनुष्य होकर रहता और दिनमें एक भयानक सर्प।

उधर समुद्रदत्तके घर कन्या हुई। उसका नाम रक्खा गया नागदत्ता। वह बड़ी खूबसूरत सुन्दरी थी। उसके पिताने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार उसका ब्याह वसुमित्रके साथ कर दिया। सच है—

नैव वाचा चलत्वं स्यात्सतां कष्टशतैरपि।

सत्पुरुष सैकड़ों कष्ट सह लेते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञासे कभी विचलित नहीं होते। वसुमित्रका ब्याह हो गया। वह अब प्रतिदिन दिनमें तो सर्प बनकर एक पिटारेमें रहता और रातमें एक दिव्य पुरुष होकर अपनी प्रियाके साथ सुखोपभोग करता। सचमुच संसारकी विचित्र ही स्थिति होती है। इसी तरह उसे कई दिन बीत गये। एक दिन नागदत्ताकी माता अपनी पुत्रीको एक ओर तो यौवन अवस्थामें पदार्पण करती और दूसरी ओर उसके विपरीत भाग्यको देखकर दुखी होकर बोली—हाय! दैवकी कैसी विटम्बना है, जो कहाँ तो देवकुमारी सरीखी सुन्दरी मेरी पुत्री और कैसा उसका अभाग्य जो उसे पति मिला एक भयंकर सर्प! उसकी दुःख भरी आहको नागदत्ताने सुन लिया। वह दौड़ी आकर अपनी मासे बोली—मा, इसके लिए आप क्यों दुःख करती हैं। मेरा जब भाग्य ही ऐसा है, तब उसके लिए दुःख करना व्यर्थ है। और अभी मुझे विश्वास है कि मेरे स्वामीका इस दशासे उद्धार हो सकता है। इसके बाद नागदत्ताने अपनी मांको स्वामीके उद्धारके सम्बन्धकी बात समझादी।

सदाके नियमानुसार आज भी रातके समय वसुमित्र अपना सर्प-शरीर छोड़कर मनुष्य रूपमें आया और अपने शय्या-भवनमें पहुँचा । इधर समुद्रदत्ता छुपे हुए आकर वसुदत्तके पिटारेको वहाँसे उठा ले-आई और उसी समय उसने उसे जला डाला । तबसे वसुमित्र मनुष्य रूपमें ही अपनी प्रियाके साथ सुख भोगता हुआ अपना समय आनन्दसे बिताने लगा ।” नाथ, उसी तरह ये साधु भी निरन्तर विष्णुलोकमें रहकर सुख भोगें यह मेरी इच्छा थी; इसलिए मैंने वैसा किया था । महारानी चेलनीकी कथा सुनकर श्रेणिक उत्तर तो कुछ नहीं दे सके,पर वे उस पर बहुत गुस्सा हुए और उपयुक्त समय न देखकर वे अपने क्रोधको उस समय दबा गये ।

एक दिन श्रेणिक शिकारके लिए गये हुए थे । उन्होंने वनमें यशोधर मुनिराजको देखा । वे उस समय आतप योग धारण किये हुए थे । श्रेणिकने उन्हें शिकारके लिए विघ्नरूप समझ कर मारनेका विचार किया और बड़े गुस्सेमें आकर अपने क्रूर शिकारी कुत्तोंको उन पर छोड़ दिया । कुत्ते बड़ी निर्दयताके साथ मुनिके खानेको झपटे । पर मुनिराजकी तपस्याके प्रभावसे वे उन्हें कुछ कष्ट न पहुँचा सके । बल्कि उनकी प्रदक्षिणा देकर उनके पाँवोंके पास खड़े रह गये । यह देख श्रेणिकको और भी क्रोध आया । उन्होंने क्रोधान्ध होकर मुनि पर बाण चलाना आरंभ किया । पर यह कैसा

आश्चर्य जो वाणोंके द्वारा उन्हें कुछ क्षति न पहुँच कर वे ऐसे जान पड़े मानो किसीने उन पर फूलोंकी वर्षा की है। सच बात यह है कि तपस्वियोंका प्रभाव कौन कह सकता है। श्रेणिकने उन मुनिहिंसारूप तीव्र परिणामों द्वारा उस समय सातवें नरककी आयुका वन्ध किया, जिसकी स्थिति तेतीस सागरकी है।

इन सब अलौकिक घटनाओंको देखकर श्रेणिकका पत्थरके समान कठोर हृदय फूलसा कोमल हो गया—उनके हृदयकी सब दुष्टता निकल कर उसमें मुनिके प्रति पूज्यभाव पैदा हो गया। वे मुनिराजके पास गये और भक्तिसे उन्होंने मुनिके चरणोंको नमस्कार किया। यशोधर मुनिराजने श्रेणिकके हितके लिए इस समयको उपयुक्त समझ उन्हें अहिंसामयी पवित्र जिनशासनका उपदेश दिया। उसका श्रेणिकके हृदय पर बहुत असर पड़ा। उनके परिणामोंमें विलक्षण परिवर्तन हो गया। उन्हें अपने कृत कर्म पर अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ। मुनिराजके उपदेशानुसार उन्होंने सम्यक्त्व ग्रहण किया। उसके प्रभावसे, उन्होंने जो सातवें नर्ककी आयुका वन्ध किया था, वह उसी समय घटकर पहले नरकका रह गया। यहाँकी स्थिति चौरासी हजार वर्षोंकी है। ठीक है सम्यग्दर्शनके प्रभावसे भव्यपुरुषोंको क्या प्राप्त नहीं होता।

इसके बाद श्रेणिकने श्रीचित्रगुप्त मुनिराजके पास क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया और अन्तमें भगवान् वर्धमान

स्वामीके द्वारा शुद्ध क्षायिकसम्यक्त्व, जो कि मोक्षका कारण है, प्राप्त कर पूज्य तीर्थंकर नाम प्रकृतिका, बन्ध किया। श्रेणिक महाराज अब तीर्थंकर होकर निर्वाण लाभ करेंगे।

इसलिए भव्यजनोंको इस स्वर्ग-मोक्षके सुख देनेवाले तथा संसारका हित करनेवाले सम्यग्दर्शन रूप रत्नद्वारा अपने-को भूषित करना चाहिए। यह सम्यग्दर्शन रूप रत्न इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके सुखका देनेवाला, दुखोंका नाश करने-वाला और मोक्षका प्राप्त करानेवाला है। विद्वज्जन आत्म, हितके लिए इसीको धारण करते हैं। उस सम्यग्दर्शनका स्वरूप श्रुतसागर आदि मुनिराजोंने कहा है-जिनभगवान्के कहे हुए तत्वोंका श्रद्धान करना-ऐसा विश्वास करना कि भगवान्ने जैसा कहा वही सत्यार्थ है। तब आप लोग भी इस सम्यग्दर्शनको ग्रहण कर आत्म-हित करें, यह मेरी भावना है।

१०८-रात्रिभोजन-त्याग-कथा।

जिन भगवान्, जिनवाणी और गुरुओंको नम-स्कार कर रात्रिभोजनका त्याग करनेसे जिसने फल प्राप्त किया उसकी कथा लिखी जाती है।

जो लोग धर्मरक्षाके लिए रात्रिभोजनका त्याग करते

हैं, वे दोनों लोकमें सुखी होते हैं, यशस्वी होते हैं, दीर्घायु होते हैं, कान्तिमान् होते हैं, और उन्हें सब सम्पदाएँ तथा शान्ति मिलती है। और जो लोग रातमें भोजन करनेवाले हैं वे दरिद्री होते हैं, जन्मान्ध होते हैं, अनेक रोग और व्याधियाँ उन्हें सदा सताये रहती हैं, उनके सन्तान नहीं होती। रातमें भोजन करनेसे छोटे जीव-जन्तु नहीं देख पड़ते। वे खानेमें आजाते हैं। उससे बड़ा पाप-बन्ध होता है। जीवहिंसाका पाप लगता है। मांसका दोष लगता है। इसलिए इस रात्रिभोजनका छोड़ना सबके लिए हितकारी है। और खासकर उन लोगोंको तो छोड़ना ही चाहिए जो मांस नहीं खाते। ऐसे धर्मात्मा श्रावकोंको दिन निकले दो-घड़ी बाद सवेरे और दो-घड़ी दिन बाकी रहे तब शामको भोजन वगैरहसे निर्वृत्त हो जाना चाहिए। समन्तभद्र स्वामीका भी ऐसा ही मत है—"रात्रि-भोजन छोड़नेवालेको सवेरे और शामको आरंभ और अन्तमें दो-दो घड़ी छोड़कर भोजन करना चाहिए।" जो नैष्ठिक श्रावक नहीं हैं उनके लिए पान, सुपारी, इलायची, जल और पवित्र औषधि आदिक विशेष दोषके कारण नहीं हैं। इन्हें छोड़कर और अन्नकी चीजें या मिठाई, फलादिक ये सब कष्ट पड़ने पर भी कभी न खाना चाहिए। और जो भव्य जीवन भरके लिए चारों प्रकारके आहारका रातमें त्याग कर देते हैं उन्हें वर्ष भरमें छह महीनेके उपवासका फल होता है। रात्रिभोजनको

त्याग करनेसे प्रीतिंकर कुमारको फल प्राप्त हुआ था, उसकी विस्तृत कथा अन्य ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है । यहाँ उसका सार लिखा जाता है-

मगधमें सुप्रतिष्ठपुर अच्छा प्रसिद्ध शहर था । अपनी सम्पति और सुन्दरतासे वह स्वर्गसे टक्कर लेता था । जिन धर्मका वहाँ विशेष प्रचार था । जिस समयकी यह कथा है उस समय उसके राजा जयसेन थे । जयसेन धर्मज्ञ, नीति-परायण और प्रजाहितैषी थे ।

यहाँ एक धनमित्र नामका सेठ रहता था । इसकी स्त्री-का नाम धनमित्रा था । दोनोंहीकी जैनधर्म पर अखण्ड प्रीति थी । एक दिन सागरसेन नामके अवधिज्ञानी मुनिको आहार देकर इन्होंने उनसे पूछा-प्रभो, हमें पुत्र-सुख होगा या नहीं ? यदि न हो तो हम व्यर्थकी आशासे अपने दुर्लभ मनुष्य-जीवनको संसारकी मोह-मायामें फँसा रखकर उसका क्यों दुरुपयोग करें ? फिर क्यों न हम पापोंके नाश करनेवाली पवित्र जिनदीक्षा ग्रहण कर आत्महित करें ? मुनिने इनके प्रश्नके उत्तरमें कहा-हाँ अभी: तुम्हारी दीक्षाका समय नहीं आया । कुछ दिन गृहवासमें तुम्हें और ठहरना पड़ेगा । तुम्हें एक महाभाग और कुलभूषण पुत्र-रत्नकी प्राप्ति होगी । वह बड़ा तेजस्वी होगा । उसके द्वारा अनेक प्राणि-योंका उद्धार होगा और वह इसी भवसे मोक्ष जायगा । अवधिज्ञानी मुनिकी यह भविष्यवाणी सुनकर दोनों

दम्पतिको अपार हर्ष हुआ। और सच है, गुरुओंके वचनामृतका पानकर किसे हर्ष नहीं होता।

आजसे ये सेठ सेठानी अपना समय जिनपूजा, अभिषेक, पात्रदान आदि पुण्य कर्मोंमें अधिक देने लगे। कारण इनका यह पूर्ण विश्वास था कि सुखका कारण धर्म ही है। इस प्रकार आनन्द-उत्सवके साथ कुछ दिन बीतने पर धनमित्राने एक प्रतापी पुत्र प्रसव किया। मुनिकी भविष्य वाणी सच हुई। पुत्र-जन्मके उपलक्षमें सेठने बहुत उत्सव किया, दान दिया, पूजा प्रभावना की। बन्धु-बान्धवोंको बड़ा आनन्द हुआ। इस नवजात शिशुको देखकर सबको अत्यन्त प्रीति हुई। इसलिए इसका नाम भी प्रीतिंकर रख दिया गया। शुक्ल द्वितीयाके चन्द्रकी तरह यह दिनों दिन बढ़ने लगा। सुन्दरतामें यह कामदेवसे कहीं बढ़कर था, बड़ा भाग्यवान् था और इसके बलके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या, जब कि यह चरम शरीरका धारी—इसी भवसे मोक्ष जानेवाला है। जब प्रीतिंकर पाँच वर्षका हो गया तब इसके पिताने इसे पढ़ानेके लिए गुरुको सौंप दिया। इसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी और फिर इस पर गुरुकी कृपा हो गई। इससे यह थोड़े ही वर्षोंमें पढ़-लिख कर अच्छा विद्वान् बन गया। कई शास्त्रोंमें इसकी अबाध गति हो गई। गुरु-सेवारूपी नाव द्वारा इसने शास्त्ररूपी समुद्रका प्रायः भाग पार कर लिया। विद्वान् और धनी होकर भी इसे अभिमान

छू तक न गया था । यह सदा लोगोंको धर्मका उपदेश किया करता और पढ़ाता-लिखाता था। इसमें आलस, ईर्षा, मत्सरता आदि दुर्गुणोंका नाम निशान भी न था । यह सबसे प्रेम करता । सबके दुःख–सुखमें सहानुभूति रखता। यही कारण था कि इसे सब ही छोटे बड़े हृयदसे चाहते थे। जयसेन इसकी ऐसी सज्जनता और परोपकार बुद्धि देखकर बहुत खुश हुए । उन्होंने स्वयं इसका वस्त्राभूषणोंसे आदर-सत्कार किया–इसकी इज्जत बढ़ाई।

यद्यपि प्रीतिंकरको धन-दौलतकी कुछ कमी न थी, परन्तु तब भी एक दिन बैठे बैठे इसके मनमें आया कि अपनेको स्वयं भी कमाई करनी चाहिए । कर्तव्यशीलोंका यह काम नहीं कि वे बैठे बैठे अपने बाप-दादोंकी सम्पत्ति पर मजा-मौज उड़ा कर आलसी और कर्तव्य हीन बनें। और न सुपूत पुत्रोंका यह काम ही है । इसलिए मुझे धन कमानेके लिए यत्न करना ही चाहिए। यह विचार कर उसने प्रतिज्ञा की कि जबतकमैं स्वयं कुछ न कमा लूँगा तबतक व्याह न करूँगा। प्रतिज्ञाके साथ ही वह विदेशके लिए रवाना हो गया। कुछ वर्षोंतक विदेशहीमें रहकर इसने बहुत धन कमाया, खूब कीर्ति सम्पादन की। इसे अपने घरसे गये कई वर्ष हो गये थे, इसलिए अब इसे अपने मातापिताकी याद आने लगी । फिर यह बहुत दिनों बाहर न रहकर अपना सब माल-असबाब ले घर लौट आया। सच है,

पुण्यवानोंको लक्ष्मी थोड़े ही प्रयत्नसे मिल जाती है। प्रीतिंकर अपने माता-पितासे मिला। सबहीको बहुत आनन्द हुआ। जयसेनका प्रीतिंकरकी पुण्यवानी और प्रसिद्धि सुनकर उस पर अत्यन्त प्रेम हो गया। उन्होंने तब अपनी कुमारी पृथिवीसुन्दरी, और एक दूसरे देशसे आई हुई वसुन्धरा तथा और भी कई सुन्दर सुन्दर राजकुमारियोंका ब्याह इस महाभागके साथ बड़े ठाट-बाटसे कर दिया। इसके साथ जयसेनने अपना आधा राज्य भी इसे दे दिया। प्रीतिंकरके राज्य प्राप्ति आदिके सम्बन्धकी विशेष कथा यदि जानना हो तो महापुराणका स्वाध्याय करना चाहिए।

प्रीतिंकरको पुण्योदयसे जो राज्य-विभूति प्राप्त हुई उसे वह सुखपूर्वक भोगने लगा। उसके दिन आनन्द-उत्सवके साथ बीतने लगे। इससे यह न समझना चाहिए कि प्रीतिंकर सदा विषयोंमें ही फँसा रहता है। वह धर्मात्मा भी सच्चा था। क्योंकि वह निरंतर जिन भगवान्की अभिषेक-पूजा करता, जो कि स्वर्ग या मोक्षका सुख देनेवाली और बुरे भावों या पापकर्मोंका नाश करनेवाला है। वह श्रद्धा, भक्ति आदि गुणोंसे युक्त हो पात्रोंको दान देता, जो दान महान् सुखका कारण है। वह जिनमन्दिरों, तीर्थक्षेत्रों, जिनप्रतिमाओं आदि सप्त क्षेत्रोंकी, जो कि शान्तिरूपी धानके प्राप्त करानेके कारण हैं, जरूरतोंको अपने धनरूपी जल-वर्षासे पूरी करता, परो-

पकार करना उसके जीवनका एक मात्र उद्देश्य था। वह स्वभावका बड़ा सरल था। विद्वानोंसे उसे प्रेम था। इस प्रकार इस लोक सम्बन्धी और पारमार्थिक कार्योंमें सदा तत्पर रह-कर वह अपनी प्रजाका पालन करता रहता था। प्रीतिंकरका समय इस प्रकार सुखसे बहुत बीतता था। एक वार सुप्रतिष्ठ पुरके सुंदर बगीचेमें सागरसेन नामके मुनि आकर ठहरे थे। उनका वहीं स्वर्गवास हो गया था। उनके बाद फिर इस बगीचेमें आज चारणऋद्धि धारी ऋजुमति और विपुलमति मुनि आये। प्रीतिंकर तब बड़े वैभवके साथ भव्यजनोंको लिए उनके दर्शनोंको गया। मुनिराजके चरणोंकी आठ द्रव्योंसे उसने पूजा की और नमस्कार कर बड़े विनयके साथ धर्मका स्वरूप पूछा। तब ऋजुमति मुनिने उसे इस प्रकार संक्षेपमें धर्मका स्वरूप कहा-

प्रीतिंकर, धर्म उसे कहते हैं जो संसारके दुःखोंसे रक्षा-कर उत्तम सुख प्राप्त करा सके। ऐसे धर्मके दो भेद हैं। एक मुनिधर्म और दूसरा गृहस्थधर्म। मुनियोंका धर्म सर्व त्याग रूप होता है। सांसारिक माया-ममतासे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। और वह उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव-आदि दस आत्मिक शक्तियोंसे युक्त होता है। गृहस्थधर्ममें संसारके साथ लगाव रहता है। घरमें रहते हुए धर्मका पालन करना पड़ता है। मुनिधर्म उन लोगोंके लिए है जिनका आत्मा पूर्ण बलवान् है; जिनमें कष्टोंके सहनेकी पूरी शक्ति है और गृहस्थ

धर्म मुनिधर्मके प्राप्त करनेकी सीढ़ी है। जिस प्रकार एक साथ सौ-पचास सीढ़ियाँ नहीं चढ़ी जा सकतीं उसी प्रकार साधारण लोगोंमें इतनी शक्ति नहीं होती कि वे एकदम मुनि-धर्म ग्रहण कर सकें। उसके अभ्यासके लिए वे क्रम क्रमसे आगे बढ़ते जायँ, इसलिए पहले उन्हें गृहस्थधर्मका पालन करना पड़ता है। मुनिधर्म और गृहस्थधर्ममें सबसे बड़ा भेद यह है कि, पहला साक्षात्मोक्षका कारण है और दूसरा परम्परासे। श्रावकधर्मका मूल कारण है—सम्यग्दर्शनका पालन। यही मोक्ष-सुखका बीज है। बिना इसके प्राप्त किये ज्ञान, चारित्र वगैरहकी कुछ कीमत नहीं। इस सम्यग्द-र्शनको आठ अंगों सहित पालना चाहिए। सम्यक्त्व पाल-नेके पहले मिथ्यात्व छोड़ा जाता है। क्योंकि मिथ्यात्व ही आत्माका एक ऐसा प्रबल शत्रु है जो संसारमें इसे अनन्त कालतक भटकाये करता है और कुगतियोंके असह दुःखोंको प्राप्त कराता है। मिथ्यात्वका संक्षिप्त लक्षण है—जिन भगवा-नके उपदेश किये तत्व या धर्मसे उलटा चलना और यही धर्मसे उलटापन दुःखका कारण है। इसलिए उन पुरुषों-को, जो सुख चाहते हैं, मिथ्यात्वके परित्याग पूर्वक शास्त्रा-भ्यास द्वारा अपनी बुद्धिको काचके समान निर्मल बनानी चाहिए। इसके सिवा श्रावकोंको मद्य, मांस और मधु (शहत) का त्याग करना चाहिए। क्योंकि इनके खानेसे जीवोंको नरकादि दुर्गतियोंमें दुःख भोगना पड़ते हैं। श्रावकोंके

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह व्रत हैं, उन्हें धारण करना चाहिए। रातके भोजनका, चमड़ेमें रखे हुए हींग, जल, घी, तैल आदिका तथा कन्द-मूल, आचार और मक्खनका श्रावकोंको खाना उचित नहीं। इनके खानेसे मांस-त्याग-व्रतमें दोष आता है। जूआ खेलना, चोरी करना, पर स्त्री सेवन, वेश्या सेवन, शिकार करना, मांस खाना, मदिरा पीना, ये सात व्यसन-दुःखोंकी देनेवाली आदतें हैं। कुल, जाति, धन, जन, शरीर सुख, कीर्त्ति, मान-मर्यादा आदिकी नाश करनेवाली हैं। श्रावकोंको इन सबका दूरसे ही काला मुँह कर देना चाहिए। इसके सिवा जलका छानना, पात्रोंको भक्ति पूर्वक दान देना श्रावकोंका कर्त्तव्य होना चाहिए। ऋषियोंने पात्र तीन प्रकार बतलाये हैं। उत्तम पात्र—मुनि, मध्यम पात्र—व्रती श्रावक और जघन्य पात्र—अविरत-सम्यग्दृष्टि। इनके सिवा कुछ लोग और ऐसे हैं, जो दानपात्र होते हैं—दुखी, अनाथ, अपाहिज आदि, जिन्हें कि दयाबुद्धिसे दान देना चाहिए। पात्रोंको जो थोड़ा भी दान देते हैं उन्हें उस दानका फल वटबीजकी तरह अनन्त गुणा मिलता है। श्रावकोंके और भी आवश्यक कर्म हैं, जैसे—स्वर्ग-मोक्षके सुखकी कारण जिन भगवानकी जलादि द्रव्यों द्वारा पूजा करना, दूध, दही, घी, साँठेका रस आदिसे अभिषेक करना, जिन प्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा कराना, तीर्थयात्रा करना, आदि। ये सब

सुखके कारण और दुर्गतिके दुःखोंके नाश करनेवाले हैं। इस प्रकार धार्मिक जीवन बनाकर अन्तमें भगवान्का स्मरण-चिंतन पूर्वक संन्यास लेना चाहिए। यही जीवनके सफलताका सीधा और सच्चा मार्ग है। इस प्रकार मुनिराज द्वारा धर्मका उपदेश सुनकर बहुतेरे सज्जनोंने व्रत, नियमादिकोंको ग्रहण किया। जैनधर्म पर उनकी गाढ़ श्रद्धा हो गई। प्रीतिंकरने मुनिराजको नमस्कार कर पुनः प्रार्थना की—हे करुणाके समुद्र योगिराज, कृपाकर मुझे मेरे पूर्व भवका हाल सुनाइए। मुनिराजने तब यों कहना शुरू किया—

" प्रीतिंकर, इसी बगीचेमें पहले तपस्वी सागरसेन मुनि आकर ठहरे थे। उनके दर्शनोंके लिए राजा वगैरह प्रायः सब ही नगर निवासी बड़े गाजे-बाजे और आनन्द-उत्सवके साथ आये थे। वे मुनिराजकी पूजा-स्तुति कर वापिस शहरमें चले गये। इसी समय एक सियारने इनके गाजे-बाजेके शब्दोंको सुनकर यह समझा कि ये लोग किसी मुर्देको डालकर गये हैं। सो वह उसे खानेके लिए आया। उसे आता देख मुनिने अवधिज्ञानसे जान लिया कि यह मुर्देको खानेके अभिप्रायसे इधर आ रहा है। पर यह है भव्य और व्रतोंको धारण कर मोक्ष जायगा। इसलिए इसे सुलटाना आवश्यक है। यह विचार कर मुनिराजने उसे समझाया— अज्ञानी पशो, तुझे मालूम नहीं कि पापका परिणाम बहुत ही बुरा होता है। देख, पापके ही फलसे तुझे आज इस

पर्यायमें आना पड़ा और फिर भी तू पाप करनेसे मुँह न मोड़कर मुर्देको खानेके लिए इतना व्यग्र हो रहा है, यह कितने आश्चर्यकी बात है। तेरी इस इच्छाको धिक्कार है। प्रिय, जबतक कि तू नरकोंमें न गिरे इसके पहले ही तुझे यह महापाप छोड़ देना चाहिए। तूने जिनधर्मको न ग्रहण कर आजतक दुःख उठाया, पर अब तेरे लिए बहुत अच्छा समय उपस्थित है। इसलिए तू इस पुण्य-पथ पर चलना सीख। सियारका होनहार अच्छा था या उसकी काल-लब्धि आगई थी। यही कारण था कि मुनिके उपदेशको सुन कर वह बहुत शान्त हो गया। उसने जान लिया कि मुनिराज मेरे हृदयकी वासनाको जान गये। उसे इस प्रकार शान्त देखकर मुनि फिर बोले—प्रिय, तू और और व्रतोंको धारण नहीं कर सकता, इस लिए सिर्फ रातमें खाना-पीना ही छोड़दे। यह व्रत सर्व व्रतोंका मूल है, सुखका देनेवाला है और चित्तका प्रसन्न करनेवाला है। सियारने उपकारी मुनिराजके वचनोंको मान कर रात्रिभोजन-त्याग-व्रत ले-लिया। कुछ दिनोंतक तो इसने केवल इसी व्रतको पाला। इसके बाद इसने मांस वगैरह भी छोड़ दिया। इसे जो कुछ थोड़ा बहुत पवित्र खाना मिल जाता, यह उसीको खाकर रह जाता। इस वृत्तिसे इसे सन्तोष बहुत हो गया था। बस यह इसी प्रकार समय विताता और मुनिराजके चरणोंका स्मरण किया करता।

इस प्रकार कभी खानेको मिलने और कभी न मिलनेसे यह सियार बहुत ही दुबला हो गया। ऐसी दशामें एक दिन इसे केवल सूखा भोजन खानेको मिला। समय गर्मीका था। इसे बड़े जोरकी प्यास लगी। इसके प्राण छट-पटाने लगे। यह एक कुए पर पानी पीनेको गया। भाग्यसे कुएका पानी वहुत नीचा था। जब यह कुएमें उतरा तो इसे अँधेरा ही अँधेरा दीखने लगा। कारण सूर्यका प्रकाश भीतर नहीं पहुँच पाता था। इसलिए सियारने समझा कि रात हो गई, सो वह विना पानी पीये ही कुएके बाहर आगया। बाहर आकर जब उसने दिन देखा तो फिर वह भीतर उतरा और भीतर पहलेसा अँधेरा देखकर रातके भ्रमसे फिर लौट आया। इस प्रकार वह कितनी ही बार आया-गया, पर जल उसने नहीं पी पाया। अन्तमें वह इतना अशक्त हो गया कि उससे कुएसे बाहर नहीं आया गया। उसने तब उस घोर अँधेरेको देखकर सूरजको अस्त हुआ समझ लिया और वहीं वह संसार समुद्रसे पार करनेवाले अपने गुरु मुनिराजका स्मरण-चिन्तन करने लगा। तृषारूपी आग उसे जलाये डालती थी, तब भी वह अपने व्रतमें बड़ा दृढ़ रहा। उसके परिणाम क्लेशरूप या आकुल-व्याकुल न होकर बड़े शान्त रहे। उसी दशामें वह मरकर कुवेरदत्त और उसकी स्त्री धनमित्राके तू प्रीतिंकर पुत्र हुआ है। तेरा यही अन्तिम शरीर है। अब तू कर्मोंका नाश कर मोक्ष जायगा। इसलिए सत्पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि

वे कष्ट समयमें व्रतोंकी दृढ़तासे रक्षा करें।" मुनिराज द्वारा प्रीतिंकरका यह पूर्वजन्मका हाल सुन उपस्थित मंडलीकी जिन धर्म पर अचल श्रद्धा हो गई। प्रीतिंकरको अपने इस वृत्तान्तसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने जैनधर्मकी बहुत प्रशंसा की और अन्तमें उन स्व-परोपकारके करनेवाले मुनिराजोंको भक्तिसे नमस्कार कर व्रतोंके प्रभावको हृदयमें विचारता हुआ वह घर पर आया। मुनिराजके उपदेशका उस पर बहुत गहरा असर पड़ा। उसे अब संसार अथिर, विषय-भोग दुःखोंके देनेवाले, शरीर अपवित्र वस्तुओंसे भरा, महा घिनौना और नाश होनेवाला, धन-दौलत बिजलीकी तरह चंचल और केवल बाहरसे सुन्दर देख पड़नेवाली तथा स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु आदि, ये सब अपने आत्मासे पृथक जान पड़ने लगे। उसने तब इस मोहजालको, जो केवल फँसाकर संसारमें भटकानेवाला है, तोड़ देना ही उचित समझा। इस शुभ संकल्पको दृढ़ होते ही पहले प्रीतिंकरने अभिषेक पूर्वक भगवान्की सब सुखोंकी देनेवाली पूजा की, खूब दान किया और दुखी, अनाथ, अपाहिजोंकी सहायता की। अन्तमें वह अपने प्रियंकर पुत्रको राज्य देकर अपने बन्धु, बान्धवोंकी सम्मतिसे योग लेनेके लिए विपुलाचल पर भगवान् वर्द्धमानके समवसरणमें गया और उन त्रिलोक पूज्य भगवान्के पवित्र दर्शन कर उसने भगवान्के द्वारा जिनदीक्षा ग्रहण करली। इसके बाद प्रीतिंकर मुनिने

खूब दुःसह तपस्या की और अन्तमें शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मोंका नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया। अब वे लोकालोकके सब पदार्थोंको हाथकी रेखाओंके समान साफ साफ जानने देखने लग गये। उन्हें केवलज्ञान प्राप्त किया सुन विद्याधर, चक्रवर्ती, स्वर्गके देव, आदि बड़े बड़े महापुरुष उनके दर्शन-पूजनको आने लगे। प्रीतिंकर भगवान्‌ने तब संसार-तापको नाश करनेवाले परम पवित्र उपदेशामृतसे अनेक जीवोंको दुःखोंसे छुटाकर सुखी बनाये। अन्तमें अघातिया कर्मोंका भी नाश कर वे परम धाम—मोक्ष सिधार गये। आठ कर्मोंका नाश कर आठ आत्मिक महान् शक्तियोंको उन्होंने प्राप्त किया। अब वे संसारमें न आकर अनन्तकाल तक वहीं रहेंगे। वे प्रीतिंकर स्वामी मुझे शान्ति प्रदान करें। प्रीतिंकरका यह पवित्र और कल्याण करनेवाला चरित आप भव्यजनोंको और मुझे सम्यग्ज्ञानके लाभका कारण हो। यह मेरी पवित्र भावना है।

एक अत्यन्त अज्ञानी पशुयोनिमें जन्मे सियारने भगवान्‌के पवित्र धर्मका थोड़ासा आश्रय पा अर्थात् केवल रात्रि-भोजन-त्याग-व्रत स्वीकार कर मनुष्य जन्म लिया और उसमें खूब सुख भोगकर अन्तमें अविनाशी मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त की। तब आप लोग भी क्यों न इस अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिए पवित्र जैनधर्ममें अपने विश्वासको दृढ करें।

१०९-दान करनेवालोंकी कथा।

जगद्गुरु तीर्थंकर भगवान्‌को नमस्कार कर पात्र दानके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

जिन भगवान्‌के मुखरूपी चन्द्रमासे जन्मी पवित्र जिनवाणी ज्ञानरूपी महा समुद्रसे पार करनेके लिए मुझे सहायता दे-मुझे ज्ञान-दान दे।

उन साधु रत्नोंको मैं भक्तिसे नमस्कार करता हूँ, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारक हैं, परिग्रह-कनक-कामिनी आदिसे रहित वीतरागी हैं और सांसारीक सुख तथा मोक्ष सुखकी प्राप्तिके कारण हैं।

पूर्वाचार्योंने दानको चार हिस्सोंमें बाँटा है, जैसे-आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान। और ये ही दान पवित्र हैं। योग्य पात्रोंको यदि ये दान दिये जायँ तो इनका फल अच्छी जमीनमें बोये हुए वड़के बीजकी तरह अनन्त गुणा होकर फलता है। जैसे एक ही बावड़ीका पानी अनेक वृक्षोंमें जाकर नाना रूपमें परिणत होता है उसी तरह पात्रोंके भेदसे दानके फलमें भी भेद हो जाता है। इसलिए जहाँतक बने अच्छे सुपात्रोंको दान देना चाहिए। सब पात्रोंमें जैनधर्मका आश्रय लेनेवालेको अच्छा पात्र समझना चाहिए, औरोंको नहीं। क्योंकि जब

एक कल्पवृक्ष हाथ लग गया फिर औरोंसे क्या लाभ ? जैनधर्ममें पात्र तीन बतलाये गये हैं । उत्तम पात्र मुनि, मध्यम पात्र—व्रती श्रावक और जघन्य पात्र—अव्रतसम्यग्दृष्टि। इन तीन प्रकारके पात्रोंको दान देकर भव्य पुरुष जो सुख लाभ करते हैं उसका वर्णन मुझसे नहीं किया जा सकता। परन्तु संक्षेपमें यह समझ लीजिए कि धन-दौलत, स्त्री-पुत्र, खान-पान, भोग-उपभोग आदि जितनी उत्तम उत्तम सुख-सामग्री है वह, तथा इन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि महा पुरुषोंकी पदवियाँ, अच्छे सत्पुरुषोंकी संगति, दिनों दिन ऐश्वर्यादिकी बढ़वारी, ये सब पात्रदानके फलसे प्राप्त होते हैं। न यही, किन्तु इस पात्रदानके फलसे मोक्ष प्राप्ति भी सुलभ है। राजा श्रेयांसने दानके ही फलसे मुक्ति लाभ किया था। इस प्रकार पात्रदानका अचिन्त्य फल जानकर बुद्धिवानोंको इस ओर अवश्य अपने ध्यानको खींचना चाहिए। जिन जिन सत्पुरुषोंने पात्रदानका आजतक फल पाया है, उन सबके नाम मात्रका उल्लेख भी जिन भगवान्के विना और कोई नहीं कर सकता, तब उनके सम्बन्धमें कुछ कहना या लिखना मुझसे मतिहीन मनुष्योंके लिए तो असंभव ही है । आचार्योंने ऐसे दानियोंमें सिर्फ चार जनोंका उल्लेख शास्त्रोंमें किया है। इस कथामें उन्हींका संक्षिप्त चरित मैं पुराने शास्त्रोंके अनुसार लिखूँगा। उन दानियोंके नाम हैं—श्रीषेण, वृषभसेना, कौण्डेश और एक

पशु वराह–सूअर। इनमें श्रीषेणने आहारदान, वृषभसेनाने औषधिदान, कौंडेशने शास्त्रदान और सूअरने अभयदान दिया था। उनकी क्रमसे कथा लिखी जाती है।

प्राचीन कालमें श्रीषेण राजाने आहारदान दिया। उसके फलसे वे शान्तिनाथ तीर्थंकर हुए। श्रीशान्तिनाथ भगवान् जय लाभ करें, जो सब प्रकारका सुख देकर अन्तमें मोक्ष सुखके देनेवाले हैं। और जिनका पवित्र चरितका सुनना परम शान्तिका कारण है। ऐसे परोपकारी भगवान्का परम पवित्र और जीवमात्रका हित करनेवाला चरित आप लोग भी सुनें, जिसे सुनकर आप सुखलाभ करेंगे।

प्राचीन कालमें इसी भारतवर्षमें मलय नामका एक अति प्रसिद्ध देश था। रत्नसंचयपुर इसीकी राजधानी थी। जैनधर्मका इस सारे देशमें खूब प्रचार था। उस समय इसके राजा श्रीषेण थे। श्रीषेण धर्मज्ञ, उदारमना, न्यायप्रिय, प्रजाहितैषी, दानी और बड़े विचारशील थे। पुण्यसे प्रायः अच्छे अच्छे सभी गुण उन्हें प्राप्त थे। उनका प्रतिद्वंद्वी या शत्रु कोई न था। वे राज्य निर्विघ्न किया करते थे। सदाचारमें उस समय उनका नाम सबसे ऊँचा था। उनकी दो रानियाँ थीं। उनके नाम थे सिंहनन्दिता और अनन्दिता। दोनों ही अपनी अपनी सुन्दरतामें अद्वितीय थीं, विदुषी और सती थीं। इन दोनोंके दो पुत्र हुए। उनके नाम इन्द्रसेन और उपेन्द्रसेन थे। दोनों ही भाई सुन्दर थे, गुणी थे,

शूरवीर थे और हृदयके बड़े शुद्ध थे। इस प्रकार श्रीषेण धन-सम्पति, राज्य-विभव, कुटुम्ब-परिवार आदिसे पूरे सुखी थे। प्रजाका नीतिके साथ पालन करते हुए वे अपने समयको बड़े आनन्दके साथ बिताते थे।

यहाँ एक सात्यकि ब्राह्मण रहता था। इसकी स्त्रीका नाम जंघा था। इसके सत्यभामा नामकी एक लड़की थी। रत्नसंचय पुरके पास बल नामका एक गाँव बसा हुआ था। उसमें धरणीजट नामका ब्राह्मण वेदोंका अच्छा विद्वान् था। अग्नीला इसकी स्त्री थी। अग्नीलासे दो लड़के हुए। उनके नाम इन्द्रभूति और अग्निभूति थे। इसके यहाँ एक दासी-पुत्र (शूद्र) का लड़का रहता था। उसका नाम कपिल था। धरणी-जट जब अपने लड़कोंको वेदादिक पढ़ाया करता, उस समय कपिल भी बड़े ध्यानसे उस पाठको चुपचाप छुपे हुए सुन लिया करता था। भाग्यसे कपिलकी बुद्धि बड़ी तेज थी। सो वह अच्छा विद्वान् हो गया। एक दासी-पुत्र भी पढ़-लिख कर महा विद्वान् बन गया, इसका धरणीजटको बड़ा आश्चर्य हुआ। पर सच तो यह है कि बेचारा मनुष्य करे भी क्या, बुद्धि तो कर्मोंके अनुसार होती है न? जब सर्व साधारणमें कपिलके विद्वान् हो जानेकी चर्चा उठी तब धरणीजट पर ब्राह्मण लोग बड़े बिगड़े और उसे डराने लगे कि तूने यह बड़ा भारी अन्याय किया जो दासी-पुत्रको पढ़ाया। इसका फल तुझे बहुत बुरा भोगना पड़ेगा। अपने पर अपने

जातीय भाइयोंको इस प्रकार क्रोध उगलते देख धरणीजट बड़ा घबराया। तब डरसे उसने कपिलको अपने घरसे निकाल दिया। कपिल उस गाँवसे निकल रास्तेमें ब्राह्मण बन गया और इसी रूपमें वह रत्न संचयपुर आगया। कपिल विद्वान् और सुन्दर था। इसे उस सात्यकि ब्राह्मणने देखा, जिसका कि ऊपर जिकर आचुका है। इसके गुण रूपको देखकर सात्यकि बहुत प्रसन्न हुआ। उसके मन पर यह बहुत चढ़ गया। तब सात्यकिने इसे ब्राह्मण ही समझ अपनी लड़की सत्यभामाका इसके साथ व्याह कर दिया। कपिल अनायास इस स्त्री-रत्नको प्राप्त कर सुखसे रहने लगा। राजाने इसके पाण्डित्यकी तारीफ सुन इसे अपने यहाँ पुराण कहनेको रख लिया। इस तरह कुछ वर्ष बीते। एकबार सत्यभामा ऋतुमती हुई। सो उस समय भी कपिलने उससे संसर्ग करना चाहा। उसके इस दुराचारको देखकर सत्यभामाको इसके विषयमें सन्देह हो गया। उसने इस पापीको ब्राह्मण न समझ इससे प्रेम करना छोड़ दिया। वह इससे अलग रह दुःखके साथ अपनी जिन्दगी बिताने लगी।

इधर धरणीजटके कोई ऐसा पापका उदय आया कि जिससे उसकी सब धन-दौलत बरबाद हो गई। वह भिखारीसा हो गया। उसे मालूम हुआ कि कपिल रत्नसंचयपुरमें अच्छी हालतमें है। राजा द्वारा उसे धन-मान खूब प्राप्त है। वह तब उसी समय सीधा कपिलके पास आया।

उसे दूरहीसे देखकर कपिल मनही मन धरणीजट पर बड़ा गुस्सा हुआ। अपनी बढ़ी हुई मान-मर्यादाके समय इसका अचानक आजाना कपिलको बहुत खटका। पर वह कर क्या सकता था। उसे साथ ही इस बातका बड़ा भय हुआ कि कहीं वह मेरे सम्बन्धमें लोगोंको भड़का न दे। यही सब विचार कर वह उठा और बड़ी प्रसन्नतासे सामने जाकर धरणीजटको इसने नमस्कार किया और बड़े मानसे लाकर उसे ऊँचे आसन पर बैठाया। इसके बाद उसने—पिताजी, मेरी मा, भाई आदि सब सुखसे तो हैं न? इस प्रकार कुशल समाचार पूछ कर धरणीजटको स्नान, भोजन कराया और उसका वस्त्रादिसे खूब सत्कार किया। फिर सबके आगे एक खास मानकी जगह बैठाकर कपिलने सब लोगोंको धरणीजटका परिचय कराया कि ये ही मेरे पिताजी हैं। बड़े विद्वान् और आचार-विचारवान् हैं। कपिलने यह सब मायाचार इसीलिए किया था कि कहीं उसकी माताका सब भेद खुल न जाय। धरणीजट दरिद्री हो रहा था। धनकी उसे चाह थी ही, सो उसने उसे अपना पुत्र मानलेनेमें कुछ भी आनाकानी न की। धनके लोभसे उसे यह पाप स्वीकार कर लेना पड़ा। ऐसे लोभको धिक्कार है, जिसके वश हो मनुष्य हर एक पापकर्म कर डालता है। तब धरणीजट वहीं रहने लग गया। यहाँ रहते इसे कई दिन हो चुके। सबके साथ इसका थोड़ा बहुत

परिचय भी हो गया। एक दिन मौका पाकर सत्यभामाने इसे कुछ थोड़ा बहुत द्रव्य देकर एकान्तमें पूछा-महाराज, आप ब्राह्मण हैं और मेरा विश्वास है कि ब्राह्मण देव कभी झूठ नहीं बोलते। इसलिए कृपाकर मेरे सन्देहको दूर कीजिए। मुझे आपके इन कपिलजीका दुराचार देख यह विश्वास नहीं होता कि ये आप सरीखे पवित्र ब्राह्मणके कुलमें उत्पन्न हुए हों, तब क्या वास्तवमें ये ब्राह्मण ही हैं या कुछ गोलमाल है। धरणीजटको कपिलसे इसलिए द्वेष हो ही रहा था कि भरी सभामें कपिलने उसे अपना पिता बता उसका अपमान किया था। और दूसरे उसे धनकी चाह थी, सो उसके मनके माफिक धन सत्यभामाने उसे पहले ही दे दिया था। तब वह कपिलकी सच्ची हालत क्यों छिपायेगा? जो हो, धरणीजट सत्यभामाको सब हाल कहकर और प्राप्त धन लेकर रत्नसंचय पुरसे चल दिया। सुनकर कपिल पर सत्यभामाकी घृणा पहलेसे कोई सौ गुणी बढ़ गई। उसने तब उससे बोलना-चालना तक छोड़कर एकन्तावास स्वीकार कर लिया, पर अपने कुलाचारकी मान-मर्यादाको न छोड़ा। सत्यभामाको इस प्रकार अपनेसे घृणा करते देख कपिल उससे बलात्कार करने पर उतारु हो गया। तब सत्यभामा घरसे भागकर श्रीषेण महाराजकी शरण आगई और उसने सब हाल उनसे कह दिया। श्रीषेणने तब उस पर दयाकर उसे अपनी लड़कीकी तरह अपने यहीं रख लिया। कपिल

सत्यभामाके अन्यायकी पुकार लेकर श्रीषेणके पास पहुँचा। उसके व्यभिचारकी हालत उन्हें पहले ही मालूम हो चुकी थी, इसलिए उसकी कुछ न सुनकर श्रीषेणने उस लम्पटी और कपटी ब्राह्मणको अपने देशहीसे निकाल दिया। सो ठीक ही है राजोंको सज्जनोंकी रक्षा और दुष्टोंको सजा करनी ही चाहिए। ऐसा न करने पर वे अपने कर्त्तव्यसे च्युत होते हैं और प्रजाके धनहारी हैं।

एक दिन श्रीषेणके यहाँ आदित्यगति और अरिंजय नामके दो चारणऋद्धिके धारी मुनिराज पृथिवीको अपने पाँवोंसे पवित्र करते हुए आहारके लिए आये। श्रीषेणने बड़ी भक्तिसे उनका आह्वान कर उन्हें पवित्र आहार कराया। इस पात्रदानसे उनके यहाँ स्वर्गके देवोंने रत्नोंकी वर्षा की, कल्पवृक्षोंके सुन्दर और सुगन्धित फूल बरसाये, दुंदुभी वाजे वजे, मन्द-सुगन्ध वायु वहा और जय जय कार हुआ—खूब वधाइयाँ मिलीं। और सच है, सुपात्रोंको दिये दानके फलसे क्या नहीं हो पाता। इसके बाद श्रीषेणने और बहुत वर्षोंतक राज्य-सुख भोगा। अन्तमें मरकर वे धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागकी उत्तर-कुरु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए। सच है, साधुओंकी संगतिसे जब मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है तब कौन ऐसी उससे भी बढ़कर वस्तु होगी जो प्राप्त न हो। श्रीषेणकी दोनों रानियाँ तथा सत्यभामा भी इसी उत्तरकुरु भोगभूमिमें जाकर उत्पन्न

हुईं। ये सब इस भोगभूमिमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे मिल- नेवाले सुखोंको भोगते हैं और आनन्दसे रहते हैं। यहाँ इन्हें कोई खाने-कमानेकी चिन्ता नहीं करना पड़ती है। पुण्यो- दयसे प्राप्त हुए भोगोंको निराकुलता ये आयु पूर्ण होने तक भोगेंगे। यहाँकी स्थिति बड़ी अच्छी है। यहाँके निवासि- योंको कोई प्रकारकी बीमारी, शोक, चिन्ता, दरिद्रता आदिसे होनेवाले कष्ट नहीं सता पाते। इनकी कोई प्रकारके अपघातसे मौत नहीं होती। यहाँ किसीके साथ शत्रुता नहीं होती। यहाँ न अधिक जाड़ा पड़ता और न अधिक गर्मी होती है; किन्तु सदा एकसी सुन्दर ऋतु रहती है। यहाँ न किसीकी सेवा करनी पड़ती है और न किसीके द्वारा अपमान सहना पड़ता है। न यहाँ युद्ध है और न कोई किसीका वैरी ही है। यहाँके लोगोंके भाव सदा पवित्र रहते हैं। आयु पूरी होनेतक ये इसी तरह सुखसे रहते हैं। अन्तमें अपने स्वाभाविक सरल भावोंसे मृत्यु लाभ कर ये दानी महात्मा कुछ बाकी बचे पुण्य-फलसे स्वर्गमें जाते हैं। श्रीषे- णने भी भोगभूमिका खूब सुख भोगा। अन्तमें वे स्वर्गमें गये। स्वर्गमें भी मनचाहा दिव्य सुख भोगकर अन्तमें वे मनुष्य हुए। इस जन्ममें ये कई बार अच्छे अच्छे राजघरानेमें उत्पन्न हुए। पुण्यसे फिर स्वर्ग गये। वहाँकी आयु पूरीकर अ- बकी बार भारतवर्षके सुप्रसिद्ध शहर हस्तिनापुरके राजा विश्व- सेनकी रानी ऐराके यहाँ इन्होंने अवतार लिया। यही सोलहवें श्रीशान्तिनाथ तीर्थंकरके नामसे संसारमें प्रख्यात हुए।

इनके जन्म समयमें स्वर्गके देवोंने आकर बड़ा उत्सव किया था, इन्हें सुमेरु पर्वत पर लेजाकर क्षीरसमुद्रके स्फटिकसे पवित्र और निर्मल जलसे इनका अभिषेक किया था। भगवान् शान्तिनाथने अपना जीवन बड़ी ही पवित्रताके साथ बिताया। उनका जीवन संसारका आदर्श जीवन है। अन्तमें योगी हो इन्होंने धर्मका पवित्र उपदेश देकर अनेक जनोंको संसारसे पार किया–दुःखोंसे उनकी रक्षा कर उन्हें सुखी किया। अपना संसारके प्रति जो कर्त्तव्य था उसे पूरा कर इन्होंने निर्वाण लाभ किया। यह सब पात्रदानका फल है। इसलिए जो लोग पात्रोंको भक्तिसे दान देंगे वे भी नियमसे ऐसा ही उच्च सुख लाभ करेंगे। यह बात ध्यानमें रखकर सत्पुरुषोंका कर्त्तव्य है, कि वे प्रतिदिन कुछ न कुछ दान अवश्य करें। यही दान स्वर्ग और मोक्षके सुखका देनेवाला है।

मूलसंघमें कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। वे रत्नत्रय–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके धारी थे। इन्हीं गुरु महाराजकी कृपासे मुझ अल्पबुद्धि नेमिदत्त ब्रह्मचारीने पात्रदानके सम्बन्धमें श्रीशान्तिनाथ भगवान्की पवित्र कथा लिखी है। यह कथा मेरे लिए परम शान्तिकी कारण हो।

११०–औषधिदानकी कथा।

जिन भगवान्, जिनवाणी और जैन साधुओंके चरणोंको नमस्कार कर औषधिदानके सम्बन्धकी कथा लिखी जाती है।

नीरोगी होना, चेहरे पर सदा प्रसन्नता रहना, धनादि विभूतिका मिलना, ऐश्वर्यका प्राप्त होना, सुन्दर होना, तेजस्वी और बलवान् होना, और अन्तमें स्वर्ग या मोक्षका सुख प्राप्त करना ये सब औषधिदानके फल हैं। इसलिए जो सुखी होना चाहते हैं उन्हें निर्दोष औषधिदान करना उचित है। इस औषधिदानके द्वारा अनेक सज्जनोंने फल प्राप्त किया है, उन सबके सम्बन्धमें लिखना औरोंके लिए नहीं तो मुझ अल्प बुद्धिके लिए तो अवश्य असंभव है। उनमेंसे एक वृषभसेनाका पवित्र चरित यहाँ संक्षिप्तमें लिखा जाता है। आचार्योंने जहाँ औषधिदान देनेवालेका उल्लेख किया है वहाँ वृषभसेनाका ही प्रायः कथन आता है। उन्हींका अनुकरण मैं भी करता हूँ।

भगवान्के जन्मसे पवित्र इस भारतवर्षके जनपद नामके देशमें नाना प्रकारकी उत्तमोत्तम सम्पत्तिसे भरा अतएव अपनी सुन्दरतासे स्वर्गकी शोभाको नीची करनेवाला कावेरी नामका नगर है। जिस समयकी यह कथा है, उस समय कावेरी

नगरके राजा उग्रसेन थे। उग्रसेन प्रजाके सच्चे हितैषी और राजनीतिके अच्छे पंडित थे।

यहाँ धनपति नामका एक अच्छा सद्गृहस्थ सेठ रहता था। जिन भगवान्की पूजा-प्रभावनादिसे उसे अत्यन्त प्रेम था। इसकी स्त्री धनश्री इसके घरकी मानों दूसरी लक्ष्मी थी। धनश्री सती और बड़े सरल मनकी थी। पूर्व पुण्यसे इसके वृषभसेना नामकी एक देवकुमारीसी सुन्दरी और सौभाग्यवती लड़की हुई। सच है, पुण्यके उदयसे क्या प्राप्त नहीं होता। वृषभसेनाकी धाय रूपवती इसे सदा नहाया-धुलाया करती थी। इसके नहानेका पानी बह बह कर एक गढ़ेमें जमा हो गया था। एक दिनकी बात है कि रूपवती वृषभसेनाको निल्हा रही थी। इसी समय एक महारोगी कुत्ता उस गढ़ेमें, जिसमें कि वृषभसेनाके नहानेका पानी इकट्ठा हो रहा था, गिर पड़ा। क्या आश्चर्यकी बात है कि जब वह उस पानीमेंसे निकला तो बिलकुल नीरोग देख पड़ा। रूपवती उसे देखकर चकित हो रही। उसने सोचा— केवल साधारण जलसे इस प्रकार रोग नहीं जा सकता। पर यह वृषभसेनाके नहानेका पानी है। इसमें इसके पुण्यका कुछ भाग जरूर होना चाहिए। जान पड़ता है वृषभ-सेना कोई बड़ी भाग्यशालिनी लड़की है। ताज्जुब नहीं कि यह मनुष्य रूपिणी कोई देवी हो! नहीं तो इसके नहानेके जलमें ऐसी चकित करनेवाली करामात हो ही नहीं

सकती। इस पानीकी और परीक्षा कर देखलूँ, जिससे और भी दृढ़ विश्वास हो जायगा कि यह पानी सचमुच ही क्या रोगनाशक है? तब रूपवती थोड़ेसे उस पानीको लेकर अपनी माके पास आई। इसकी माकी आँखे कोई बारह वर्षोंसे खराब हो रही थीं। इससे वह बड़ी दुःखमें थी। आँखोंको रूपवतीने इस जलसे धोकर साफ किया और देखा तो उनका रोग बिलकुल जाता रहा। वे पहलेसी बड़ी सुन्दर हो गईं। रूपवतीको वृषभसेनाके महा पुण्यवती होनेमें अब कोई सन्देह न रह गया। इस रोग नाश करनेवाले जलके प्रभावसे रूपवतीकी चारों ओर बड़ी प्रसिद्धि हो गई। बड़ी बड़ी दूरके रोगी अपने रोगका इलाज करानेको आने लगे। क्या आँखोंके रोगको, क्या पेटके रोगको, क्या सिर सम्बन्धी पीड़ाओंको, और क्या कोढ़ वगैरह रोगोंको, यही नहीं किन्तु जहर सम्बन्धी असाध्यसे असाध्य रोगोंको भी रूपवती केवल एक इसी पानीसे आराम करने लगी। रूपवती इससे बड़ी प्रसिद्ध हो गई।

उग्रसेन और मेघपिङ्गल राजाकी पुरानी शत्रुता चली आ रही थी। इस समय उग्रसेनने अपने मंत्री रणपिङ्गलको मेघपिङ्गल पर चढ़ाई करनेकी आज्ञा दी। रणपिङ्गल सेना लेकर मेघपिङ्गल पर जा चढ़ा और उसके सारे देश-को उसने घेर लिया। मेघपिंगलने शत्रुको युद्धमें पराजित करना कठिन समझ दूसरी ही युक्तिसे उसे देशसे निकाल

बाहर करना विचारा और इसके लिए उसने यह योजना की कि शत्रुकी सेनामें जिन जिन कुए बावड़ीसे पीनेको जल आता था उन सबमें अपने चतुर जासूसों द्वारा विष घुलवा दिया। फल यह हुआ कि रणपिंगलकी बहुतसी सेना तो मर गई और बची हुई सेनाको साथ लिए वह स्वयं भी भागकर अपने देश लौट आया। उसकी सेना पर तथा उस पर जो विषका असर हुआ था, उसे रूपवतीने उसी जलसे आराम किया। गुरुओंके वचनामृतसे जैसी जीवोंको शान्ति मिलती है रणपिंगलको उसी प्रकार शान्ति रूपवतीके जलसे मिली और वह रोगमुक्त हुआ।

रणपिङ्गलका हाल सुनकर उग्रसेनको मेघपिङ्गल पर बड़ा क्रोध आया और तब स्वयं उन्होंने उस पर चढ़ाई की। उग्रसेनने अबकी बार अपने जानते सावधानी रखनेमें कोई कसर न की। पर भाग्यका लेख किसी तरह नहीं मिटता। मेघपिङ्गलका चक्र उग्रसेन पर भी चल गया। जहर मिले जलको पीकर उनकी भी तबीयत बहुत बिगड़ गई। तब जितना जल्दी उनसे बन सका अपनी राजधानीमें उन्हें लौट आना पड़ा। उनका भी बड़ा ही अपमान हुआ। रणपिंगलसे उन्होंने, वह कैसे आराम हुआ था, इस बाबत पूछा। रणपिंगलने रूपवतीका जल बतलाया। उग्रसेनने तब उसी समय अपने आदमियोंको जल ले-आनेके लिए सेठके यहाँ भेजा। अपनी लड़कीका स्नान-जल लेनेको राजाके आद-

मियोंको आया देख सेठानी धनश्रीने अपने स्वामीसे कहा-क्योंजी, अपनी वृषभसेनाका स्नान-जल राजाके सिर पर छिड़का जाय यह तो उचित नहीं जान पड़ता। सेठने कहा-तुम्हारा यह कहना ठीक है, परन्तु जिसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं तब क्या किया जाय। इसमें अपने वसकी क्या वात है? हम तो न जान-बूझ कर ऐसा करते हैं और न सच्चा हाल किसीसे छुपाते ही हैं, तब इसमें अपना तो कोई अपराध नहीं हो सकता। यदि राजा साहबने पूछा तो हम सब हाल उनसे यथार्थ कह देंगे। सच है, अच्छे पुरुष प्राण जाने पर भी झूठ नहीं वोलते। दोनोंने विचार कर रूपवतीको जल देकर उग्रसेनके महल पर भेजा। रूपवतीने उस जलको राजाके सिर पर छिड़क कर उन्हें आराम कर दिया। उग्रसेन रोगमुक्त हो गये। उन्हें वहुत खुशी हुई। रूपवतीसे उन्होंने उस जलका हाल पूछा। रूपवतीने कोई बात न छुपाकर जो बात सच्ची थी वह राजासे कहदी। सुनकर राजाने धनपति सेठको बुलाया और उसका वड़ा आदर-सत्कार किया। वृषसेनाका हाल सुनकर ही उग्रसेनकी इच्छा उसके साथ ब्याह करनेकी हो गई थी और इसीलिए उन्होंने मौका पाकर धनपतिसे अपनी इच्छा कह सुनाई। धनपतिने उसके उत्तरमें कहा-राजराजेश्वर, मुझे आपकी आज्ञा मानलेनेमें कोई रुकावट नहीं है। पर इसके साथ आपको स्वर्ग-मोक्षकी देनेवाली और जिसे इन्द्र, स्वर्गवासी

देव, चक्रवर्ती, विद्याधर, राजे-महाराजे आदि महापुरुष बड़ी भक्तिके साथ करते हैं ऐसी अष्टाह्निक पूजा करनी होगी और भगवान्का खूब उत्सवके साथ अभिषेक करना होगा। सिवा इसके आपके यहाँ जो पशु-पक्षी पींजरोंमें बन्द हैं, उन्हें तथा कैदियोंको छोड़ना होगा। ये सब बातें आप स्वीकार करें तो मैं वृषभसेनाका ब्याह आपके साथ कर सकता हूँ। उग्रसेनने धनपतिकी सब बातें स्वीकार कीं और उसी समय उन्हें कार्यमें भी परिणत कर दिया।

वृषभसेनाका ब्याह हो गया। सब रानियोंमें पट्टरानीका सौभाग्य उसे ही मिला। राजाने अब अपना राज्यकीय कामोंसे बहुत कुछ सम्बन्ध कम कर दिया। उनका प्रायः समय वृषभसेनाके साथ सुखोपभोगमें जाने लगा। वृषभसेना पुण्योदयसे राजाकी खास प्रेम-पात्र हुई। स्वर्ग सरीखे सुखों-को वह भोगने लगी। यह सब कुछ होने पर भी वह अपने धर्म-कर्मको थोड़ा भी न भूल गई थी। वह जिन भगवान्की सदा जलादि आठ द्रव्योंसे पूजा करती, उनका अभिषेक करती, साधुओंको चारों प्रकारका दान देती, अपनी शक्तिके अनुसार व्रत, तप, शील, संयमादिका पालन करती, और धर्मात्मा सत्पुरुषोंका अत्यन्त प्रेमके साथ आदर-सत्कार करती। और सच है, पुण्योदयसे जो उन्नति हुई, उसका फल तो यही है कि सधर्मियोंसे प्रेम हो, हृदयमें उनके प्रति उच्च भाव हो। वृषभसेना अपना जो कर्तव्य था, उसे पूरा

करती, भक्तिसे जिनधर्मकी जितनी बनती उतनी सेवा करती और सुखसे रहा करती थी।

राजा उग्रसेनके यहाँ बनारसका राजा पृथिवीचंद्र कैद था। और वह अधिक दुष्ट था। पर उग्रसेनका तो तब भी यही कर्त्तव्य था कि वे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार ब्याहके समय उसे भी छोड़ देते। पर ऐसा उन्होंने नहीं किया। यह अनुचित हुआ। अथवा यों कहिए कि जो अधिक दुष्ट होते हैं उनका भाग्य ही ऐसा होता है जो वे मौके पर भी बन्धन मुक्त नहीं हो पाते।

पृथिवीचंद्रकी रानीका नाम नारायणदत्ता था। उसे आशा थी कि–उग्रसेन अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार वृषभसेनाके साथ ब्याहके समय मेरे स्वामीको अवश्य छोड़ देंगे। पर उसकी वह आशा व्यर्थ हुई। पृथिवीचन्द्र तब भी न छोड़े गये। यह देख नारायणदत्ताने अपने मंत्रियोंसे सलाह ले पृथिवीचन्द्रको छुड़ानेके लिए एक दूसरी ही युक्ति की और उसमें उसे मन-चाही सफलता भी प्राप्त हुई। उसने अपने यहाँ वृषभसेनाके नामसे कई दानशालाएँ बनवाईं। कोई विदेशी या स्वदेशी हो सबको उनमें भोजन करनेको मिलता था। इन दानशा-लाओंमें बढ़ियासे बढ़िया छहों रसमय भोजन कराया जाता था। थोड़े ही दिनोंमें इन दानशालाओंकी प्रसिद्धि चारों ओर हो गई। जो इनमें एक बार भी भोजन कर जाता वह फिर इनकी तारीफ करनेमें कोई कमी न करता था। बड़ी

बड़ी दूरसे इनमें भोजन करनेको लोग आने लगे। कावेरीके भी बहुतसे ब्राह्मण यहाँ भोजन कर जाते थे। उन्होंने इन शालाओंकी बहुत तारीफ की। रूपवतीको इन वृषभसेनाके नामसे स्थापित की गई दान-शालाओंका हाल सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और साथ ही उसे वृषभसेना पर इस बातसे बड़ा गुस्सा आया कि मुझे बिना पूछे उसने बनारसमें ये शालाएँ बनवाई ही क्यों ? और इसका उसने वृषभसेनाको उलहना भी दिया। वृषभसेनाने तब कहा—मा, मुझ पर तुम व्यर्थ ही नाराज होती हो। न तो मैंने कोई दान-शाला बनारसमें बनवाई और न मुझे उनका कुछ हाल ही मालूम है। हाँ यह संभव हो सकता है कि किसीने मेरे नामसे उन्हें बनाया हो। पर इसका शोध लगाना चाहिए कि किसने तो ये शालाएँ बनवाईं और क्यों बनवाईं ? आशा है पता लगानेसे सब रहस्य ज्ञात हो जायगा। रूपवतीने तब कुछ जासूसोंको उन शालाओंकी सच्ची हकीकत जाननेको भेजा। उनके द्वारा रूपवतीको मालूम हुआ कि वृषभसेनाके व्याह समय उग्रसेनने सब कैदियोंको छोड़नेकी प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञाके अनुसार पृथिवीचंद्रको उन्होंने न छोड़ा। यह बात वृषभसेनाको जान पड़े—उसका ध्यान इस ओर आकर्षित हो इसलिए ये दान-शालाएँ उसके नामसे पृथिवीचंद्रकी रानी नारायणदत्ताने बनवाई हैं। रूपवतीने यह सब हाल वृषभसेनासे कहा। वृषभसेनाने तब

उग्रसेनसे प्रार्थना कर उसी समय पृथिवीचन्द्रको छुड़वा दिया। पृथिवीचन्द्र वृषभसेनाके इस उपकारसे बड़ा कृतज्ञ हुआ। उसने इस कृतज्ञताके वश हो उग्रसेन और वृषभ-सेनाका एक बहुत ही बढ़िया चित्र तैयार करवाया। उस चित्रमें इन दोनों राजारानीके पाँवोंमें सिर झुकाया हुआ अपना चित्र भी पृथिवीचन्द्रने खिंचवाया। वह चित्र फिर उनकी भेंट कर उसने वृषभसेनासे कहा–मा, तुम्हारी कृपासे मेरा जन्म सफल हुआ। आपकी इस दयाका मैं जन्म जन्ममें ऋणी रहूँगा। आपने इस समय मेरा जो उप-कार किया उसका बदला तो मैं क्या चुका सकूँगा पर उसकी तारीफमें कुछ कहने तकके लिए मेरे पास उपयुक्त शब्द नहीं हैं। पृथिवीचंद्रकी यह नम्रता यह विनयशीलता देखकर उग्रसेन उस पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसका तब बड़ा आदर-सत्कार किया।

मेघपिङ्गल उग्रसेनका शत्रु है, इसका जिकर ऊपर आया है। जो हो, उग्रसेनसे वह भले ही बिलकुल न डरता हो, पर पृथिवीचंद्रसे बहुत डरता है। उसका नाम सुनते ही वह काँप उठता है। उग्रसेनको यह बात मालूम थी। इस लिए अबकी बार उन्होंने पृथिवीचंद्रको उस पर चढ़ाई कर-नेकी आज्ञा की। उनकी आज्ञा सिर पर चढ़ा पृथिवीचन्द्र अपनी राजधानीमें गया। और तुरत उसने अपनी सेनाको मेघपिङ्गल पर चढ़ाई करनेकी आज्ञा की। सेनाके

प्रयाणका वाजा वजनेवाला ही था कि कावेरी नगरसे खवर आगई–“ अव चढ़ाईकी कोई जरूरत नहीं । मेघपिङ्गल स्वयं महाराज उग्रसेनके दरवारमें उपस्थित हो गया है ।” वात यह थी कि मेघपिङ्गल पृथिवीचन्द्रके साथ लड़ाईमें पहले कई वार हार चुका था । इसलिए वह उससे वहुत डरता था । यही कारण था कि उसने पृथिवीचन्द्रसे लड़ना उचित न समझा । तव अगत्या उसे उग्रसेनकी शरण आजाना पड़ा । अव वह उग्रसेनका सामन्त राजा वन गया । सच है, पुण्यके उदयसे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं ।

एक दिन दरवार लगा हुआ था । उग्रसेन सिंहासन पर अधिष्ठित थे । उस समय उन्होंने एक प्रतिज्ञा की–आज सामन्त-राजों द्वारा जो भेंट आयगी, वह आधी मेघपिङ्गलको और आधी श्रीमती वृपभसेनाकी भेंट होगी । इसलिए कि उग्रसेन महाराजकी अवसे मेघपिङ्गल पर पूरी कृपा हो गई थी । आज और वहुतसी धन-दौलतके सिवा दो वहु-मूल्य सुन्दर कम्वल उग्रसेनकी भेंटमें आये । उग्रसेनने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भेंटका आधा हिस्सा मेघपिङ्गलके यहाँ और आधा हिस्सा वृपभसेनाके यहाँ पहुँचा दिया । धन-दौलत, वस्त्राभूषण, आयु आदि ये सब नाश होनेवाली वस्तुएँ हैं, तव इनका प्राप्त करना सफल तभी हो सकता है जव कि ये परोपकारमें लगाई जायँ–इनके द्वारा दूसरोंका भला हो ।

एक दिन मेघपिङ्गलकी रानी इस कम्बलको ओढ़े किसी आवश्यक कार्यके लिए वृषभसेनाके महल आई । पाठकोंको याद होगा कि ऐसा ही एक कम्बल वृषभसेनाके पास भी है । आज वस्त्रोंके उतारने और पहरनेमें भाग्यसे मेघापिङ्गलकी रानीका कम्बल वृषभसेनाके कम्बलसे बदल गया । उसे इसका कुछ खयाल न रहा और वह वृषभसेनाका कम्बल ओढ़े ही अपने महल आगई । कुछ दिनों बाद मेघापिङ्गलको राज-दरबारमें जानेका काम पड़ा । वह वृषभसेनाके इसी कम्बलको ओढ़े चला गया । इस कम्बलको ओढ़े मेघपिं-गलको देखते ही उग्रसेनके क्रोधका कुछ ठिकाना न रहा । उन्होंने वृषभसेनाके कम्बलको पहचान लिया । उनकी आँखोंसे आगकीसी चिनगारियाँ निकलने लगीं । उन्हें काटो तो खून नहीं । महारानी वृषभसेनाका क-म्बल इसके पास क्यों और कैसे गया ? इसका कोई गुप्त कारण जरूर होना ही चाहिए । बस, यह विचार उनके मनमें आते ही उनकी अजब हालत हो गई । उग्रसे-नका अपने पर अकारण क्रोध देखकर मेघापिङ्गलकी समझमें इसका कुछ भी कारण न आया । पर ऐसी दशामें उसने अपना वहाँ रहना उचित न समझा । वह उसी समय वहाँसे भागा और एक अच्छे तेज घोड़े पर सवार हो बहुत दूर निकल गया । जैसे दुर्जनोंसे डरकर सत्पुरुष दूर जा निकलते हैं । उसे भागा देख उग्रसेनका सन्देह और बढ़ा। उन्होंने तब एक

ओर तो मेघपिङ्गलको पकड़ लानेके लिए अपने सवारोंको दौड़ाया और दूसरी और क्रोधाग्निसे जलते हुए आप वृष-भसेनाके महल पहुँचे। वृषभसेनासे कुछ न कह सुनकर कि तूने अमुक अपराध किया है, एक साथ उसे समुद्रमें फिकवानेका उन्होंने हुक्म दे दिया। बेचारी निर्दोष वृषभसेना राजाज्ञाके अनुसार समुद्रमें डालदी गई। उस क्रोधको धिक्कार! उस मूर्खताको धिक्कार! जिसके वश हो लोग योग्य और अयो-ग्य कार्यका भी विचार नहीं कर पाते। अजान मनुष्य किसी-को कोई कितना ही कष्ट क्यों न दे—दुःखोंकी कसोटी पर उसे कितना ही क्यों न चढ़ावे, उसकी निरपराधताको अपनी क्रोधाग्निमें क्यों न झोंकदे, पर यदि वह कष्ट सहनेवाला मनुष्य निरपराध है—निर्दोष है, उसका हृदय पवित्रतासे सना है—रोम रोममें उसके पवित्रताका वास है तो निसन्देह उसका कोई बाल बाँका नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्योंको कितना ही कष्ट हो, उससे उनका हृदय रत्ती भर भी विचलित न होगा। वल्कि जितना जितना वह इस परि-क्षाकी कसोटी पर चढ़ता जायगा उतना उतना ही अधिक उ-सका हृदय वलवान् और निर्भीक वनता जायगा। उग्रसेन महाराज भले ही इस वातको न समझें कि वृषभसेना निर्दोष है—उसका कोई अपराध नहीं, पर पाठकोंको अपने हृदयमें इस बातका अवश्य विश्वास है, न केवल विश्वास ही है, किन्तु वात भी वास्तवमें यही सत्य है कि वृषभसेना निरपराध

है। वह सती है, निष्कलंक है। जिस कारण उग्रसेन महाराज उस पर नाराज हुए हैं, वह कारण निर्भ्रान्त नहीं है। वे यदि जरा गम खाकर कुछ शान्तिसे विचार करते तो उनकी समझमें भी वृषभसेनाकी निर्दोषता बहुत जल्दी आजाती। पर क्रोधने उन्हें आपेमें न रहने दिया। और इसीलिए उन्होंने एकदम क्रोधसे अन्धे हो एक निर्दोष व्यक्तिको कालके मुँहमें फैंक दिया। जो हो, वृषभसेनाकी पवित्र जीवनकी उग्रसेनने तो कुछ कीमत न समझी—उसके साथ महान् अन्याय किया, पर वृषभसेनाको अपने सत्य पर पूर्ण विश्वास था। वह जानती थी कि मैं सर्वथा निर्दोष हूँ। फिर मुझे कोई ऐसी बात नहीं देख पड़ती कि जिसके लिए मैं दुःख कर अपने आत्माको निर्बल बनाऊँ। बल्कि मुझे इस बातकी प्रसन्नता होनी चाहिए कि सत्यके लिए मेरा जीवन गया। उसने ऐसे ही और बहुतसे विचारोंसे अपने आत्माको खूब बलवान् और सहन-शील बना लिया। ऊपर यह लिखा जा चुका है कि सत्यता और पवित्रताके सामने किसीकी नहीं चलती। बल्कि सबको उनके लिए अपना मस्तक झुकाना पड़ता है। वृषभसेना अपनी पवित्रता पर विश्वास रखकर भगवान्के चरणोंका ध्यान करने लगी। अपने मनको उसने परमात्म-प्रेममें लीन कर लिया। उसने साथ ही प्रतिज्ञा की कि यदि इस परिक्षामें मैं पास होकर नया जीवन लाभ कर सकूँ तो अब मैं संसारकी विषयवासनामें न फँसकर अपने जीव-

नको तपके पवित्र प्रवाहमें वहा दूँगी, जो तप जन्म और मरणका ही नाश करनेवाला है। उस समय वृषभसेनाकी वह पवित्रता, वह दृढ़ता, वह शीलका प्रभाव, वह स्वभावसिद्ध प्रसन्नता आदि बातोंने उसे एक प्रकाशमान उज्ज्वल ज्योतिके रूपमें परिणत कर दिया था। उसके इस अलौकिक तेजके प्रकाशने स्वर्गके देवोंकी आँखों तकमें चका चौंध पैदा कर दी। उन्हें भी इस तेजस्विता-देवीको सिर झुकाना पड़ा। वे वहाँसे उसी समय आये और वृषभसेनाको एक अमूल्य सिंहासन पर अधिष्ठित कर उन्होंने उस मनुष्यरूप धारिणी पवित्रताकी मूर्तिमान देवीकी बड़े भक्ति-भावोंसे पूजा की, उसका जय जय कार मनाया। बहुत सत्य है, पवित्र शीलके प्रभावसे सब कुछ हो सकता है। यही शील आगको जल, समुद्रको स्थल, शत्रुको मित्र, दुर्जनको सज्जन, और विषको अमृतके रूपमें परिणत कर देता है। शीलका प्रभाव अचिन्त्य है। इसी शीलके प्रभावसे धन-सम्पत्ति, कीर्ति, पुण्य, ऐश्वर्य, स्वर्ग-सुख आदि जितनी संसारमें उत्तम वस्तुएँ हैं वे सब अनायास—बिना परिश्रम किये प्राप्त हो जाती हैं। न यही किन्तु शीलवान् मनुष्य मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। इस लिए बुद्धिवानोंको उचित है कि वे अपने चंचल मनरूपी बन्दरको वश कर—उसे कहीं न जाने देकर पवित्र शीलव्रतकी, जिसे कि भगवान्‌ने सब पापोंका नाश करनेवाला बतलाया है, रक्षामें लगावें।

वृषभसेनाके शीलका माहात्म्य जब उग्रसेनको जान पड़ा तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। अपनी बे-समझी पर वे बहुत पछताये। वृषभसेनाके पास जाकर उससे उन्होंने अपने इस अज्ञानकी क्षमा कराई और महल पर चलनेके लिए उससे प्रार्थना की। यद्यपि वृषभसेनाने पहले यह प्रतिज्ञा की थी कि इस कष्टसे छुटकारा पाते ही मैं योगिनी बनकर आत्महित करूँगी और इस पर वह दृढ़ भी वैसी ही थी; परन्तु इस सयम जब कि खुद महाराज उसे लिवानेको आये तब उनका अपमान न हो, इसलिए उसने एक बार महल जाकर एक-दो दिन बाद फिर दीक्षा लेना निश्चय किया। वह बड़ी वैरागिन होकर महाराजके साथ महल आ रही थी। पर जिसके मनमें जैसी भावना होती है और वह यदि सच्चे हृदयसे उत्पन्न हुई होती है तो वह नियमसे पूरी होती ही है। वृषभसेनाके मनमें जो पवित्र भावना थी वह सच्चे संकल्पसे की गई थी। इसलिए उसे पूरी होना ही चाहिए था और वह हुई भी। रास्तेमें वृषभसेनाको एक महा तपस्वी और अवधिज्ञानी गुणधर नामके मुनिराजके पवित्र दर्शन हुए। वृषभसेनाने बड़ी भक्तिसे उन्हें हाथ जोड़ सिर नवाया। इसके बाद उसने उनसे पूछा–हे दयाके समुद्र योगिराज, क्या आप कृपाकर मुझे यह बतलावेंगे कि मैंने पूर्व जन्मोंमें क्या क्या अच्छे या बुरे कर्म किये हैं, जिनका मुझे यह फल भोगना पड़ा? मुनि बोले–पुत्रि, सुन तुझे तेरे पूर्व जन्मका हाल सुनाता

हूँ। तू पहले जन्ममें ब्राह्मणकी लड़की थी। तेरा नाम नागश्री था। इसी राजघरानेमें तू बुहारी दिया करती थी। एक दिन मुनिदत्त नामके योगिराज महलके कोटके भीतर एक वायु रहित पवित्र गढ़ेमें बैठे ध्यान कर रहे थे। समय सन्ध्याका था। इसी समय तू बुहारी देती हुई इधर आई। तूने मूर्खतासे क्रोध कर मुनिसे कहा—ओ नंगे ढोंगी, उठ यहाँसे, मुझे झाड़ने दे। आज महाराज इसी महलमें आवेंगे। इसलिए इस स्थानको मुझे साफ करना है। मुनि ध्यानमें थे, इसलिए वे उठे नहीं; और न ध्यान पूरा होनेतक उठ ही सकते थे। वे वैसेके वैसे ही अडिग बैठे रहे। इससे तुझे और अधिक गुस्सा आया। तूने तब सब जगहका कूड़ा-कचरा इकट्ठा कर मुनिको उससे ढक दिया। बाद तू चली गई। बेटा, तू तब मूर्ख थी—कुछ समझती न थी। पर तूने वह काम बहुत ही बुरा किया था। तू नहीं जानती थी कि साधु-सन्त तो पूजा करने योग्य होते हैं, उन्हें कष्ट देना उचित नहीं। जो कष्ट देते हैं वे बड़े मूर्ख और पापी हैं। अस्तु, सवेरे राजा आये। वे इधर होकर जा रहे थे। उनकी नजर इस गढ़े पर पड़ गई। मुनिके सांस लेनेसे उन परका वह कूड़ा-कचरा ऊँचा-नीचा हो रहा था। उन्हें कुछ सन्देहसा हुआ। तब उन्होंने उसी समय उस कचरेको हटाया। देखा तो उन्हें मुनि देख पड़े। राजाने उन्हें निकाल लिया। तुझे जब यह हाल मालूम हुआ और आकर तूने उन शान्तिके

मन्दिर मुनिराजको पहलेसा ही शान्त पाया तब तुझे उनके गुणोंकी कीमत जान पड़ी। तू तब बहुत पछताई। अपने कर्मोंको तूने बहुत बहुत धिक्कारा। मुनिराजसे अपने अपराधकी क्षमा कराई। तब तेरी श्रद्धा उन पर बहुत ही हो गई। मुनिके उस कष्टके दूर करनेका तूने बहुत यत्न किया, उनकी औषधि की और उनकी भरपूर सेवा की। उस सेवाके फलसे तेरे पापकर्मोंकी स्थिति बहुत कम रह गई। बहिन, उसी मुनि-सेवाके फलसे तू इस जन्ममें धनपति सेठकी लड़की हुई। तूने जो मुनिको औषधिदान दिया था उससे तो तुझे वह सर्वौषधि प्राप्त हुई जो तेरे स्नानके जलसे कठिनसे कठिन रोग क्षण-भरमें नाश हो जाते हैं और मुनिको कचरेसे ढककर जो उन पर घोर उपसर्ग किया था, उससे तुझे इस जन्ममें झूठा कलंक लगा। इसलिए बहिन, साधुओंको कभी कष्ट देना उचित नहीं। किन्तु ये स्वर्ग या मोक्ष-सुखकी प्राप्तिके कारण हैं, इसलिए इनकी तो बड़ी भक्ति और श्रद्धासे सेवा-पूजा करनी चाहिए। मुनिराज द्वारा अपना पूर्वभव सुनकर वृषभसेनाका वैराग्य और बढ़ गया। उसने फिर महल पर न जाकर अपने स्वामीसे क्षमा कराई और संसारकी सब माया-ममताका पेंचीला जाल तोड़कर परलोक-सिद्धिके लिए इन्हीं गुणधर मुनि द्वारा योग-दीक्षा ग्रहण करली। जिस प्रकार वृषभसेनाने औषधिदान देकर उसके फलसे सर्वौ-

षधि प्राप्त की उसी तरह और और बुद्धिवानोंको भी उचित है कि वे जिसे जिस दानकी जरूरत समझें उसीके अनुसार सदा हर एककी व्यवस्था करते रहें । दान महान् पवित्र कार्य है और पुण्यका कारण है ।

गुणधर मुनिके द्वारा वृषभसेनाका पवित्र और प्रसिद्ध चरित्र सुनकर वहुतसे भव्यजनोंने जैनधर्मको धारण किया–जिनको जैनधर्मके नाम तकसे चिढ़ थी वे भी उससे प्रेम करने लगे । इन भव्यजनोंको तथा मुझे सती वृषभसेना पवित्र करे–हृदयमें चिरकालसे स्थान किये हुए राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा, मत्सरता आदि दुर्गुणोंको, जो आत्म-प्राप्तिसे दूर रखनेवाले हैं, नाश कर उनकी जगह पवित्रताकी प्रकाशमान ज्योतिको जगावे ।

१११–शास्त्र-दानकी कथा ।

संसार-समुद्रसे पार करनेवाले जिन भगवान्‌को नमस्कार कर सुख प्राप्तिकी कारण शास्त्र दानकी कथा लिखी जाती है ।

मैं उस भारती–सरस्वतीको नमस्कार करता हूँ, जिसके प्रगटकर्त्ता जिन भगवान् हैं और जो आँखोंके आड़े आनेवाले–पदार्थोंका ज्ञान न होने देनेवाले अज्ञान-पटलको

नाश करनेवाली सलाई है। भावार्थ-नेत्ररोग दूर करनेके लिए जैसे सलाई द्वारा सुरमा लगाया जाता है या कोई सलाई ही ऐसी वस्तुओंकी बनी होती है जिसके द्वारा सब नेत्र-रोग नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह अज्ञानरूपी रोगको नष्ट करनेके लिए सरस्वती-जिनवाणी सलाईका काम देनेवाली है। इसकी सहायतासे पदार्थोंका ज्ञान बड़े सहजमें हो जाता है।

उन मुनिराजोंको मैं नमस्कार करता हूँ, जो मोहको जीतनेवाले हैं, रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रसे विभूषित हैं और जिनके चरण-कमल लक्ष्मीके-सब सुखोंके स्थान हैं।

इस प्रकार देव, गुरु और शास्त्रको नमस्कार कर शास्त्रदान करनेवालेकी कथा संक्षेपमें यहाँ लिखी जाती है। इसलिए कि इसे पढ़कर सत्पुरुषोंके हृदयमें ज्ञानदानकी पवित्र भावना जाग्रत हो। ज्ञान जीवमात्रका सर्वोत्तम नेत्र है। जिसके यह नेत्र नहीं उसके चर्मनेत्र होने पर भी वह अन्धा है, उसके जीवनका कुछ मूल्य नहीं होता। इसलिए अकिञ्चित्कर जीवनको मूल्यवान् बनानेके लिए ज्ञान-दान देना ही चाहिए। यह दान सब दानोंका राजा है। और दानों द्वारा थोड़े समयकी और एक ही जीवनकी ख्वाइशें मिटेंगी, पर ज्ञानदानसे जन्म जन्मकी ख्वाइशें मिटकर वह दाता और वह दान लेनेवाला ये दोनों ही उस अनन्त स्थानको पहुँच

जाते हैं, जहाँ सिवा ज्ञानके कुछ नहीं है—ज्ञान ही जिनका आत्मा हो जाता है। यह हुई परलोककी बात। इसके सिवा ज्ञानदानसे इस लोकमें भी दाताकी निर्मल कीर्ति चारों ओर फैल जाती है। सारा संसार उसकी शत मुखसे बढ़ाई करता है। ऐसे लोग जहाँ जाते हैं वहीं उनका मनमाना आव-आदर होता है। इसलिए ज्ञान-दान भुक्ति और मुक्ति इन दोनोंका ही देनेवाला है। अतः भव्यजनोंको उचित है—उनका कर्त्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञान-दान करें और दूसरोंको भी इस पवित्र मार्गमें आगे करें। इस ज्ञान-दानके सम्बन्धमें एक बात ध्यान देनेकी यह है कि यह सम्यक्पनेको लिए हुए हो अर्थात् ऐसा हो कि जिससे किसी जीवका अहित—बुरा न हो, जिसमें किसी तरहका विरोध या दोष न हो। क्योंकि कुछ लोग उसे भी ज्ञान बतलाते हैं, जिसमें जीवोंकी हिंसाको धर्म कहा गया है—धर्मके बहाने जीवोंको अकल्याणका मार्ग बतलाया जाता है और जिसमें कहीं कुछ कहा गया है और कहीं कुछ कहा गया है—जो परस्परका विरोधी है। ऐसा ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं किन्तु मिथ्याज्ञान है। इसलिए सच्चे—सम्यग्ज्ञान-दान देनेकी आवश्यकता है। जीव अनादिसे कर्मोंके वश हुआ अज्ञानी बन कर अपने निज ज्ञानमय शुद्ध स्वरूपको भूल गया है और माया-ममताके पेंचीले जालमें फँस गया है, इसलिए प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि जिससे यह अपना वास्त-

विक स्वरूप प्राप्त कर सके । ऐसी दशामें इसे असुखका रास्ता बतलाना उचित नहीं । सुख प्राप्त करनेका सच्चा प्रयत्न सम्यग्ज्ञान है । इसलिए दान, मान, पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन आदिसे इस सम्यग्ज्ञानकी आराधना करना चाहिए । ज्ञान प्राप्त करनेकी पाँच भावनाएँ हैं, उन्हें सदा उपयोगमें लाते रहना चाहिए । वे भावनाएँ ये हैं-वाचना-पवित्र ग्रन्थका स्वयं अध्ययन करना या दूसरे पुरुषोंको कराना, पृच्छना-किसी प्रकारके सन्देहको दूर करनेके लिए परस्परमें पूछ-ताछ करना, अनुप्रेक्षा-शास्त्रोंमें जो विषय पढ़ा हो या सुना हो उसका बार बार मनन-चिन्तन करना, आम्नाय-पाठका शुद्ध पढ़ना या शुद्ध ही पढ़ाना, और धर्मोपदेश-पवित्र धर्मका भव्यजनको उपदेश करना । ये पाँचों भावनाएँ ज्ञान बढ़ानेकी कारण हैं । इसलिए इनके द्वारा सदा अपने ज्ञानकी वृद्धि करते रहना चाहिए । ऐसा करते रहनेसे एक वह दिन आयगा जब कि केवलज्ञान भी प्राप्त हो जायगा । इसीलिए कहा गया कि ज्ञान सर्वोत्तम दान है । और यही संसारके जीवमात्रका हित करनेवाला है । पुरा कालमें जिन जिन भव्य जनोंने ज्ञानदान किया आज तो उनके नाम मात्रका उल्लेख करना भी असंभव है, तब उनका चरित लिखना तो दूर रहा । अस्तु, कोण्डेशका चरित ज्ञानदान करनेवालोंमें अधिक प्रसिद्ध है । इसलिए उसीका चरित संक्षेपमें लिखा जाता है ॥

जिनधर्मके प्रचार या उपदेशादिसे पवित्र हुए इस भारतवर्षमें कुरुमरी गाँवमें गोविन्द नामका एक ग्वाल रहता

था। उसने एक बार जंगलमें एक वृक्षकी कोटरमें जैनधर्मका एक पवित्र ग्रंथ देखा। उसे वह अपने घर पर ले-आया और रोज रोज उसकी पूजा करने लगा। एक दिन पद्मनंदि नामके महात्माको गोविन्दने जाते देखा। इसने वह ग्रन्थ इन मुनिकी भेंट कर दिया।

यह जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ द्वारा पहले भी मुनियोंने यहाँ भव्यजनोंको उपदेश किया है, इसके पूजा महोत्सव द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना की है और अनेक भव्यजनोंको कल्याण मार्गमें लगाकर सच्चे मार्गका प्रकाश किया है। अन्तमें वे इस ग्रंथको इसी वृक्षकी कोटरमें रखकर विहार कर गये हैं। उनके बाद जबसे गोविन्दने इस ग्रन्थको देखा तभीसे वह इसकी भक्ति ओर श्रद्धासे निरंतर पूजा किया करता था। इसी समय अचानक गोविन्दकी मृत्यु हो गई। वह निदान करके इसी कुरुमरी गाँवमें गाँवके चौधरीके यहाँ लड़का हुआ। इसकी सुन्दरता देखकर लोगोंकी आँखें इस परसे हटती ही न थीं—सब इससे बड़े प्रसन्न होते थे। लोगोंके मनको प्रसन्न करना—उनकी अपने पर प्रीति होना यह सब पुण्यकी महिमा है। इसके पल्लेमें पूर्व जन्मका पुण्य था। इसलिए इसे ये सब बातें सुलभ थीं।

एक दिन इसने उन्हीं पद्मनन्दि मुनिको देखा, जिन्हें कि इसने गोविन्द ग्वालके भवमें पुस्तक भेंट की थी। उन्हें

देखकर इसे जातिस्मरण-ज्ञान हो गया। मुनिको नमस्कार कर तब धर्मप्रेमसे इसने उनसे दीक्षा ग्रहण करली। इसकी प्रसन्नताका कुछ पार न रहा। यह बड़े उछाहसे तपस्या करने लगा। दिनों दिन इसके हृदयकी पवित्रता बढ़ती ही गई। आयुके अन्तमें शान्तिसे मृत्यु लाभ कर यह पुण्यके उदयसे कौण्डेश नामका राजा हुआ। कौण्डेश बड़ा वीर था। तेजमें वह सूर्यसे टक्कर लेता था। सुन्दरता उसकी इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि उसे देखकर कामदेवको भी नीचा मुँह कर लेना पड़ता था। उसकी स्वभाव-सिद्ध कान्तिको देखकर तो लज्जाके मारे बेचारे चन्द्रमाका हृदय ही काला पड़ गया। शत्रु उसका नाम सुनकर काँपते थे। वह बड़ा ऐश्वर्यवान् था, भाग्यशाली था, यशस्वी था और सच्चा धर्मज्ञ था। वह अपनी प्रजाका शासन प्रेम और नीतिके साथ करता था। अपनी सन्तानके माफिक ही उसका प्रजा पर प्रेम था। इस प्रकार बड़े ही सुख-शान्तिसे उसका समय बीतता था।

इस तरह कौण्डेशका बहुत समय बीत गया। एक दिन उसे कोई ऐसा कारण मिल गया कि जिससे उसे संसारमें बड़ा वैराग्य हो गया। वह संसारको अस्थिर, विषयभोगोंको रोगके समान, सम्पत्तिको बिजलीकी तरह चंचल–तत्काल देखते देखते नष्ट होनेवाली, शरीरको मांस, मल, रुधिर, आदि महा अपवित्र वस्तुओंसे भरा हुआ, दुःखोंका देनेवाला

घिनौना और नाश होनेवाला जानकर सबसे उदासीन हो गया। इस जैनधर्मके रहस्यको जाननेवाले कौण्डेशके हृदयमें वैराग्य भावनाकी लहरें लहराने लगीं। उसे अब घरमें रहना कैदखानेके समान जान पड़ने लगा। वह राज्याधिकार पुत्रको सौंप कर जिनमन्दिर गया। वहाँ उसने जिन भगवान्की पूजा की, जो सब सुखोंकी कारण है। इसके बाद निर्ग्रंथ गुरुको नमस्कार कर उनके पास वह दीक्षित हो गया। पूर्व जन्ममें कौण्डेशने जो-दान किया था, उसके फलसे वह थोड़े ही समयमें श्रुतकेवली हो गया। यह श्रुतकेवली होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि ज्ञान-दान तो केवलज्ञानका भी कारण है। जिस प्रकार ज्ञान-दानसे एक ग्वाल श्रुतज्ञानी हुआ उसी तरह अन्य भव्य पुरुषोंको भी ज्ञान-दान देकर अपना आत्महित करना चाहिए। जो भव्यजन संसारके हित करनेवाले इस ज्ञान-दानकी भक्ति पूर्वक पूजा-प्रभावना, पठन-पाठन, लिखने लिखाने, दान-मान, स्तवन-जपन आदि सम्यक्त्वके कारणोंसे आराधना किया करते हैं वे धन, जन, यश, ऐश्वर्य, उत्तम कुल, गोत्र, दीर्घायु आदिका मनचाहा सुख प्राप्त करते हैं। अधिक क्या कहा जाय किन्तु इसी ज्ञानदान द्वारा वे स्वर्ग या मोक्षका सुख भी प्राप्त कर सकेंगे। अठारह दोष रहित जिन भगवान्के ज्ञानका मनन-चिन्तन करना उच्च सुखका कारण है।

मैंने जो यह दानकी कथा लिखी है वह आप लोगोंको तथा मुझे केवलज्ञानके प्राप्त करनेकी सहायक हो।

मूलसंघके सरस्वती गच्छमें भट्टारक मल्लिभूषण हुए। वे रत्नत्रयसे युक्त थे। उनके प्रिय शिष्य ब्रह्मचारी नेमिदत्तने यह ज्ञान-दानकी कथा लिखी है। वह निरन्तर आप लोगोंके संसारकी शान्ति करे। अर्थात् जनम, जरा, मरण मिटाकर अनन्त सुखमय मोक्ष प्राप्त कराये।

११२–अभयदानकी कथा।

मो क्षकी प्राप्तिके लिए जिन भगवान्‌के चरणोंको नमस्कार कर अभय-दान द्वारा फल प्राप्त करनेवालेकी कथा जैनग्रन्थोंके अनुसार यहाँ संक्षेपमें लिखी जाती है।

भव्यजनों द्वारा भक्तिसे पूजी जानेवाली सरस्वती श्रुतज्ञानरूपी महा समुद्रके पार पहुँचानेके लिए नावकी तरह मेरी सहायता करे।

परब्रह्म स्वरूप आत्माका निरन्तर ध्यान करनेवाले उन योगियोंको शान्तिके लिए मैं सदा याद करता हूँ, जिनकी केवल भक्तिसे भव्यजन सन्मार्ग लाभ करते हैं–सुखी होते हैं।

इस प्रकार मंगल मय जिन भगवान्, जिनवानी और जैन योगियोंका स्मरण कर मैं वसतिदान–अभयदानकी कथा लिखता हूँ।

धर्म-प्रचार, धर्मोपदेश, धर्म-क्रिया आदि द्वारा पवित्रता लाभ किये हुए इस भारतवर्षमें मालवा बहुत कालसे प्रसिद्ध और सुन्दर देश है। अपनी सर्व श्रेष्ठ सम्पदा और ऐश्वर्यसे वह ऐसा जान पड़ता है मानों सारे संसारकी लक्ष्मी यहीं आकर इकट्ठी हो गई है। वह सुख देनेवाले बगीचों, प्रकृति-सुन्दर पर्वतों और सरोवरोंकी शोभासे स्वर्गके देवोंको भी अत्यन्त प्यारा है। वे यहाँ आकर मनचाहा सुख लाभ करते हैं। यहाँके स्त्री-पुरुष सुन्दरतामें अपनी तुलनामें किसीको न देखते थे। देशके सब लोग खूब सुखी थे, भाग्यशाली थे और पुण्यवान् थे। मालवेके सब शहरोंमें, पर्वतोंमें और सब वनोंमें बड़े बड़े ऊँचे विशाल और भव्य जिनमन्दिर बने हुए थे। उनके ऊँचे शिखरोंमें लगे हुए सोनेके चमकते कलश बड़े सुन्दर जान पड़ते थे। रातमें तो उनकी शोभा बड़ी ही विलक्षणता धारण करती थी। वे ऐसे जान पड़ते थे मानों स्वर्गोंके महलोंमे दीये जगामगा रहे हों। हवाके झकोरोंसे इधर उधर फड़क रही उन मन्दिरों परकी ध्वजाएँ ऐसी देख पड़ती थीं मानों वे पथिकोंको हाथोंके इशारेसे स्वर्ग जानेका रास्ता बतला रही हैं। उन पवित्र जिन मन्दिरोंके दर्शन मात्रसे पापोंका नाश होता था तब उनके सम्बन्धमें और अधिक क्या लिखें। जिनमें बैठे हुए रत्नत्रय धारी साधु-तपस्वियोंको उपदेश करते हुए देख कर यह कल्पना होती थी कि मानों वे मोक्षके रास्ते हैं।

मालवेमें जिन भगवान्‌के पवित्र और सुख देनेवाले धर्मका अच्छा प्रचार है। सम्यक्त्वकी जगह जगह चर्चा है। अनेक सम्यक्त्वरत्नके धारण करनेवाले भव्यजनोंसे वह युक्त है। दान-व्रत, पूजा-प्रभावना आदि वहाँ खूब हुआ करते हैं। वहाँके भव्यजनोंका निर्भ्रान्त विश्वास है कि अठारह दोष रहित जिन भगवान् ही सच्चे देव हैं। वे ही केवलज्ञानी–सर्वज्ञ हैं। उनकी स्वर्गके देव तक सेवा-पूजा करते हैं। सच्चा धर्म दस लक्षणमय है और उसके प्रगटकर्ता जिनदेव हैं। गुरु परिग्रह रहित और वीतरागी हैं। तत्व वही सच्चा है जिसे जिन् भगवानने उपदेश किया है। वहाँके भव्यजन अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें सदा प्रयत्नवान रहते हैं। वे भगवान् की स्वर्ग-मोक्षका सुख देनेवाली पूजा सदा करते हैं, पात्रों-को भक्तिसे पवित्र दान देते हैं, व्रत, उपवास, शील, संयम-को पालते हैं और आयुके अन्तमें सुख-शान्तिसे मृत्यु लाभ कर सद्गति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मालवा उस समय धर्मका एक प्रधान केन्द्र बन रहा था, जिस समयकी कि यह कथा है।

मालवेमें तब एक घटगाँव नामका सम्पत्तिशाली शहर था। इस शहरमें देविल नामका एक धनी कुम्हार और एक धर्मिल नामका नाई रहता था। इन दोनोंने मिलकर बाहरके आनेवाले यात्रियोंको ठहरनेके लिए एक धर्मशाला बनवादी। एक दिन देविलने एक मुनिको लाकर इस धर्मशालामें ठहरा

दिया। धर्मिलको जब यह मालूम हुआ तो उसने मुनिको हाथ पकड़ कर बाहर निकाल दिया और वहाँ एक संन्यासीको लाकर ठहरा दिया। सच है, जो दुष्ट हैं, दुराचारी हैं, पापी हैं, उन्हें साधु-सन्त अच्छे नहीं लगते, जैसे उल्लूको सूर्य। धर्मिलने मुनिको निकाल दिया—उनका अपमान किया, पर मुनिने इसका कुछ बुरा न माना। वे जैसे शान्त थे वैसे ही रहे। धर्मशालासे निकल कर वे एक वृक्षके नीचे आकर ठहर गये। रात इन्होंने वहीं पूरी की। डाँस मच्छर वगैरहका इन्हें बहुत कष्ट सहना पड़ा। इन्होंने सब सहा और बड़ी शान्तिसे सहा। सच है, जिनका शरीरसे रत्तीभर मोह नहीं उनके लिए तो कष्ट कोई चीज ही नहीं। सवेरे जब देविल मुनिके दर्शन करनेको आया और उन्हें धर्मशालामें न देख कर एक वृक्षके नीचे बैठे देखा तो उसे धर्मिलकी इस दुष्टता पर बड़ा क्रोध आया। धर्मिलका सामना होने पर उसने उसे फटकारा। देविलकी फटकार धर्मिल न सह सका और बात बहुत बढ़ गई। यहाँतक कि परस्परमें मारामारी हो गई। दोनों ही परस्परमें लड़कर मर मिटे। क्रूर भावोंसे मरकर ये दोनों क्रमसे सूअर और व्याघ्र हुए। देविलका जीव सूअर विन्ध्य पर्वतकी गुहामें रहता था। एक दिन कर्मयोगसे गुप्त और त्रिगुप्तिगुप्त नामके दो मुनिराज अपने विहारसे पृथिवीको पवित्र करते इसी गुहामें आकर ठहरे। उन्हें देखकर इस सूअरको जातिस्मरण हो

गया। इसने उपदेश करते हुए मुनिराज द्वारा धर्मका उपदेश सुन कुछ व्रत ग्रहण किये। व्रत ग्रहण कर यह बहुत सन्तुष्ट हुआ।

इसी समय मनुष्योंकी गन्ध पाकर धर्मिलका जीव व्याघ्र मुनियोंको खानेके लिए झपटा हुआ आया। सूअर उसे दूरहीसे देखकर गुहाके द्वार पर आकर डट गया। इस-लिए कि वह भीतर बैठे हुए मुनियोंकी रक्षा कर सके। व्याघ्रने गुहाके भीतर घुसनेके लिए सूअर पर बड़ा जोरका आक्रमण किया। सूअर पहलेहीसे तैयार बैठा था। दोनोंके भावोंमे बड़ा अन्तर था। एकके भाव थे मुनिरक्षा करनेके और दूसरेके उनको खाजानेके। इसलिए देविलका जीव सूअर तो मुनिरक्षा रूप पवित्र भावोंसे मर कर सौधर्म स्वर्गमें अनेक ऋद्धियोंका धारी देव हुआ। जिसके शरीरकी चमकती हुई कान्ति गाढ़से गाढ़ अन्धकारको नाश करनेवाली है, जिसकी रूप-सुन्दरता लोगोंके मनको देखने मात्रसे मोह लेती है, जो स्वर्गीय दिव्य वस्त्रों और मुकुट, कुण्डल, हार, आदि बहु-मूल्य भूषणोंको पहरता है, अपनी स्वभाव-सुन्दरतासे जो कल्पवृक्षोंको नीचा दिखाता है, जो अणिमादि ऋद्धि-सिद्धियोंका धारक है, अवधिज्ञानी है, पुण्यके उदयसे जिसे सब दिव्य सुख प्राप्त हैं, अनेक सुन्दर सुन्दर देव-कन्याएँ और देवगण जिसकी सेवामें सदा उपस्थित रहते हैं, जो महा वैभवशाली है, महा सुखी है, स्वर्गोंके देवों द्वारा जिनके चरण पूजे जाते हैं ऐसे जिन भगवानकी, जिन प्रतिमाओंकी और कृत्रिम तथा

अकृत्तिम जिन मन्दिरोंकी जो सदा भक्ति और प्रेमसे पूजा करता है, दुर्गतिके दुःखोंको नाश करनेवाले तीर्थोंकी यात्रा करता है, महा मुनियोंकी भक्ति करता है और धर्मात्माओंके साथ वात्सल्यभाव रखता है। ऐसी उसकी सुखमय स्थिति है। जिस प्रकार यह सूअर धर्मके प्रभावसे उक्त प्रकार सुखका भोगनेवाला हुआ उसी प्रकार जो और भव्यजन इस पवित्र धर्मका पालन करेंगे वे भी उसके प्रभावसे सब सुख-सम्पत्ति लाभ करेंगे। समझिए, संसारमें जो-जो धन-दौलत, स्त्री, पुत्र, सुख, ऐश्वर्य आदि अच्छी अच्छी आनन्द-भोगकी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, उनका कारण एक मात्र धर्म है। इसलिए सुखकी चाह करनेवाले भव्यजनोंको जिन-पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि धर्मका निरंतर पवित्र भावोंसे सेवन करना चाहिए।

देविल तो पुण्यके प्रभावसे स्वर्ग गया और धर्मिलने मुनियोंको खाजाना चाहा था, इसलिए वह पापके फलसे मरकर नरक गया। इस प्रकार पुण्य और पापका फल जानकर भव्यजनोंको उचित है कि वे पुण्यके कारण पवित्र जैन धर्ममें अपनी बुद्धिको दृढ़ करें।

इस प्रकार परम सुख—मोक्षके कारण, पापोंका नाश करनेवाले और पात्र-भेदसे विशेप आदर योग्य इस पवित्र अभयदानकी कथा अन्य जैनशास्त्रोंके अनुसार संक्षेपमें यहाँ लिखी गई। यह सत्कथा संसारमें प्रसिद्ध होकर सबका हित करे।

११३-करकण्डु राजाकी कथा।

संसार द्वारा पूजे जानेवाले जिन भगवान्‌को नमस्कार करकरकण्डुराजाका सुखमय पवित्र चरित लिखा जाता है।

जिसने पहले केवल एक कमलसे जिन भगवान्‌की पूजा कर जो महान फल प्राप्त किया, उसका चरित जैसा और ग्रन्थोंमें पुराने ऋषियोंने लिखा है उसे देख कर या उनकी कृपासे उसका थोड़ेमें मैं सार लिखता हूँ।

नील और महानील तेरपुरके राजा थे। तेरपुर कुन्तल देशकी राजधानी थी। यहाँ वसुमित्र नामका एक जिनभक्त सेठ रहता था। सेठानी वसुमती उसकी स्त्री थी। धर्मसे उसे बड़ा प्रेम था। इन सेठ सेठानीके यहाँ धनदत्त नामका एक ग्वाल नौकर था। वह एक दिन गौएँ चरानेको जंगलमें गया हुआ था। एक तालावमें इसने कोई हजार पखुरियों वाला एक वहुत सुन्दर कमल देखा। उस पर यह मुग्ध हो गया। तब तालावमें कूदकर इसने उस कमलको तोड़ लिया। उस समय नागकुमारीने इससे कहा-धनदत्त, तूने मेरा कमल तोड़ा तो है, पर इतना तू ध्यानमें रखना कि यह उस महापुरुषकी भेंट किया जाय, जो संसारमें सबसे श्रेष्ठ हो। नागकुमारीका कहा मानकर धनदत्त कमल लिये

अपने सेठके पास गया और उनसे सब हाल इसने कहा। वसुमित्रने तब राजाके पास जाकर उनसे यह सब हाल कहा। सबसे श्रेष्ठ कौन है और यह कमल किसकी भेंट चढ़ाया जाय, यह किसीकी समझमें न आया। तब सब विचार कर चले कि इसका हाल चलकर मुनिराजसे कहें। संसारमें सबसे श्रेठ कौन है, इस बातका पता वे अपनेको देंगे। यह निश्चय कर राजा, सेठ, ग्वाल तथा और भी बहुतसे लोग सहस्र-कूट नामके जिन मन्दिरमें गये। वहाँ सुगुप्त मुनिराज ठहरे हुए थे। उनसे राजाने पूछा– हे करुणाके समुद्र, हे पवित्र धर्मके रहस्यको समझनेवाले, कृपाकर बतलाइए कि संसारमें सबसे श्रेष्ठ कौन है, जिन्हें यह पवित्र कमल भेंट किया जाय। उत्तरमें मुनिराजने कहा– राजन्, सारे संसारके स्वामी, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित जिन भगवान् सर्वोत्कृष्ट हैं, क्योंकि संसार उन्हींकी पूजा करता है। सुनकर सबको बड़ा सन्तोष हुआ। जिसे वे चाहते थे वह अनायास मिल गया। उसी समय वे सब भगवान्के सामने आये। धनदत्त ग्वालने तब भगवा-न्को नमस्कार कर कहा–हे संसारमें सबसे श्रेष्ठ गिनेजाने वाले, आपका यह कमल मैं आपकी भेंट करता हूँ। इसे आप स्वीकार कर मेरी आशाको पूरी करें। यह कहकर वह ग्वाल उस कमलको भगवान्के पाँवों पर चढ़ाकर चला गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पवित्र कर्म मूर्ख लोगोंको भी सुख देनेवाला होता है। इसी कथासे सम्बन्ध रखनेवाली एक दूसरी कथा यहाँ लिखी जाती है। उसे सुनिए–

स्रावस्तीके रहनेवाले सागरदत्त सेठकी स्त्री नागदत्ता बड़ी पापिनी थी। उसका चाल-चलन अच्छा न था। एक सोमशर्मा ब्राह्मणके साथ उसका अनुचित बरताव था। सच है, कोई कोई स्त्रियाँ तो बड़ी दुष्ट और कुल-कलंकिनी हुआ करती हैं। उन्हें अपने कुलकी मान-मर्यादाकी कुछ लाज-शरम नहीं रहती। अपने उज्ज्वल कुलरूपी मन्दिरको मलिन करनेके लिए वे काले धुएँके समान होती हैं। बेचारा सेठ सरल था और धर्मात्मा था। इसलिए अपनी स्त्रीका ऐसा दुराचार देखकर उसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसने फिर संसारका भ्रमण मिटानेवाली जिनदीक्षा ग्रहण करली। वह बहुत ही कंटाल गया था। सागरदत्त तपस्या कर स्वर्ग गया। स्वर्गायु-पूरी कर वह अंगदेशकी राजधानी चम्पा नगरीमें वसुपाल राजाकी रानी वसुमतीके दन्तिवाहन नामका राजकुमार हुआ। वसुपाल सुखसे राज करते रहे।

इधर वह सोमशर्मा मरकर पापके फ़लसे पहले तो बहुत समय तक दुर्गतियोंमें घूमा किया। एकसे एक दुःसह कष्ट उसे सहना पड़ा। अन्तमें वह कलिंग देशके जंगलमें नर्मदा-तिलक नामका हाथी हुआ। और ठीक ही है पापसे जीवोंको दुर्गतियोंके दुःख भोगना ही पड़ते हैं। कर्मयोगसे इस हाथीको किसीने पकड़ लाकर वसुपालकी भेंट किया।

उधर इस हाथीके पूर्वभवके जीव सोमशर्माकी स्त्री नागदत्ताने भी पापके उदयसे दुर्गतियोंमें अनेक कष्ट सहे। अन्तमें वह तामलि-

सनगरमें भी वसुदत्त सेठकी स्त्री नागदत्ता हुई। उस समय इसके धनवती और धनश्री नामकी दो लडकियाँ हुईं। ये दोनों ही बहिनें बड़ी सुन्दर थीं। स्वर्गकुमारियाँ इनका रूप देखकर मन ही मन बड़ी कुढ़ा करती थीं। इनमें धनवतीका ब्याह नागानन्द पुरके रहनेवाले वनपाल नामके सेठ पुत्रके साथ हुआ और छोटी बहिन धनश्री कोशाम्बीके वसुमित्रकी स्त्री हुई। वसुमित्र जैनी था। इसलिए उसके सम्बन्धसे धनश्रीको कई वार जैनधर्मके उपदेश सुननेका मौका मिला। वह उपदेश उसे बहुत रुचिकर हुआ और फिर वह भी श्राविका हो गई। लड़कीके प्रेमसे नागदत्ता एक वार धनश्रीके यहाँ गई। धनश्रीने अपनी माका खूब आदर-सत्कार किया और उसे कई दिनोंतक अच्छी तरह अपने यहीं रक्खा। नागदत्ता धनश्रीके यहाँ कई दिनोंतक रही, पर वह न तो कभी मन्दिर गई और न कभी उसने धर्मकी कुछ चर्चा की। धनश्री अपनी माको धर्मसे विमुख देखकर एक दिन उसे मुनिराजके पास ले गई और समझा कर उसे मुनिराज द्वारा पाँच अणुव्रत दिलवा दिये। एक वार इसी तरह नागदत्ताको अपनी बड़ी लड़की धनवतीके यहाँ जाना पड़ा। धनवती बुद्धधर्मको मानती थी। सो उसने इसे बुद्धधर्मकी अनुयायिनी बना लिया। इस तरह नागदत्ताने कोई तीन बार जैनधर्मको छोड़ा। अन्तमें उसने फिर जैनधर्म ग्रहण किया और अबकी वार वह उस पर रही भी बहुत दृढ़। जन्म भर फिर

उसने जैनधर्मको निवाहा। आयुके अन्त मरकर वह कौशा-म्बीके राजा वसुपालकी रानी वसुमतीके लड़की हुई। पर भाग्यसे जिस दिन वह पैदा हुई, वह दिन वहुत खराव था। इसलिए राजाने उसे एक सन्दूकमें रखकर और उसके नामकी एक अँगूठी उसकी उँगलीमें पहरा कर उस सन्दूकको यमुनामें छुड़वा दिया। सन्दूक बहती हुई कुसुमपुरके एक पद्महृद नामके तालावमें पहुँच गई। इस तालावमें गंगा-यमुनाके प्रवाहका एक छोटासा नाला वहकर आता था। उसी नालेमें पडकर यह संदूक तालावमें आगई। इसे किसी कुसुमदत्त नामके मालीने देखा। वह निकाल कर उसे अपने घर लिवा लाया। संदूकको खोलकर उसने देखा तो उसमेंसे यह लड़की निकली। कुसुमदत्तके कोई संतान न थी। इसलिए वह इसे पाकर वहुत खुश हुआ। अपनी स्त्रीको बुलाकर उसने इसे उसकी गोदमें रख दिया और कहा-प्रिये, भाग्यसे अपनेको यह लड़की अनायास मिल गई। इससे अपनेको बड़ी खुशी मनानी चाहिए। मुझे विश्वास है कि तुम भी इस अमूल्य संधिसे वहुत प्रसन्न होगी। प्रिये, यह मुझे पद्महृदमें मिली है। हम इसका नाम भी पद्मावती ही क्यों न रक्खें? क्यों, नाम तो बड़ा ही सुन्दर है! मालिन जिन्दगी भरसे अपनी खाली गोदको आज एकाएक भरी पा वहुत आनन्दित हुई। वह आनन्द इतना था कि उसके हृदयमें भी न समा सका। यही कारण था कि उसका रोम रोम पुलकित हो रहा था। उसने बड़े प्रेमसे इसे छाती लगाया।

पद्मावती इस समय कोई तेरह चौदह वर्षकी है । उसके सुकोमल, सुगन्धित, और सुन्दर यौवनरूपी फूलकी कलियाँ कुछ कुछ खिलने लगी हैं । ब्रह्माने उसके शरीरको लावण्य सुधा-धारासे सींचना शुरू कर दिया है । वह अब थोड़े ही दिनोंमें स्वर्गकी देव कुमारियोंसे भी अधिक सुन्दरता लाभ कर ब्रह्माको अपनी सृष्टिका अभिमानी बनावेगी । लोग स्वर्गीय सुन्दरताकी बड़ी प्रशंसा करते हैं । ब्रह्माको उनकी इस थोथी तारीफसे बड़ी डाह है । इसलिए कि इससे उसकी रचना सुन्दरतामें कमी आती हैं और उस कमीसे इसे नीचा देखना पड़ता है । ब्रह्माने सर्व साधारणके इस भ्रमको मिटानेके लिए, कि जो कुछ सुन्दरता है वह स्वर्गहीमें है, मानों पद्मावतीको उत्पन्न किया है। इसके सिवा इन लोगोंकी झूठी प्रशंसासे जो अमराङ्गनाएँ अभिमानके ऊँचे पर्वत पर चढ़कर सारे संसारको अपनी सुन्दरताकी तुलनामें ना-कुछ चीज समझ बैठी हैं, उनके इस गर्वको चूर चूर करना है। इन्हीं सब अभिमान, ईर्षा, मत्सर आदिके वश हो ब्रह्मा पद्मावतीको त्रिभुवन-सुन्दर बनानेमें विशेष यत्नशील है । इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि पद्मावती कुछ दिनों बाद तो ब्रह्माकी सब तरह आशा पूरी करेगी ही। पर इस समय भी इसका रूप-सौन्दर्य इतना मनोमधुर है कि उसे देखते ही रहनेकी इच्छा होती है । प्रयत्न करने पर भी आँखें उस ओरसे हटना पसन्द नहीं करतीं । अस्तु ।

पद्मावतीकी इस अनिंद्य सुन्दरताका समाचार किसीने चम्पाके राजा दन्तिवाहनको कह दिया। दन्तिवाहन इसकी सुन्दरताकी तारीफ सुनकर कुसुमपुर आये। पद्मावतीको-एक मालीकी लड़कीको इतनी सुन्दरी, इतनी तेजस्विनी देख कर उसके विषय उन्हें कुछ सन्देह हुआ। उन्होंने तब उस मालीको बुलाकर पूछा-सच कह यह लड़की तेरी ही है क्या? और यदि तेरी नहीं तो तू इसे कहाँसे और कैसे लाया? माली डर गया। उससे राजाके सवालोंका कुछ उत्तर देते न बना। सिर्फ उसने इतना ही किया कि जिस सन्दूकमें पद्मावती निकली थी, उसे राजाके सामने ला रख दिया और कह दिया कि महाराज, मुझे अधिक तो कुछ मालूम नहीं, पर यह लड़की इस सन्दूकमेंसे निकली थी। मेरे कोई लड़का-वाला न होनेसे इसे मैंने अपने यहाँ रख लिया। राजाने सन्दूक खोलकर देखा तो उसमें एक अँगूठी निकली। उस पर कुछ इबारत खुदी हुई थी। उसे पढ़कर राजाको पद्मावतीके सम्बन्धमें कोई सन्देह करनेकी जगह न रह गई। जैसे वे राजपुत्र हैं वसे ही पद्मावती भी एक राजघरानेकी राजकन्या है। दन्तिवाहन तब उसके साथ ब्याह कर उसे चम्पामें ले आये और सुखसे अपना समय बिताने लगे।

दन्तिवाहनके पिता वसुपालने कुछ वर्षोंतक और राज्य किया। एक दिन उन्हें अपने सिर पर यमदूत सफेद केश देख पड़ा। उसे देखकर इन्हें संसार, शरीर, विषय-भोगा-

दिसे बड़ा वैराग्य हुआ। वे अपने राज्यका सब भार दन्तिवाहनको सौंप कर जिनमन्दिर गये। वहाँ उन्होंने भगवान्का अभिषेक किया, पूजन की, दान किया, गरीबोंको सहायता दी। उस समय उन्हें जो उचित कार्य जान पड़ा उसे उन्होंने खुले हाथों किया। बाद वे वहीं एक मुनिराज द्वारा दीक्षा ले योगी हो गये। उन्होंने योगदशामें खूब तपस्या की। अन्तमें समाधिसे शरीर छोड़कर वे स्वर्ग गये।

दन्तिवाहन अब राजा हुए। प्रजाका शासन ये भी अपने पिताकी भाँति प्रेमके साथ करते थे। धर्म पर इनकी भी पूरी श्रद्धा थी। पद्मावतीसी त्रिलोक-सुन्दरीको पा ये अपनेको कृतार्थ मानते थे। दोनों दम्पती सदा बड़े हँस-मुख और प्रसन्न रहते थे। सुखकी इन्हें चाह न थी, पर सुख ही इनका गुलाम बन रहा था।

एक दिन सती पद्मावतीने स्वप्नमें सिंह, हाथी और सूरजको देखा। सवेरे उठकर उसने अपने प्राणनाथसे इस स्वप्नका हाल कहा। दन्तिवाहनने उसके फलके सम्बन्धमें कहा—प्रिये, स्वप्न तुमने बड़ा ही सुन्दर देखा है। तुम्हें एक पुत्ररत्नकी प्राप्ति होगी। सिंहका देखना जनाता है, कि वह बड़ा ही प्रतापी होगा। हाथीके देखनेसे सूचित होता है कि वह सबसे प्रधान क्षत्रिय वीर होगा और सूरज यह कहता है कि वह प्रजारूपी कमल-वनका प्रफुल्लित करनेवाला होगा—उसके शासनसे प्रजा बड़ी सन्तुष्ट रहेगी। अपने स्वामी

द्वारा स्वप्नका फल सुनकर पद्मावतीको अत्यन्त प्रसन्नता हुई। और सच है, पुत्र प्राप्तिसे किसे प्रसन्नता नहीं होती।

पाठकोंको तेरपुरके रहनेवाले धनदत्त ग्वालका स्मरण होगा, जिसने कि एक हजार पखुरियोंका कमल भगवान्को चढ़ाकर बड़ा पुण्यवन्ध किया था। उसीकी कथा फिर लिखी जाती है। धनदत्तको तैरनेका बड़ा शौक था। वह रोज रोज जाकर एक तालावमें तैरा करता था। एक दिन वह तैरनेको गया हुआ था। कुछ होनहार ही ऐसा था जो वह तैरता तैरता एक बार घनी काईमें विंध गया। बहुत यत्न किया पर उससे निकलते न बना। आखिर वेचारा मर ही गया। मरकर वह जिनपूजाके पुण्यसे इसी सती पद्मावतीके गर्भमें आया।

उधर वसुमित्र सेठको जब इसके मरनेका हाल ज्ञात हुआ तो उसे बड़ा दुःख हुआ। सेठ उसी समय तालाव पर आया और धनदत्तकी लाशको निकलवा कर उसका अग्नि-संस्कार किया। संसारकी यह क्षणभंगुर दशा देखकर वसुमित्रको बड़ा वैराग्य हुआ। वह सुगुप्ति मुनिराज द्वारा योगव्रत लेकर मुनि हो गया। अन्तमें वह तपस्या कर पुण्यके उदयसे स्वर्ग गया।

पद्मावतीके गर्भमें धनदत्तके आने पर उसे दोहला उत्पन्न हुआ। उसकी इच्छा हुई कि मेघ बरसने लगें; और बिजलियाँ चमकने लगें। ऐसे समय पुरुष-वेषमें हाथमें अंकुश लिये मैं

स्वयं हाथी पर सवार होऊँ और मेरे साथ स्वामी भी बैठें। फिर हम दोनों घूमनेके लिए शहर बाहर निकलें। पद्मावतीने अपनी यह इच्छा दन्तिवाहनसे जाहिर की। दन्तिवाहनने उसकी इच्छाके अनुसार अपने मित्र वायुवेग विद्याधर द्वारा मायामयी कृत्रिम मेघकी काली काली घटाओं द्वारा आकाश आच्छादित करवाया। कृत्रिम बिजलियाँ भी उन मेघोंमें चमकने लगीं। राजा-रानी इस समय उस नर्मदा-तिलक नामके हाथी पर, जो सोमशर्माका जीव था और जिसे किसीने वसुपालकी भेंट किया था, चढ़कर बड़े ठाट-बाटसे नौकर-चाकरोंको साथ लिये शहर बाहर हुए। पद्मावतीका यह दोहला सचमुच ही बड़ा ही आश्चर्य जनक था। जो हो, जब ये शहर बाहर होकर थोड़ी ही दूर गये होंगे कि कर्मयोगसे हाथी उन्मत्त हो गया। अंकुश वगैरहकी वह कुछ परवा न कर आगे चलनेवाले लोगोंकी भीड़को चीरता हुआ भाग निकला। रास्तेमें एक घने वृक्षोंकी वनीमें होकर वह भागा जा रहा था। सो दन्तिवाहनको उस समय कुछ ऐसी बुद्धि सूझ गई, कि जिससे वे एक वृक्षकी डालीको पकड़ कर लटक गये। हाथी आगे भागा ही चला गया। सच है, पुण्य कष्ट समयमें जीवोंको बचा लेता है। बेचारे दन्तिवाहन उदास मुँह और रोते रोते अपनी राजधानीमें आये। उन्हें इस बातका अत्यन्त दुःख हुआ कि गर्भिणी प्रियाकी न जाने क्या

दशा हुई होगी। दन्तिवाहनकी यह दशा देखकर समझदार लोगोंने समझा बुझाकर उन्हें शान्त किया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सत्पुरुषोंके बचन चन्दनसे कहीं बढ़कर शीतल होते हैं और उनके द्वारा दुखियोंके हृदयका दुःख-सन्ताप बहुत जल्दी ठंडा पड़ जाता है।

उधर हाथी पद्मावतीको लिये भागा ही चला गया। अनेक जंगलों और गाँवोंको लाँघकर वह एक तालाव पर पहुँचा। वह बहुत थक गया था। इसलिए थकावट मिटानेको वह सीधा उस तालावमें घुस गया। पद्मावती सहित तालावमें उसे घुसता देख जलदेवीने झटसे पद्मावतीको हाथी परसे उतार कर तालावके किनारे पर रख दिया। आफतकी मारी वेचारी पद्मावती किनारे पर बैठी बैठी रोने लगी। वह क्या करे, कहाँ जाय, इस विषयमें उसका चित्त बिलकुल धीर न धरता था। सिवा रोनेके उसे कुछ न सूझता था। इसी समय एक माली इस ओर होकर अपने घर जा रहा था। उसने इसे रोते हुए देखा। इसके वेष-भूषा और चेहरेके रँग-ढंगसे इसे किसी उच्च घरानेकी समझ उसे इस पर बड़ी दया आई। उसने इसके पास आकर कहा—बहिन, जान पड़ता है तुम पर कोई भारी दुःख आकर पड़ा है। यदि तुम कोई हर्ज न समझो तो मेरे घर चलो। तुम्हें वहाँ कोई कष्ट न होगा। मेरा घर यहाँसे थोड़ी ही दूर पर हस्तिनापुरमें है और मैं जातिका माली हूँ। पद्मावती उसे दयावान् देख उसके साथ होली। इसके सिवा

उसके लिए दूसरी गति भी न थी। उस मालीने पद्मावती-को घर लेजाकर बड़े आदर-सत्कारके साथ रक्खा। वह उसे अपनी बहिनके बराबर समझता था। इसका स्वभाव बहुत अच्छा था। ठीक है, कोई कोई साधारण पुरुष भी बड़े ही सज्जन होते हैं। इसे सरल और सज्जन होने पर भी इसकी स्त्री बड़ी कर्कशा थी। उसे दूसरे आदमीका अपने घर रहना अच्छा ही न लगता था। कोई अपने घरमें पाहुना आया कि उस पर सदा मुँह चढ़ाये रहना, उससे बोलना-चालना नहीं, आदि उसके बुरे स्वभावकी खास बातें थीं। पद्मावतीके साथ भी इसका यही वरताव रहा। एक दिन भाग्यसे वह माली किसी कामके लिए दूसरे गाँव चला गया। पीछेसे इसकी स्त्रीकी वन पड़ी। उसने पद्मावतीको गाली-गलौज देकर और बुरा भला कह घर वाहर निकाल दिया। वेचारी पद्मावती अपने कर्मोंको कोसती यहाँसे चलदी। वह एक घोर मसानमें पहुँची। प्रसूतिके दिन आ लगे थे। इस पर चिन्ता और दुःखके मारे इसे चैन नहीं था। इसने यहीं पर एक पुण्य-वान् पुत्र जना। उसके हाथ, पाँव, ललाट वगैरहमें ऐसे सब चिह्न थे, जो बड़ेसे बड़े पुरुषके होने चाहिए। जो हो, इस समय तो उसकी दशा एक भिखारीसे भी बढ़कर थी। पर भाग्य कहीं छुपा नहीं रहता। पुण्यवान् महात्मा पुरुष कहीं हो, कैसी अवस्थामें हो, पुण्य वहीं पहुँच कर उसकी सेवा करता है। पर होना चाहिए पदरमें पुण्य। पुण्य विना संसारमें

जन्म निस्सार है। जिस समय पद्मावतीने पुत्र जना उसी समय पुत्रके पुण्यका भेजा हुआ एक मनुष्य चाण्डालके वेषमें मसानमें पद्मावतीके पास आया और उसे विनयसे सिर झुका कर बोला—मा, अब चिन्ता न करो। तुम्हारे लड़केका दास आगया है। वह इसकी सब तरह जी-जानसे रक्षा करेगा। किसी तरहका कोई कष्ट इसे न होने देगा। जहाँ इस बच्चेका पसीना गिरेगा वहाँ यह अपना खून गिरावेगा। आप मेरी मालकिनी हैं। सब भार मुझ पर छोड़ आप निश्चिन्त होइए। पद्मावतीने ऐसे कष्टके समय पुत्रकी रक्षा करनेवालेको पाकर अपने भाग्यको सराहा, पर फिर भी अपना सब सन्देह दूर हो, इसलिए उससे कहा—भाई, तुमने ऐसे निराधार समयमें आकर मेरा जो उपकार करना विचारा है, तुम्हारे इस ऋणसे मैं कभी मुक्त नहीं हो सकती। मुझे तुमसे दयावानोंका अत्यन्त उपकार मानना चाहिए। अस्तु, इस समय सिवा इसके मैं और क्या अधिक कह सकती हूँ कि जैसा तुमने मेरा भला किया, वैसा भगवान् तुम्हारा भी भला करे। भाई, मेरी इच्छा तुम्हारा विशेष परिचय पानेकी है। इसलिए कि तुम्हारा पहरावा और तुम्हारे चेहरे परकी तेजस्विता देखकर मुझे बड़ा ही सन्देह हो रहा है। अतएव यदि तुम मुझसे अपना परिचय देनेमें कोई हानि न समझो तो कृपाकर कहो। वह आगत पुरुष पद्मावतीस बोला—मा, मुझे अभागेकी कथा तुम सुनोगी। अच्छा तो

सुनो, मैं सुनाता हूँ। विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें विद्यु-
त्प्रभ नामका एक शहर है। उसके राजाका नाम भी विद्युत्प्रभ
है। विद्युत्प्रभकी रानीका नाम विद्युल्लेखा है। ये दोनों राजा रानी
ही मुझ अभागेके मातापिता है। मेरा नाम बालदेव है। एक
दिन मैं अपनी प्रिया कनकमालाके साथ विमानमें बैठा हुआ
दक्षिणकी ओर जा रहा था। रास्तेमें मुझे रामगिरि पर्वत
पड़ा। उस पर मेरा विमान अटक गया। मैंने नीचे नजर
डालकर देखा तो मुझे एक मुनि देख पड़े। उन पर मुझे बड़ा
गुस्सा आया। मैंने तब कुछ आगा-पीछा न सोचकर उन
मुनिको बहुत कष्ट दिया, उन पर घोर उपसर्ग किया। उनके
तपके प्रभावसे जिनभक्त पद्मावती देवीका आसन हिला और
वह उसी समय वहाँ आई। उसने मुनिका उपसर्ग दूर किया।
सच है, साधुओं पर किये उपद्रवको सम्यग्दृष्टि कभी नहीं सह
सकते। मा, उस समय देवीने गुस्सा होकर मेरी सब विद्याएँ
नष्ट करदीं। मेरा सब अभिमान चूर हुआ। मैं एक मद रहित
हाथीकी तरह निःसत्व-तेज रहित हो गया। मैं अपनी इस
दशा पर बहुत पछताया। मैं रोकर देवीसे बोला-प्यारी मा, मैं
आपका अज्ञानी बालक हूँ। मैंने जो कुछ यह बुरा काम किया
वह सब मूर्खता और अज्ञानसे न समझ कर ही किया है।
आप मुझे इसके लिए क्षमा करें और मेरी विद्याएँ पीछी मुझे
लौटादें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मेरी यह दीनता भरी
पुकार व्यर्थ न गई। देवीने शान्त होकर मुझे क्षमा

किया और वह बोली—मैं तुझे तेरी विद्याएँ लौटा देती, पर मुझे तुझसे एक महान् काम करवाना है। इस-लिए मैं कहती हूँ वह कर। समय पाकर सब विद्याएँ तुझे अपने आप सिद्ध हो जायँगीं। मैं हाथ जोड़े हुए उसके मुँहकी ओर देखने लगा। वह बोली—"हस्तिनापुरके समानमें एक विपत्तिकी मारी स्त्रीके गर्भसे एक पुण्यवान् और तेजस्वी पुत्ररत्न जन्म लेगा। उस समय पहुँच कर तू उसकी सावधानीसे रक्षा करना और अपने घर लाकर उसे पालना-पोसना। उसके राज्य समय तुझे सब विद्याएँ सिद्ध होंगी।" मा, उसकी आज्ञासे मैं तभीसे यहाँ इस वेषमें रहता हूँ। इसलिए कि मुझे कोई पहिचान न सके। मा, यही मुझ अभागेकी कथा है। आज मैं आपकी दयासे कृतार्थ हुआ। पद्मावती विद्याधरका हाल सुनकर दुःखी जरूर हुई, पर उसे अपने पुत्रका रक्षक मिल गया, इससे कुछ सन्तोष भी हुआ। उसने तब अपने प्रिय बच्चेको विद्याधरके हाथमें रखकर कहा—भाई, इसकी साव-धानीसे रक्षा करना। अब इसके तुम ही सब प्रकार कर्त्ता-धर्त्ता हो। मुझे विश्वास है कि तुम इसे अपना ही प्यारा बच्चा समझोगे। उसने फिर पुत्रके प्रकाशमान चेहरे पर प्रेम-भरी दृष्टि डालकर पुत्र वियोगसे भर आये हृदयसे कहा—मेरे लाल, तुम पुण्यवान् होकर भी उस अभागिनी माके पुत्र हुए हो, जो जन्मते ही तुम्हें छोड़कर बिछुड़ना चाहती है। लाल, मै तो अभागिनी थी ही, पर तुम भी ऐसे अभागे

हुए जो अपनी माके प्रेममय हृदयका कुछ भी पता न पा सके और न पाओगे ही। मुझे इस बातका बड़ा खेद रहेगा कि जिस पुत्रने अपनी प्रेम-प्रतिमा माके पवित्र हृदय द्वारा प्रेमका पाठ न सीखा वह दूसरोंके साथ किस तरह प्रेम करेगा? कैसे दूसरोंके साथ प्रेमका बरताव कर उनका प्रेम-पात्र बनेगा। जो हो, तब भी मुझे इस बातकी खुशी है कि तुम एक दूसरी माके पास जाते हो, और वह भी आखिर है तो मा ही। जाओ लाल जाओ, सुखसे रहना, परमात्मा तुम्हारा मंगल करे। इस प्रकार प्रेममय पवित्र आषिश देकर पद्मावती कड़ा हृदय कर चलदी। बालदेवने उस सुन्दर और तेजपुंज बच्चेको अपने घर ले आकर अपनी प्रिया कनकमालाकी गोदमें रख दिया और कहा—प्रिये, भाग्यसे मिले इस निधिको लो। कनकमाला उस बाल-चन्द्रमासे अपनी गोदको भरी देखकर फूली न समाई। वह उसे जितना ही देखने लगी उसका प्रेम क्षणक्षणमें अनन्त गुणा बढ़ता ही गया। कनकमालाका जितना प्रेम होना संभव न था, उतना इस नये बालक पर उसका प्रेम हो गया, सचमुच यह आश्चर्य है। अथवा नई वस्तु स्वभावहीसे प्रिय होती है और फिर यदि वह अपनी हो जाय तब तो उस पर होनेवाले प्रेमके सम्बन्धमें कहना ही क्या। और वह प्रेम, कि जिसकी प्राप्तिके लिए आत्मा सदा तड़फा ही करता है। और वह पुत्र जैसी परम प्रिय वस्तु! तब पढ़नेवाले कनक-

मालाके प्रेममय हृदयका एक वार अवगाहन करके देखें कि एक नई मा जिस बच्चे पर इतना प्रेम करती है तब जिसने उसे जन्म दिया उसके प्रेमका क्या कुछ अन्त है–सीमा है! नहीं। माका अपने बच्चे पर जो प्रेम होता है उसकी तुलना किसी दृष्टान्त या उदाहरण द्वारा नहीं की जा सकती और जो करते हैं वे माके अनन्त प्रेमको कम करनेका यत्न करते हैं। कनकमाला उसे पाकर बहुत प्रसन्न हुई। उसनें उसका नाम करकण्डु रक्खा। इसलिए कि उस बच्चेके हाथमें उसे खुजली देख पड़ी थी। कनकमालाने उसका लालन-पालन करनेमें अपने खास बच्चेसे कोई कमी न की। सच है, पुण्यके उदयसे कष्ट समयमें भी जीवोंको सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए भव्यजनोंको जिन पूजा, पात्र-दान, व्रत, उपवास, शील, संयम आदि पुण्यकर्मों द्वारा सदा शुभ कर्म करते रहना चाहिए।

पद्मावती तब करकण्डुसे जुदा होकर गान्धारी नामकी क्षुल्लकिनीके पास आई। उसे उसने भक्तिसे प्रणाम किया और आज्ञा पा उसीके पास वह बैठ गई। थोड़ी देर बाद पद्मावतीने उस क्षुल्लकिनीसे अपना सब हाल कहा और जिनदीक्षा लेनेकी इच्छा प्रगट की। क्षुल्लकिनी उसे तब समाधिगुप्त मुनिके पास लिवा गई। पद्मावतीने मुनिराजको नमस्कार कर उनसे भी अपनी इच्छा कह सुनाई। उत्तरमें मुनिने कहा–बहिन, तू साध्वी होना चाहती है, तेरा यह विचार

बहुत अच्छा है पर यह समय तेरी दीक्षाके लिए उपयुक्त नहीं है । कारण तूने पहले जन्ममें नागदत्ताकी पर्यायमें जिन-व्रतको तीन बार ग्रहण कर तीनों बार ही छोड़ दिया था और फिर चौथी बार ग्रहण कर तू उसके फलसे राजकुमारी हुई । तूने तीन बार व्रत छोड़ा उससे तुझे तीनों बार ही दुःख उठाना पड़ा । तीसरी बारका कर्म कुछ और बचा है । वह जब शान्त हो जाय और इस बीचमें तेरे पुत्रको भी राज्य मिल जाय तब कुछ दिनों तक राज्य सुख भोग कर फिर पुत्रके साथ साथ ही तू भी साध्वी होना । मुनि द्वारा अपना भविष्य सुनकर पद्मावती उन्हें नमस्कार कर उस क्षुल्लिकिनीके साथ साथ चली गई । अबसे वह पद्मावती उसीके पास रहने लगी ।

इधर करकण्डु बालदेवके यहाँ दिनों दिन बढ़ने लगा । जब उसकी पढ़नेकी उमर हुई तब बालदेवने अच्छे अच्छे विद्वान् अध्यापकोंको रखकर उसे पढ़ाया । करकण्डु पुण्यके उदयसे थोड़े ही वर्षोंमें पढ़-लिख कर अच्छा हुशियार हो गया । कई विषयमें उसकी अरोक गति हो गई । एक दिन बालदेव और करकण्डु हवा-खोरी करते करते शहर बाहर मसानमें आ निकले । ये दोनों एक अच्छी जगह बैठकर मसान भूमिकी लीला देखने लगे । इतनेमें जयभद्र मुनिराज अपने संघको लिये इसी मसानमें आकर ठहरे । यहाँ एक नर-कपाल पड़ा हुआ था । उसके मुँह

और आँखोंके तीन छेदोंमें तीन बाँस उग रहे थे। उसे देखकर एक मुनिने विनोदसे अपने गुरुसे पूछा-भगवन्, यह क्या कौतुक है, जो इस नर-कपालमें तीन बाँस उगे हुए हैं? तपस्वी मुनिने उसके उत्तरमें कहा—इस हस्तिनापुरका जो नया राजा होगा, इन बाँसोंके उसके लिए अंकुश, छत्र, दण्ड वगैरह बनेंगे। जयभद्राचार्य द्वारा कहे गये इस भविष्यको किसी एक ब्राह्मणने सुन लिया। अतः वह धनकी आशासे इन बाँसोंको उखाड़ लाया। उसके हाथसे इन्हें करकण्डुने खरीद लिया। सच है, मुनि लोग जिसके सम्बन्धमें जो वात कह देते हैं वह फिर होकर ही रहती है।

उस समय हस्तिनापुरका राजा बलवाहन था। इसके कोई संतान न थी। इसकी मृत्यु हो गई। अब राजा किसको बनाया जाय, इस विषयकी चर्चा चली। आखिर यह निश्चय पाया कि महाराजका खास हाथी जलभरा सुवर्ण-कलश देकर छोड़ा जाय। वह जिसका अभिषेक कर राज-सिंहासन पर ला बैठादे वही इस राज्यका मालिक हो। ऐसा ही किया गया। हाथी राजाको ढूँढ़नेको निकला। चलता चलता वह करकुण्डुके पास पहुँचा। वही इसे अधिक पुण्यवान् देख पड़ा। उसी समय उसने करकण्डुका अभिषेक कर उसे अपने ऊपर चढ़ा लिया और राज्यसिंहासन पर ला रख दिया। सारी प्रजाने उस तेजस्वी करकण्डुको

अपना मालिक हुआ देख खूब जय जय कार मनाया और खूब आनन्द उत्सव किया। करकंडुके भाग्यका सितारा चमका। वह राजा हुआ। सच है, जिन भगवान्की पूजाके फलसे क्या क्या प्राप्त नहीं होता। करकण्डुको राजा होते ही बालदेवको उसकी नष्ट हुई विद्याएँ फिर सिद्ध हो गईं। उसे उसकी सेवाका मनचाहा फल मिल गया। इसके बाद ही बाल-देव विद्याकी सहायतासे करकण्डुकी खास मा पद्मावती जहाँ थी, वहाँ गया और उसे करकण्डुके पास लाकर उसने दोनों माता-पुत्रोंका मिलाप करवाया। पद्मावती आज कृतार्थ हुई। उसकी वर्षोंकी तपस्या समाप्त हुई। पश्चात् बालदेव इन दोनोंको बड़ी नम्रतासे प्रणाम कर अपनी राजधानीमें चला गया।

करकण्डुके राजा होने पर कुछ राजे लोग उससे विरुद्ध होकर लड़नेको तैयार हुए। पर करकण्डुने अपनी बुद्धि-मानी और राजनीतिकी चतुरतासे सबको अपना मित्र बना-कर देशभरमें शत्रुका नाम भी न रहने दिया। वह फिर सुखसे राज्य करने लगा। करकण्डुके दिनों दिन बढ़ते हुए प्रतापकी खबर चारों ओर फैलती फैलती दन्तिवाहनके पास पहुँची। दन्तिवाहन करकण्डुके पिता हैं। पर न तो दन्ति-वाहनको यह ज्ञात था कि करकण्डु मेरा पुत्र है और न कर-कण्डुको इस बातका पता था कि दन्तिवाहन मेरे पिता होते हैं। यही कारण था कि दन्तिवाहनको इस नये राजाका प्रताप सहन नहीं हुआ। उन्होंने अपने एक दूतको करकण्डुके पास

भेजा। दूतने आकर करकण्डुसे प्रार्थना की-" राजाधिराज दन्तिवाहन मेरे द्वारा आपको आज्ञा करते हैं कि यदि राज्य आप सुखसे करना चाहते हैं तो उनकी आप आधीनता स्वीकार करें। ऐसा किये बिना किसी देशके किसी हिस्से पर आपकी सत्ता नहीं रह सकती।" करकण्डु एक तेजस्वी राजा और उस पर एक दूसरेकी सत्ता, सचमुच करकण्डुके लिए यह आश्चर्यकी बात थी। उसे दन्तिवाहनकी इस धृष्टता पर बड़ा क्रोध आया। उसने तेज आँखें कर दूतकी ओर देखा और उससे कहा-यदि तुम्हें अपनी जान प्यारी है तो तुम यहाँसे जल्दी भाग जाओ! तुम दूसरेके नौकर हो, इसलिए तुम पर मैं दया करता हूँ। नहीं तो तुम्हारी इस धृष्टताका फल तुम्हें मैं अभी ही बता देता। जाओ, और अपने मालिकसे कहदो कि वह रणभूमिमें आकर तैयार रहे। मुझे जो कुछ करना होगा मैं वहीं करूँगा। दूतने जैसी ही करकण्डुकी आँखें चढ़ी देखीं वह उसी समय डरकर राज्य-दरबारसे रवाना हो गया।

इधर करकण्डु अपनी सेनामें युद्धघोषणा दिलवा कर आप दन्तिवाहन पर जा चढ़ा और उनकी राजधानीको उसने सब ओरसे घेर लिया। दन्तिवाहन तो इसके लिए पहले हीसे तैयार थे। वे भी सेना ले युद्धभूमिमें उतरे। दोनों ओरकी सेनामे व्यूह रचना हुई। रणवाद्य बजनेवाला ही था कि पद्मावतीको यह ज्ञात हो गया कि यह युद्ध शत्रु-

ओंका न होकर खास पितापुत्रका है। वह तब उसी समय अपने प्राणनाथके पास गई और सब हाल उसने उनसे कह सुनाया। दन्तिवाहनको इस समय अपने प्रिया-पुत्रको प्राप्त कर जो आनन्द हुआ, उसका पता उन्हींके हृदयको है। दूसरा वह कुछ थोड़ा बहुत पा सकता है जिस पर ऐसा ही भयानक प्रसंग आकर कभी पड़ा हो। सर्व साधारण उनके उस आनन्दका, उस सुखका थाह नहीं ले सकते। दन्तिवाहन तब उसी समय हाथीसे उतर कर अपने प्रियपुत्रके पास आये। करकण्डुको ज्ञात होते ही वह उनके सामने दौड़ा गया और जाकर उनके पाँवोंमें गिर पड़ा। दन्तिवाहनने झटसे उसे उठाकर अपनी छातीसे लगा लिया। पिता-पुत्रका पुण्य मिलाप हुआ। इसके बाद दन्तिवाहनने बड़े आनन्द और ठाठवाटसे पुत्रका शहरमें प्रवेश कराया। प्रजाने अपने युवराजका अपार आनन्दके साथ स्वागत किया। घर घर आनन्द-उत्सव मनाया गया। दान दिया गया। पूजा-प्रभावना की गई। महा अभिषेक किया गया। गरीब लोग मनचाही सहायतासे खुश किये गये। इस प्रकार पुण्य-प्रसादसे करकण्डुने राज्यसम्पत्तिके सिवा कुटुम्ब-सुख भी प्राप्त किया। वह अब स्वर्गके देवोंकी तरह सुखसे रहने लगा।

कुछ दिनों बाद दन्तिवाहनने अपने पुत्रका विवाह समारंभ किया। उसमें उन्होंने खूब खर्च कर बड़े वैभवके साथ

करकण्डुका कोई आठ हजार राजकुमारियोंके साथ ब्याह किया । ब्याहके बाद ही दन्तिवाहन राज्यका भार सब करकण्डुके जिम्मे कर आप अपनी प्रिया पद्मावतीके साथ सुखसे रहने लगे । सुख-चैनसे समय बिताना उन्होंने अब अपना प्रधान कार्य रक्खा ।

इधर करकण्डु राज्यशासन करने लगा । प्रजाको उसके शासनकी जैसी आशा थी, करकण्डुने उससे कहीं बढ़कर धर्म-ज्ञता, नीति, और प्रजाप्रेम बतलाया । प्रजाको सुखी बनानेमें उसने कोई बात उठा न रक्खी । इस प्रकार वह अपने पुण्यका फल भोगने लगा । एक दिन समय देख मंत्रियोंने करकण्डुसे निवेदन किया—महाराज, चेरम, पाण्ड्य और चोल आदि राजे चिर समयसे अपने आधीन हैं । पर जान पड़ता है उन्हें इस समय कुछ अभिमानने आघेरा है । वे मानपर्वतका आश्रय पा अब स्वतंत्रसे हो रहे हैं । राज-कर वगैरह भी अब वे नहीं देते । इसलिए उन पर चढ़ाई करना बहुत आवश्यक है । इस समय ढील कर देनेसे संभव है थोड़े ही दिनोंमें शत्रुओंका जोर अधिक बढ़ जाये । इसलिए इसके लिए प्रयत्न कीजिए कि वे ज्यादा सिर न चढ़ा पावें, उसके पहले ही ठीक ठिकाने आजायँ । मंत्रियोंकी सलाह सुन और उस पर विचार कर पहले करकण्डुने उन लोगोंके पास अपना दूत भेजा । दूत अपमानके साथ लौट आया । करकण्डुने जब सीधी तरह सफलता प्राप्त होती न देखी तब उसे युद्धके लिए तैयार

होना पड़ा । वह अपनी सेना लिए युद्धभूमिमें जा डटा । शत्रु लोग भी चुपचाप न बैठकर उसके सामने हुए । दोनों ओरकी सेनाकी मुठभेड़ हो गई । घमासान युद्ध हुआ । दोनों ओरके हजारों वीर काम आये । अन्तमें करकण्डुकी सेनाके युद्धभूमिसे पाँव उखड़े । यह देख करकण्डु स्वयं युद्धभूमिमें उतरा । बड़ी वीरतासे वह शत्रुओंके साथ लड़ा । इस नई उमरमें उसकी इस प्रकार वीरता देख कर शत्रुओंको दाँतों तले उँगली दबाना पड़ी । विजयश्रीने करकण्डुको ही वरा । जब शत्रुराजे आ-आकर इसके पाँव पड़ने लगे और इसकी नजर उनके मुकुटों पर पड़ी तो देखकर यह एक साथ हतप्रभ हो गया और बहुत बहुत पश्चात्ताप करने लगा कि–हाय ! मुझ पापीने यह अनर्थ क्यों किया ? न जाने इस पापसे मेरी क्या गति होगी ? बात यह थी कि उन राजोंके मुकुटोंमें जिन भगवान्‌की प्रतिमाएँ खुदी हुई थीं । और वे सब राजे जैनी थे । अपने धर्मबन्धुओंको जो उसने कष्ट दिया और भगवान्‌का अविनय किया उसका उसे बेहद दुःख हुआ । उसने उन लोगोंको बड़े आदर-भावसे उठाकर पूछा–क्या सचमुच आप जैनधर्मी हैं ? उनकी ओरसे सन्तोषजनक उत्तर पाकर उसने बड़े कोमल शब्दोंमें उनसे कहा–महानुभावो, मैंने क्रोधसे अन्धे होकर जो आपको यह व्यर्थ कष्ट दिया– आप पर उपद्रव किया, इसका मुझे अत्यन्त दुःख है । मुझे इस अपराधके लिए आप लोग क्षमा करें । इस प्रकार उनसे क्षमा-

कराकर उनको साथ लिये वह अपने देशको रवाना हुआ। रास्तेमें तेरपुरके पास इनका पड़ाव पड़ा। इसी समय कुछ भीलोंने आकर नम्र मस्तकसे इनसे प्रार्थना की–राजाधिराज, हमारे तेरपुरसे दो-कोस दूरी पर एक पर्वत है। उस पर एक छोटासा धाराशिव नामका गाँव बसा हुआ है। इस गाँवमें एक बड़ा ही सुन्दर और भव्य जिनमन्दिर बना हुआ है। उसमें विशेषता यह है कि उसमें कोई एक हजार खम्भे हैं। वह बड़ा सुन्दर है। उसे आप देखनेको चलें। इसके सिवा पर्वत पर एक यह आश्चर्यकी बात है कि वहाँ एक बाँमी है। एक हाथी रोज रोज अपनी सूँडमें थोड़ासा पानी और एक कमलका फूल लिये वहाँ आता है और उस बाँवीकी परिक्रमा देकर वह पानी और फूल उस पर चढ़ा देता है। इसके बाद वह उसे अपना मस्तक नवाकर चला जाता है। उसका यह प्रतिदिनका नियम है। महाराज, नहीं जान पड़ता कि इसका क्या कारण है। करकण्डु भीलों द्वारा यह शुभ समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। इस समाचारको लानेवाले भीलोंको उचित इनाम देकर वह स्वयं सबको साथ लिये उस कौतुकमय स्थानको देखने गया। पहले उसने जिन मन्दिर जाकर भक्ति पूर्वक भगवानकी पूजा की, स्तुति की। सच है, धर्मात्मा पुरुष धर्मके कामोंमें कभी प्रमाद–आलस नहीं करते। बाद वह उस बाँवीकी जगह गया। उसने वहाँ भीलोंके कहे माफिक हाथीको उस बाँवीकी पूजा करते

पाया। देखकर उसे बड़ा अचंभा हुआ। उसने सोचा कि इसका कुछ न कुछ कारण होना चाहिए। नहीं तो इस पशुमें ऐसा भक्तिभाव नहीं देखा जाता। यह विचार कर उसने उस बाँवीको खुवाया। उसमेंसे एक सन्दूक निकली। उसने उसे खोलकर देखा। सन्दूकमें एक रत्नमयी पार्श्वनाथ भगवान्की पवित्र प्रतिमा थी। उसे देखकर धर्मप्रेमी करकण्डुको अतिशय प्रसन्नता हुई। उसने तब वहाँ 'अग्गलदेव' नामका एक विशाल जिन मन्दिर बनवाकर उसमें बड़े उत्सवके साथ उस प्रतिमाको विराजमान किया। प्रतिमा पर एक गाँठ देखकर करकुण्डुने शिल्पकारसे कहा—देखो, तो प्रतिमापर यह गाँठ कैसी है ? प्रतिमाकी सब सुन्दरता इससे मारी गई। इसे सावधानीके साथ तोड़दो। यह अच्छी नहीं देख पड़ती। शिल्पकारने कहा—महाराज, यह गाँठ ऐसी वैसी नहीं है जो तोड़दी जाय। ऐसी रत्नमयी दिव्य प्रतिमा पर गाँठ होनेका कुछ न कुछ कारण जान पड़ता है। इसका बनानेवाला इतना कमबुद्धि न होगा जो प्रतिमाकी सुन्दरता नष्ट होनेका खयाल न कर इस गाँठको रहने देता। मुझे जहाँतक जान पड़ता है, इस गाँठका सम्बन्ध किसी भारी जल-प्रवाहसे होना चाहिए। और यह असंभव भी नहीं। संभवतः इसकी रक्षाके लिए यह प्रयत्न किया गया हो। इसलिए मेरी समझमें इसका तुड़वाना उचित नहीं। करकण्डुने उसका कहा न माना। उसे उसकी बात-

पर विश्वास न हुआ। उसने तब शिल्पकारसे बहुत आग्रह कर आखिर उसे तुड़वाया ही। जैसे ही वह गाँठ टूटी उसमेंसे एक बड़ा भारी जल-प्रवाह वह निकला। मन्दिरमें पानी इतना भर गया कि करकण्डु वगैरहको अपने जीवनके वचनेका भी सन्देह हो गया। तब वह जिनभक्त उस प्रवाहके रोकनेके लिए संन्यास ले कुशासन पर बैठ कर परमात्माका स्मरण चिंतन करने लगा। उसके पुण्य-प्रभावसे नागकुमारने प्रत्यक्ष आकर उससे कहा--राजन्, काल अच्छा नहीं, इस लिए प्रतिमाकी सुरक्षाके लिए मुझे यह जलपूर्ण लयण बनाना पड़ा। इसलिए आप इस जलप्रवाहके रोकनेका आग्रह न करें। इस प्रकार करकण्डुको नागकुमारने समझा कर आसन परसे उठ जानेको कहा। करकण्डु नागकुमारके कहनेसे संन्यास छोड़ उठ गया। उठकर उसने नागकुमारसे पूछा–क्योंजी, ऐसा सुन्दर यह लयण यहाँ किसने बनाया और किसने इस बाँवीमें इस प्रतिमाको विराजमान किया? नागकुमारने कहा–सुनिए, विजयार्द्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें खूब सम्पतिशाली नभस्तिलक नामका एक नगर था। उसमें अमितवेग और सुवेग नामके दो विद्याधर राजे हो चुके हैं। दोनों धर्मज्ञ और सच्चे जिनभक्त थे। एक दिन वे दोनों भाई आर्यखण्डके जिनमन्दिरोंके दर्शन करनेके लिए आये। कई मन्दिरोंमें दर्शन पूजन कर वे मलयाचल पर्वत पर आये। यहाँ घूमते हुए उन्होंने पार्श्व-

नाथ भगवान्‌की इस रत्नमयी प्रतिमाको देखा। इसके दर्शन कर उन्होंने इसे एक सन्दूकमें बन्द कर दिया और सन्दूकको एक गुप्त स्थान पर रखकर वे उस समय चले गये। कुछ समय बाद वे पीछे आकर उस सन्दूकको कहीं अन्यत्र ले जानेके लिए उठाने लगे पर सन्दूक अबकी बार उनसे न उठी। तब तेरपुर जाकर उन्होंने अवधि-ज्ञानी मुनिराजसे सब हाल कहकर सन्दूकके न उठनेका कारण पूछा। मुनिने कहा—"सुनिए, यह सुखकारिणी सन्दूक तो पहले लयणके ऊपर दूसरा लयण होगी। मतलब यह कि यह सुवेग आर्तध्यानसे मरकर हाथी होगा। वह इस सन्दूक-की पूजा किया करेगा। कुछ समय बाद करकण्डु राजा यहाँ आकर इस सन्दूकको निकालेगा और सुवेगका जीव हाथी तब संन्यास ग्रहण कर स्वर्ग गमन करेगा। इस प्रकार मुनि द्वारा इस प्रतिमाकी चिरकाल तक अवस्थिति जानकर उन्होंने मुनिसे फिर पूछा—तो प्रभो, इस लयणको किसने बनाया? मुनिराज बोले—इसी विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमें बसे हुए रथनूपुरमें नील और महानील नामके दो राजे हो गये हैं। शत्रुओंके साथ युद्धमें उनकी विद्या, धन, राज्य वगैरह सब कुछ नष्ट हो गया। तब वे इस मलय पर्वत पर आकर बसे। यहाँ वे कई वर्षोंतक आरामसे रहे। दोनों भाई बड़े धर्मात्मा थे। उन्होंने यह लयण बनवाया। पुण्यसे उन्हें उनकी विद्याएँ फिर प्राप्त हो गईं। तब वे पीछे अपनी

जन्मभूमि रथनपूर चले गये। इसके वाद कुछ दिनोंतक वे दोनों और गृह-संसारमें रहे। फिर जिनदीक्षा लेकर दोनों भाई साधु हो गये। अन्तमें तपस्याके प्रभावसे वे स्वर्ग गये।" इस प्रकार सब हाल सुनकर बड़ा भाई अमितवेग तो उसी समय दीक्षा लेकर मुनि हो गया और अन्तमें समाधिसे मरकर ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। और सुवेग—अमितवेगका छोटा भाई आर्त्तध्यानसे मरकर यह हाथी हुआ। सो ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवने पूर्व जन्मके भातृ-प्रेमके वश हो, आकर इसे धर्मोपदेश किया—समझाया। उससे इस हाथीको जातिस्मरण ज्ञान हो गया। इसने तब अणुव्रत ग्रहण किये। तव हीसे यह इस प्रकार शान्त रहता है और सदा इस बाँवीकी पूजन किया करता है। तुमने बाँवी तोड़कर जबसे उसमेंसे प्रतिमा निकाली तबहीसे हाथी संन्यास लिये यहीं रहता है। और राजन्, आप पूर्वजन्ममें इसी तेरपुरमें ग्वाल थे। आपने तब एक कमलके फूल द्वारा जिन भगवान्की पूजा की थी। उसीके फलसे इस समय आप राजा हुए हैं। राजन्, यह जिनपूजा सब पुण्यकर्मोंमें उत्तम पुण्यकर्म है। यही तो कारण है कि क्षणमात्रमें इसके द्वारा उत्तमसे उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार करकण्डुको आदिसे इति पर्यन्त सब हाल कहकर और धर्म प्रेमसे उसे नमस्कार कर नागकुमार अपने स्थान चला गया। सच है यह पुण्यहीका प्रभाव है जो देव भी मित्र हो जाते हैं।

हाथीको संन्यास लिये आज तीसरा दिन था। करकण्डुने उसके पास जाकर उसे धर्मका पवित्र उपदेश किया। हाथी अन्तमें सम्यक्त्व सहित मरकर सहस्रार स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ। एक पशु धर्मका उपदेश सुन कर स्वर्गमें अनन्त सुखोंका भोगनेवाला देव हुआ, तब जो मनुष्य-जन्म पाकर पवित्र भावोंसे धर्म पालन करें तो उन्हें क्या प्राप्त न हो? बात यह है कि धर्मसे बढ़कर सुख देनेवाली संसारमें कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए धर्मप्राप्तिके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

करकण्डुने इसके बाद इसी पर्वत पर अपने, अपनी माके तथा बालदेवके नामसे विशाल और सुन्दर तीन जिनमन्दिर बनवाये, बड़े वैभवके साथ उनकी प्रतिष्ठा करवाई। जब करकण्डुने देखा कि मेरा सांसारिक कर्त्तव्य सब पूरा हो चुका तब राज्यका सब भार अपने पुत्र वसुपालको सौंप कर और संसार, शरीर, विषय-भोगादिसे विरक्त होकर आप अपने माता-पिता तथा और भी कई राजोंके साथ जिनदीक्षा ले योगी हो गया। योगी होकर करकण्डु मुनिने खूब तप किया, जो कि निर्दोष और संसार-समुद्रसे पार करनेवाला है। अन्तमें परमात्म-स्मरणमें लीन हो उसने भौतिक शरीर छोड़ा। तपके प्रभावसे उसे सहस्रार स्वर्गमें दिव्य देह मिला। पद्मावती दन्तिवाहन तथा अन्य राजे भी अपने अपने पुण्यके अनुसार स्वर्गलोक गये।

करकण्डुने ग्वालके जन्ममें केवल एक कमलके फूल द्वारा भगवान्की पूजा की थी। उसे उसका जो फल मिला उसे आप सुन चुके हैं। तब जो पवित्र भावपूर्वक आठ द्रव्योंसे भगवान्की पूजा करेंगे उनके सुखका तो फिर पूछना ही क्या? थोड़ेमें यों समझिए कि जो भव्यजन भक्तिसे भगवान्की प्रतिदिन पूजा किये करते हैं वे सर्वोत्तम सुख—मोक्ष भी प्राप्त कर लेते हैं, तब और सांसारिक सुखोंकी तो उनके सामने गिनती ही क्या है।

एक बे-समझ ग्वालने जिन भगवान्के पवित्र चरणोंकी एक कमलके फूलसे पूजा की थी, उसके फलसे वह करकण्डु राजा होकर देवों द्वारा पूज्य हुआ। इसलिए सुखकी चाह करनेवाले अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे जिन-पूजाकी ओर अपने ध्यानको आकर्षित करें। उससे उन्हें मनचाहा सुख मिलेगा। क्योंकि भावोंका पवित्र होना पुण्यका कारण है और भावोंके पवित्र करनेका जिन-पूजा भी एक प्रधान कारण है।

११४-जिनपूजन-प्रभाव-कथा ।

संसार द्वारा पूजे जानेवाले जिन भगवान्को, सर्व श्रेष्ठ गिनी जानेवाली जिनवानीको और राग, द्वेष, मोह, माया, आदि दोषोंसे रहित परम वीतरागी साधुओंको नमस्कार कर जिनपूजा द्वारा फल प्राप्त करनेवाले एक मेंडककी कथा लिखी जाती है ।

शास्त्रोंमें उल्लेख किये उदाहरणों द्वारा यह बात खुलासा देखनेमें आती है कि जिन भगवानकी पूजा पापोंकी नाश करनेवाली और स्वर्ग-मोक्षके सुखोंकी देनेवाली है। इस लिए जो भव्यजन पवित्र भावों द्वारा धर्मवृद्धिके अर्थ जिन पूजा करते हैं वे ही सच्चे सम्यग्दृष्टि हैं और मोक्ष जानेके अधिकारी हैं । इसके विपरीत पूजाकी जो निन्दा करते हैं वे पापी हैं और संसारमें निन्दाके पात्र हैं । ऐसे लोग सदा दुःख, दरिद्रता, रोग, शोक आदि कष्टोंको भोगते हैं और अन्तमें दुर्गतिमें जाते हैं। अत एव भव्यजनोंको उचित है कि वे जिन भगवान्का अभिषेक, पूजन, स्तुति, ध्यान आदि सत्कर्मोंको सदा किया करें। इसके सिवा तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा, जिन मन्दिरोंका जीर्णोद्धार आदि द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिए। इन पूजा प्रभावना आदि कारणोंसे

सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। जिन भगवान् इन्द्र, धरणेन्द्र, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी महा: पुरुषों द्वारा पूज्य हैं। इसलिए उनकी पूजा तो करनी ही चाहिए। जिनपूजा द्वारा सभी उत्तम उत्तम सुख मिलते हैं। जिनपूजा करना महा पुण्यका कारण है, ऐसा शास्त्रोंमें जगह जगह लिखा मिलता है। इसलिए जिनपूजा समान दूसरा पुण्यका कारण संसारमें न तो हुआ और न होगा। प्राचीन कालमें भरत जैसे अनेक बड़े बड़े पुरुषोंने जिनपूजा द्वारा जो फल प्राप्त किया है, किसकी शक्ति है जो उसे लिख सके। गन्ध-पुष्पादि आठ द्रव्योंसे पूजा करनेवाले जिनपूजा द्वारा जो फल लाभ करते हैं, उनके सम्बन्धमें हम क्या लिखें जब कि केवल एक ना-कुछ चीज फूलसे पूजाकर एक मेंडकने स्वर्ग सुख प्राप्त किया। समन्तभद्र स्वामीने भी इस विषयमें लिखा है—राजगृहमें हर्षसे उन्मत हुए एक मेंडकने सत्पुरुषोंको यह स्पष्ट बतला दिया कि केवल एक फूल द्वारा भी जिन भगवान्की पूजा करनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है, जैसा कि मैंने प्राप्त किया।

अब मेंडककी कथा सुनिए—

यह भारतवर्ष जम्बूद्वीपके मेरुकी दक्षिण दिशामें है। इसमें अनेक तीर्थंकरोंका जन्म हुआ है। इसलिए यह महान् पवित्र है। मगध भारतवर्षमें एक प्रसिद्ध और धनशाली देश है। सारे संसारकी लक्ष्मी जैसी यहीं आकर इकट्ठी हो

गई हो। यहाँके निवासी प्रायः धनी हैं, धर्मात्मा हैं, उदार हैं और परोपकारी हैं।

जिस समयकी यह कथा है उस समय मगधकी राजधानी राजगृह एक बहुत सुन्दर शहर था। सब प्रकारकी उत्तमसे उत्तम भोगोपभोगकी वस्तुएँ वहाँ बड़ी सुलभतासे प्राप्त थीं। विद्वानोंका उसमें निवास था। वहाँके पुरुष देवोंसे और स्त्रियाँ देवबालाओंसे कहीं बढ़कर सुन्दर थीं। स्त्री-पुरुष प्रायः सब ही सम्यक्त्व रूपी भूषणसे अपनेको सिंगारे हुए थे। और इसीलिए राजगृह उस समय मध्यलोकका स्वर्ग कहा जाता था। वहाँ जैनधर्मका ही अधिक प्रचार था। उसे प्राप्त कर सब सुख-शान्ति लाभ करते थे।

राजगृहके राजा तब श्रेणिक थे। श्रेणिक धर्मज्ञ थे। जैन-धर्म और जैनतत्व पर उनका पूर्ण विश्वास था। भगवान्की भक्ति उन्हें उतनी ही प्रिय थी, जितनी कि भौंरेको कमलिनी। उनका प्रताप शत्रुओंके लिए मानों धधकती आग थी। सत्पुरुषोंके लिए वे शीतल चन्द्रमा थे। पिता अपनी सन्तानको जिस प्यारसे पालता है श्रेणिकका प्यार भी प्रजा पर वैसा ही था। श्रेणिककी कई रानियाँ थीं। चेलिनी उन सबमें उन्हें अधिक प्रिय थी। सुन्दरतामें, गुणोंमें, चतुरतामें चेलिनीका आसन सबसे ऊँचा था। उसे जैनधर्मसे, भगवान्की पूजा-प्रभावनासे बहुत ही प्रेम था। कृत्रिम भूषणों द्वारा

सिंगार करनेको महत्व न देकर उसने अपने आत्माको अन-मोल सम्यग्दर्शन रूप भूषणसे भूषित किया था। जिनवानी सब प्रकारके ज्ञान-विज्ञानसे परिपूर्ण है और अतएव वह सुन्दर है, चेलनीमें भी किसी प्रकारके ज्ञान-विज्ञानकी कमी न थी। इसलिए उसकी रूपसुन्दरताने और अधिक सौन्दर्य प्राप्त कर लिया था। 'सोनेमें सुगन्ध' की उक्ति उस पर चरितार्थ थी।

राजगृहहीमें एक नागदत्त नामका सेठ रहता था। यह जैनी न था। इसकी स्त्रीका नाम भवदत्ता था। नागदत्त बड़ा मायाचारी था। सदा मायाके जालमें यह फँसा हुआ रहता था। इस मायाचारके पापसे मरकर यह अपने घर आँग-नकी बावड़ीमें मेंडक हुआ। नागदत्त यदि चाहता तो कर्मोंका नाशकर मोक्ष जाता, पर पाप कर वह मनुष्य पर्यायसे पशु-जन्ममें आया–एक मेंडक हुआ। इसलिए भव्य-जनोंको उचित है कि वे संकट समय भी पाप न करें।

एक दिन भवदत्ता इस बावड़ी पर जल भरनेको आई। उसे देखकर मेंडकको जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह उछल कर भवदत्ताके वस्त्रों पर चढ़ने लगा। भवदत्ताने डरकर उसे कपड़ों परसे झिड़क दिया। मेंडक फिर भी उछल उछल कर उसके वस्त्रों पर चढ़ने लगा। उसे बार बार अपने पास आता देखकर भवदत्ता बड़ी चकित हुई और डरी भी। पर इतना उसे भी विश्वास हो गया कि इस मेंडकका और

मेरा पूर्वजन्मका कुछ न कुछ सम्बन्ध होना ही चाहिए। अन्यथा बार बार मेरे झिड़क देने पर भी यह मेरे पास आनेका साहस न करता। जो हो, मौका पाकर कभी किसी साधु-सन्तसे इसका यथार्थ कारण पूछूँगी।

भाग्यसे एक दिन अवधिज्ञानी सुव्रत मुनिराज राजगृहमें आकर ठहरे। भवदत्ताको मेंडकका हाल जाननेकी बड़ी उत्कण्ठा थी। इसलिए वह तुरंत उनके पास गई। उनसे प्रार्थनाकर उसने मेंड़कका हाल जाननेकी इच्छा प्रगट की। सुव्रत मुनिराजने तब उससे कहा—जिसका तू हाल पूछनेको आई है, वह दूसरा कोई न होकर तेरा पति नागदत्त है। वह बड़ा मायाचारी था। इसलिए मरकर मायाके पापसे यह मेंडक हुआ है। उन मुनिके संसार-पार करनेवाले वचनोंको सुनकर भवदत्ताको सन्तोष हुआ। वह मुनिको नमस्कार कर घर पर आ गई। उसने फिर मोहवश हो उस मेंडकको भी अपने यहाँ ला रक्खा। मेंडक वहाँ आकर बहुत प्रसन्न रहा।

इसी अवसरमें वैभार पर्वत पर महावीर भगवान्का समवशरण आया। वनमालीने आकर श्रेणिकको खबर दी कि राजराजेश्वर, जिनके चरणोंकी इन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्त्ती, विद्याधर आदि प्रायः सभी महापुरुष पूजा-स्तुति करते हैं, वे महावीर भगवान् वैभार पर्वत पर पधारे हैं। भगवान्के आनेके आनन्द-समाचार सुनकर श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए।

भक्तिवश हो सिंहासनसे उठ कर उन्होंने भगवान्‌को परोक्ष नमस्कार किया। इसके बाद इन शुभ समाचारोंकी सारे शहरमें सबको खबर हो जाय, इसके लिए उन्होंने आनन्द घोषना दिलवादी। बड़े भारी लाव-लश्कर और वैभवके साथ भव्यजनोंको संग लिये वे भगवान्‌के दर्शनोंको गये। वे दूरसे उन संसारका हित करनेवाले भगवान्‌के समवशरणको देखकर उतने ही खुश हुए जितने खुश मोर मेघोंको देखकर होते हैं और रासायनिक लोग अपना मन चाहा रस लाभ कर होते हैं। वे समवसरणमें पहुँचे। भगवान्‌के उन्होंने दर्शन किये और उत्तमसे उत्तम द्रव्योंसे उनकी पूजा की। अन्तमें उन्होंने भगवान्‌के गुणोंका गान किया।

हे भगवन्, हे दयाके सागर, ऋषि-महात्मा आपको 'अग्नि' कहते हैं, इसलिए कि आप कर्मरूपी ईंधनको जला कर खाक कर देनेवाले हैं। आपहीको वे 'मेघ' भी कहते हैं, इसलिए कि आप प्राणियोंको जलानेवाली दुःख, शोक, चिन्ता, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष,—आदि दावाग्निको क्षणभरमें अपने उपदेश रूपी जलसे बुझा डालते हैं। आप 'सूरज' भी हैं, इसलिए कि अपने उपदेशरूपी किरणोंसे भव्य जनरूपी कमलोंको प्रफुल्लित कर लोक और अलोकके प्रकाशक हैं। नाथ, आप एक सर्वोत्तम वैद्य हैं, इसलिए कि धन्वन्तरीसे वैद्योंकी दवा-दारूसे भी नष्ट न होनेवाली ऐसी जन्म, जरा, मरण रूपी महान् व्याधियोंको

जड़ मूलसे खोदेते हैं । प्रभो, आप उत्तमोत्तम गुण रूपी जवाहरातके उत्पन्न करनेवाले पर्वत हो, संसारके पालक हो, तीनों लोकके अनमोल भूषण हो, प्राणीमात्रके निस्स्वार्थ बन्धु हो, दुःखोंके नाश करनेवाले हो और सब प्रकारके सुखोंके देने वाले हो । जगदीश, जो सुख आपके पवित्र चरणोंकी सेवासे प्राप्त हो सकता है वह अनेक प्रकारके कठिनसे कठिण परिश्रम-द्वारा भी प्राप्त नहीं होता । इसलिए हे दयासागर, मुझ गरी-बको—अनाथको अपने चरणोंकी पवित्र और मुक्तिका सुख देनेवाली भक्ति प्रदान कीजिए । जबतक कि मैं संसारसे पार न हो जाऊँ । इस प्रकार बड़ी देरतक श्रेणिकने भग-वान्का पवित्र भावोंसे गुणानुवाद किया । बाद वे गौतम गणधर आदि महर्षियोंको भक्तिसे नमस्कार कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गये ।

भगवान्के दर्शनोंके लिए भवदत्ता सेठानी भी गई । आका-शमें देवोंका जय-जय-कार और दुंदुभी बाजोंकी मधुर-मनोहर आवाज सुनकर उस मेंडकको जातिस्मरण हो गया । वह भी तब बावड़ीमेंसे एक कमलकी कलीको अपने मुँहमें दबाये बड़े आनन्द और उल्लासके साथ भगवान्की पूजाके लिए चला । रास्तेमें आता हुआ वह हाथीके पैर नीचे कुचला कर मर गया । पर उसके परिणाम त्रिलोकपूज्य महावीर भग-वान्की पूजामें लगे हुए थे, इसलिए वह उस पूजाके प्रेमसे उत्पन्न होनेवाले पुण्यसे सौधर्म स्वर्गमें महर्द्धिक देव हुआ । देखिए, कहाँ तो वह मेंडक और कहाँ अब स्वर्गका देव !

पर इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। कारण-जिन भगवान्‌की पूजासे सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

एक अन्तर्मुहूर्त्तमें वह मेंडकका जीव आँखोंमें चकाचोंध लानेवाला तेजस्वी और सुन्दर युवा देव बन गया। नाना तरहके दिव्य रत्नमयी अलंकारोंकी कान्तिसे उसका शरीर ढक रहा था-बड़ी सुन्दर शोभा थी। वह ऐसा जान पड़ता था, मानों रत्नोंकी एक बहुत बड़ी राशि रक्खी हो या रत्नोंका पर्वत बनाया गया हो। उसके बहुमूल्य वस्त्रोंकी शोभा देखते ही बनती थी। गलेमें उसके स्वर्गीय कल्पवृक्षोंके फूलोंकी सुन्दर मालाएँ शोभा दे रहीं थीं। उनकी सुन्दर सुगन्धने सब दिशाओंको सुगन्धित बना दिया था। उसे अवधिज्ञानसे जान पड़ा कि मुझे जो यह सब सम्पत्ति मिली है और मैं देव हुआ हूँ, यह सब भगवान्‌की पूजाकी पवित्र भावनाका फल है। इसलिए सबसे पहले मुझे जाकर पतित-पावन भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। इस विचारके साथ ही वह अपने मुकुट पर मेंडकका चिह्न बनाकर महावीर भगवान्‌के समवशरणमें आया। भगवान्‌की पूजन करते हुए इस देवके मुकुट पर मेंडकके चिह्नको देखकर श्रेणिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने गौतम भगवान्‌को हाथ जोड़कर पूछा-हे संदेहरूपी अँधेरेको नाश करनेवाले सूरज, कृपाकर कहिए कि इस देवके मुकुट पर मेंडकका चिन्ह क्यों है? मैंने तो आजतक किसी देवके मुकुट पर ऐसा चिन्ह नहीं देखा। ज्ञानकी प्रकाशमान ज्योतिरूप गौतम भगवान्‌ने

तब श्रेणिकको नागदत्तके भवसे लेकर अब तककी सब कथा कह सुनाई। उसे सुनकर श्रेणिकको तथा अन्य भव्य जनोंको बड़ा ही आनन्द हुआ। भगवान्की पूजा करनेमें उनकी बड़ी श्रद्धा हो गई। जिनपूजनका इस प्रकार उत्कृष्ट फल जानकर अन्य भव्यजनोंको भी उचित है कि वे सुख देनेवाली इस जिन पूजनको सदा करते रहें। जिन पूजाके फलसे भव्यजन धन-दौलत, रूप-सौभाग्य, राज्य-वैभव, बाल-बच्चे और उत्तम कुल-जाति आदि सभी श्रेष्ठ सुख-चैनकी मनचाही सामग्री लाभ करते हैं, वे चिरकाल तक जीते हैं, दुर्गतिमें नहीं जाते और उनके जन्म जन्मके पाप नष्ट हो जाते हैं। जिनपूजा सम्यग्दर्शन और मोक्षका बीज है, संसारका भ्रमण मिटानेवाली है और सदाचार, सद्विद्या तथा स्वर्ग-मोक्षके सुखकी कारण है। इसलिए आत्महितके चाहनेवाले सत्पुरुषोंको चाहिए कि वे आलस छोड़कर निरन्तर जिनपूजा किया करें। इससे उन्हें मनचाहा सुख मिलेगा।

यही जिन-पूजा सम्यग्दर्शनरूपी वृक्षके सींचनेको बरसा सरीखी है, भव्यजनोंको ज्ञान देनेवाली मानों सरस्वती है, स्वर्गकी सम्पदा प्राप्त करानेवाली दूती है, मोक्षरूपी अत्यन्त ऊँचे मन्दिर तक पहुँचानेकी मानों सीढ़ियोंकी श्रेणी है और समस्त सुखोंकी देनेवाली है। यह आप भव्यजनोंकी पाप कर्मोंसे सदा रक्षा करे।

जिनके जन्मोत्सवके समय स्वर्गके इन्द्रोंने जिन्हें स्नान

कराया, जिनके स्नानका स्थान सुमेरु पर्वत नियत किया गया, क्षीर समुद्र जिनके स्नानजलके लिए वावड़ी नियत की गई, देवता लोगोंने बड़े अदवके साथ जिनकी सेवा बजाई, देवाङ्गनाएँ जिनके इस मंगलमय समयमें नाचीं और गन्धर्व देवोंने जिनके गुणोंको गाया -जिनका यश वखान किया, ऐसे जिन भगवान् आप भव्य-जनोंको और मुझे परम शान्ति प्रदान करें।

वह भगवान्की पवित्र वानी जय लाभ करे–संसारमें चिर समय तक रह कर प्राणियोंको ज्ञानके पवित्र मार्ग पर लगाये, जो अपने सुन्दर वाहन मोर पर वैठी हुई अपूर्व शोभाको धारण किये है, मिथ्यात्वरूपी गाढ़े अँधेरेको नष्ट करनेके लिए जो सूरजके समान तेजास्विनी है, भव्यजन-रूपी कमलोंके वनको जो विकसित कर आनन्दकी वढ़ानेवाली है, जो सच्चे मार्गको दिखानेवाली है और स्वर्गके देव, विद्याधर, चक्रवर्ती आदि सभी महापुरुष जिसे वहुत मान देते हैं।

मूलसंघके सवसे प्रधान सारस्वत नामके निर्दोष गच्छमें कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें प्रभाचन्द्र एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। वे जैनागमरूपी समुद्रके वढ़ानेके लिए चन्द्रमाकी शोभाको धारण किये थे। बड़े बड़े विद्वान् उनका आदर-सत्कार करते थे। वे गुणोंके मानों जैसे खजाने थे–बड़े गुणी थे।

इसी गच्छमें कुछ समय वाद मल्लिभूषण भट्टारक हुए। वे मेरे गुरु थे। वे जिनभगवान्के चरणकमलोंके मानों जैसे

भौंरे थे—सदा भगवान्‌की पवित्र भक्तिमें लगे रहते थे। मूल संघमें इनके समयमें यही प्रधान आचार्य गिने जाते थे। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयके ये धारक थे। विद्यानन्दी गुरुके पट्टरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेको ये जैसे सूर्य थे—इनसे उनके पट्टकी बड़ी शोभा थी। ये आप सत्पुरुषोंको सुखी करें।

वे सिंहनन्दी गुरु भी आपको सुखी करें, जो जिन भगवान्‌की निर्दोष भक्तिमें सदा लगे रहते थे। अपने पवित्र उपदेशसे भव्य-जनोंको सदा हितमार्ग दिखाते रहते थे। जो कामरूपी निर्दयी हाथीका दुर्मद नष्ट करनेको सिंह सरीखे थे—कामको जिन्होंने वश कर लिया था। वे बड़े ज्ञानी-ध्यानी थे, रत्नत्रयके धारक थे और उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी।

वे प्रभाचन्द्राचार्य विजय लाभ करें, जो ज्ञानके समुद्र हैं। देखिए, समुद्रमें रत्न होते हैं, आचार्य महाराज सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठ रत्नको धारण किये हैं। समुद्रमें तरङ्गें होती हैं, ये भी सप्तभङ्गी रूपी तरङ्गोंसे युक्त हैं—स्याद्वादविद्याके बड़े ही विद्वान् हैं। समुद्रकी तरङ्गें जैसे कूड़े-करकटको निकाल बाहर फेंक देती हैं, उसी तरह ये अपनी सप्तभंगी वाणी द्वारा एकान्त मिथ्यात्व रूपी कूड़े-करकटको हटा दूर करते थे—अन्यमतके बड़े बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें पराजित कर विजय लाभ

करते थे । समुद्रमें मगरमच्छ, घड़ियाल आदि अनेक भयानक जीव होते हैं, पर प्रभाचन्द्र रूपी समुद्रमें उससे यह विशेषता थी—अपूर्वता थी कि उसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष रूपी भयानक मगरमच्छ न थे । समुद्रमें अमृत रहता है और इनमें जिन भगवान्‌का वचनमयी अमृत समाया हुआ था । और समुद्रमें अनेक बिकने योग्य वस्तुएँ रहती हैं, ये भी व्रतों द्वारा उत्पन्न होनेवाली पुण्यरूपी विक्रेय वस्तुको धारण किये थे । अतएव वे समुद्रकी उपमा दिये गये ।

इन्हींके पवित्र चरणकमलोंकी कृपासे जैनशास्त्रोंके अनुसार मुझ नेमिदत्त ब्रह्मचारीने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपके प्राप्त करनेवालोंकी इन पवित्र पुण्यमय कथाओंको लिखा है । कल्याणकी करनेवाली ये कथाएँ भव्यजनोंको धन-दौलत, सुख-चैन, शान्ति-सुयश और आमोद-प्रमोद आदि सभी सुख सामग्री प्राप्त करानेमें सहायक हों । यह मेरी पवित्र कामना है ।

आराधना-कथाकोशः ।

[तृतीयखण्डम् ।]

रचयिता—

ब्रह्मचारी श्रीमन्नेमिदत्तः ।

सम्पादकः—

उदयलालः काशलीवालः ।

श्रीवीतरागाय नमः ।

आराधना-कथाकोशः ।

(तृतीयखण्डम्)

६३—श्रीधर्मघोषाख्यानम् ।

प्रणम्य त्रिजगद्देवं श्रीजिनं धर्मदेशकम् ।
वक्ष्ये श्रीधर्मघोषाख्य—मुनीन्द्रस्य कथानकम् ॥ १ ॥
चम्पायां चैकदा कृत्वा सुधीर्मासोपवासकम् ।
धर्मघोषो मुनिः पश्चा-द्धर्ममूर्त्तिर्गुणाकरः ॥ २ ॥
गोष्ठे तु पारणां कृत्वा संचचाल स्वलीलया ।
नष्टे मार्गे तदा भूरिहरिताङ्कुरितोपरि ॥ ३ ॥
आगच्छन्स तृषाक्रान्तो गंगातीरे मनोहरे ।
वटवृक्षतले यावद्वि-श्रान्तोसौ मुनीश्वरः ॥ ४ ॥
गंगादेवी तदा वीक्ष्य तं मुनिं तपसां निधिम् ।
प्रासुकं निर्मलं तोयं कुंभे कृत्वा मनोहरम् ॥ ५ ॥
समानीय प्रणम्योच्चैः संजगादेति भो मुने ।
कृपां कृत्वा पिबेदं मे सज्जलं भुवनोत्तमम् ॥ ६ ॥
तेनोक्तं श्रीमुनीन्द्रेण नास्माकं कल्पते शुभे ।
ततोऽसौ देवता गत्वा शीघ्रं पूर्वविदेहकम् ॥ ७ ॥

केवलज्ञानिनं नत्वा भक्तितः संजगौ तदा ।
न पीतं हेतुना केन जलं मे मुनिना विभो ॥ ८ ॥
ततः श्रीकेवली प्राह जिनेन्द्रो भुवनार्चितः ।
मुग्धे देवकराहारो मुनीनां नैव कल्पते ॥ ९ ॥
गंगादेवी तदागत्य सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम् ।
समन्तात्तन्मुनेः शीत-तोयवृष्टिं चकार सा ॥ १० ॥
तदासौ धर्मघोषाख्यो मुनीन्द्रो धर्मतत्त्ववित् ।
समाधानं समासाद्य शुक्लध्यानेन धीरधीः ॥ ११ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य सुरासुरसमार्चितः ।
मुक्तिं संप्राप्तवान्स्वामी सोऽस्माकं सत्सुखं क्रियात् ॥ १२ ॥
स श्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघसम्बोधको
 लोकालोकविलोकनैकनिपुणो देवेन्द्रवृन्दार्चितः ।
मिथ्यामोहमहान्धकारतरणिश्चिन्तामणिः प्राणिनां
 कुर्यान्मे भवतां च निर्मलसुखं श्रीधर्मघोषो जिनः ॥ १३ ॥

इति कथाकोशे धर्मघोषमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६४—श्रीदत्तस्याख्यानम् ।

केवलज्ञानसल्लक्ष्मी-नायकं श्रीजिनेश्वरम् ।
नत्वा देवकृते कष्टे वक्ष्ये श्रीदत्तवृत्तकम् ॥ १ ॥
इलावर्द्धनसत्पुर्यां राजाभूज्जितशत्रुवाक् ।
इला राज्ञी तयोः पुत्रः श्रीदत्तः संबभूव च ॥ २ ॥

अयोध्याभूपतेरंशु-मतः पुत्रीं स्वयंवरे ।
सुधीरंशुमतीं पूतां श्रीदत्तः परिणीतवान् ॥ ३ ॥
अंशुमत्या सहैकस्तु समायातः शुकस्तदा ।
स पक्षी तु तयोर्द्यूते स्वगेहे रममाणयोः ॥ ४ ॥
श्रीदत्तस्य जये रेखा-मेकामंशुमतीजये ।
द्वे रेखे संददात्येव पक्षिणश्चापि वञ्चकाः ॥ ५ ॥
श्रीदत्तेन तदा रुष्ठा ग्रीवायां चम्पितः शुकः ।
मृत्वा व्यन्तरदेवोभून्महाकष्टेन दुष्टधीः ॥ ६ ॥
श्रीदत्तश्चैकदा सोपि स्वप्रासादोपरि स्थितः ।
मेघस्य पटलं नष्टं समालोक्य विरक्तवान् ॥ ७ ॥
अहो संसारके सर्वं वस्तु विद्युल्लतोपमम् ।
भोगा भुजंगभोगाभाः कायो मायोपमो मली ॥ ८ ॥
तत्र मूढाः प्रकुर्वन्ति प्रीतिं संसारकादिषु ।
हा कष्टं किमतोन्यच्च मूढत्वेन समं भुवि ॥ ९ ॥
इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते संसृतेः स्थितिम् ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षप्रदायिनीम् ॥ १० ॥
एकाकी विहरन्धीमान्भव्यसंघान्प्रबोधयन् ।
निजं पुरं समागत्य शीतकाले बहिः स्थितः ॥ ११ ॥
कायोत्सर्गे स्थितं वीक्ष्य तदा तं मुनिसत्तमम् ।
शुकव्यन्तरदेवोऽसौ पूर्ववैरेण पापधीः ॥ १२ ॥
घोरवातमहाशीत-तोयसंसेवनादिभिः ।
पीडयामास दुष्टात्मा किं कुकार्यमतः परम् ॥ १३ ॥

श्रीदत्तश्च मुनीन्द्रोसौ शत्रुमित्रसमाशयः ।
महासमाधिना स्वामी सोढ्वाशेषपरीषहीन् ॥ १४ ॥
शुक्लध्यानप्रभावेन मेरुवन्निश्चलस्तराम् ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ १५ ॥
स श्रीमज्जितशत्रुराजतनुजः श्रीदत्तनामा मुनि-
भूत्वा देवकृतप्रकष्टमतुलं सोढ्वा शुभध्यानतः ।
हत्वाशेषनिबन्धनानि नितरां प्राप्तः श्रियं शाश्वतीं
स श्रीकेवललोचनो जिनपतिर्दद्यात्स्वभक्तिं मम ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे श्रीदत्तमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६५—श्रीवृषभसेनस्याख्यानम् ।

प्रोल्लसत्परमानन्द-जगद्वन्द्यं जिनेश्वरम् ।
नत्वा वृषभसेनस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
उज्जयिन्यां महाराजः प्रद्योताख्यो गुणोज्वलः ।
मदोन्मत्तगजारूढो गजार्थमटवीं गतः ॥ २ ॥
नीतो मत्तगजेनासौ सुदूरं भूरिदुःखतः ।
वृक्षशाखां नृपः प्रोच्चै-रवलम्ब्यावतीर्य च ॥ ३ ॥
एकाकी तु समागच्छन्खेटग्रामे मनोहरे ।
स्थितः कूपतटे याव-ज्जिनपालस्य धीमतः ॥ ४ ॥
ग्रामकूटस्य तोयार्थं जिनदत्तागता सुता ।
तदा तेन नरेन्द्रेण जलं पातुं प्रयाचिता ॥ ५ ॥

महान्तं पुरुषं ज्ञात्वा दत्वा तस्मै जलं मुदा ।
सा ततो गृहमागत्य तां वार्त्तां स्वपितुर्जगौ ॥ ६ ॥
ततोसौ जिनपालेन समागत्य प्रभक्तितः ।
नीत्वा गृहं सुखस्नानं भोजनं कारितो नृपः ॥ ७ ॥
दानं स्तोकतरं चापि प्रस्तावे शर्मकोटिदम् ।
प्रावृट्काले यथा चोप्तं बीजं भूरिफलं भवेत् ॥ ८ ॥
भृत्यादौ च समायाते स प्रद्योतो महीपतिः ।
महोत्सवशतैस्तत्र तां कन्यां परिणीय च ॥ ९ ॥
चक्रे पट्टमहाराज्ञीं जिनदत्तां गुणोज्वलाम् ।
नाना भोगान्प्रभुञ्जानः संस्थितो निजलीलया ॥ १० ॥
कैश्चिद्दिनैस्ततस्तस्याः सुतोत्पत्तिनिशाक्षणे ।
स्वप्ने राज्ञा समालोक्य वृषभं सुमनोहरम् ॥ ११ ॥
पुत्रो वृषभसेनोयं संप्रोक्तः परया मुदा ।
जिनेन्द्रभवनोत्साह- स्नानपूजाप्रदानतः ॥ १२ ॥
एवं सत्कर्मभिर्नित्यं गते संवत्सराष्टके ।
राजा प्रद्योतनामासौ प्राप्तसौख्यपरम्पराम् ॥ १३ ॥
पुत्रं प्राह सुधी राज्यं त्वं गृहाण सुतोत्तम ।
मया श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं सत्तपः क्रियतेधुना ॥ १४ ॥
सुतेनोक्तमहो तात किं राज्यं कुर्वतोङ्गिनः ।
परलोकमहासिद्धि-र्विद्यते नैव भूतले ॥ १५ ॥
राजा जगाद भो पुत्र नैव मुक्तिस्तपो विना ।
मुक्तेः संसाधनं जैनं तपः प्रोक्तं यतो बुधैः ॥ १६ ॥

यद्यैवं निश्चयस्तात दुःखदे राज्यकर्मणि ।
निर्वृत्तिमिमाप्स्यस्ति भवत्पादप्रसादतः ॥ १७ ॥
पुत्रवाक्यं समाकर्ण्य भ्रातृव्याय महोत्सवैः ।
दत्वा राज्यं स्वपुत्रेण सार्द्धं जातो मुनिर्नृपः ॥ १८ ॥
स श्रीवृषभसेनाख्यो मुनिः श्रीजिनभाषितम् ।
तपः कुर्वंस्तदैकाकी विहरन्भुवतोत्तमः ॥ १९ ॥
कोशाम्बीपत्तनाभ्यर्णे पर्वतोरुशिलातले ।
ज्येष्ठमासे सुधीर्योगं ददात्यातापनं सदा ॥ २० ॥
तत्प्रभावं समालोक्य सर्वे भव्यजनास्तदा ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे संजाताः सुतरां रताः ॥ २१ ॥
एकदासौ मुनिर्धीर-श्चारुचारित्रमंडितः ।
निर्गतो देहयात्रार्थं जैनतत्वविदांवरः ॥ २२ ॥
तदा चेर्ष्यापरः पापी बुद्धदासः कुवन्दकः ।
तां शिलां पावकेनोच्चै-रग्निवर्णां चकार सः ॥ २३ ॥
साधूनां सुप्रभावस्तु सह्यते नैव दुर्जनैः ।
यथा भानुप्रभावश्च घूकानां न सुखायते ॥ २४ ॥
चर्यां कृत्वा समागत्य शिलामालोक्य तादृशीम् ।
सत्प्रतिज्ञापरः स्वामी स श्रीवृषभसेनवाक् ॥ २५ ॥
सारसंन्यासमादाय निश्चलो मुनिसत्तमः ।
स्थितो यावच्छिलापीठे तावत्रैलोक्यपूजितम् ॥ २६ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य निर्वाणं प्राप्तवान्सुधीः ।
अहो मेरोरपि व्यक्तं चारित्रं निश्चलं सताम् ॥ २७ ॥

यच्चित्तोन्नतपर्वतस्य पुरतः प्रोत्तुङ्गभूभृद्गणोऽ-
णुत्वं याति सरित्पतिस्तु नितरां दर्भाग्रबिन्दूपमाम् ।
स श्रीमान्वृषभादिसेनजिनपः प्रध्वस्तकर्मा विभु-
र्दध्यात्स्वस्य गुणश्रियं गुणनिधिर्मे सर्वसिद्धिप्रदाम् ॥ २८ ॥

इति कथाकोशे श्रीवृषभसेनमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६६—कार्त्तिकेयमुनेराख्यानम् ।

केवलज्ञानसन्नेत्रं पवित्रं शर्मकारणम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि कार्त्तिकेयकथानकम् ॥ १ ॥
कार्त्तिकाख्यपुरे राजा संजातोग्न्यभिधानकः ।
राज्ञी वीरमती पुत्री कृत्तिका रूपमण्डिता ॥ २ ॥
साथ नन्दीश्वराष्टम्या-मुपवासं विधाय च ।
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां शेषां पित्रे सुता ददौ ॥ ३ ॥
तदा तद्रूपमालोक्य दिव्यं राजाग्निवाक् कुधीः ।
सर्वलिङ्गीन्द्विजादींश्च दुष्टात्मा कामुकोऽवदत् ॥ ४ ॥
उत्पन्नं मद्गृहे रत्नं कस्य भो भवति ध्रुवम् ।
ब्रूत यूयं तदाकर्ण्य जगुस्ते मुग्धमानसाः ॥ ५ ॥
भो नरेन्द्र तवैव स्या-त्ततः प्राहुर्मुनीश्वराः ।
कन्यारत्नं विना देव सर्वं ते नात्र संशयः ॥ ६ ॥
तद्वाक्यं त्रिजगत्पूज्यं तच्चित्ते कष्टकोटिदम् ।
संजातं पापिनां युक्तं कथं पथ्यायते वचः ॥ ७ ॥

ततस्तेन सुरुष्टेन देशान्निर्घाट्य तान्मुनीन् ।
स्वपुत्री कृत्तिका नाम्नी परिणीता स्वयं हठात् ॥ ८ ।
पापिनां कामिनां लोके भाविदुर्गतिदुःखिनाम् ।
क धर्मः क च लज्जासौ क नीतिः क च सन्मतिः ॥ ९ ॥
कैश्चिद्दिनैस्ततस्तस्यां कार्त्तिकेयो सुतोभऽवत् ।
पुत्री वीरमती जाता रूपलावण्यमण्डिता ॥ १० ॥
रोहेडनगरे सा तु पुत्री क्रौंचमहीभुजे ।
दत्ता भोगान्प्रभुञ्जाना संस्थिता सुखतः सती ॥ ११ ॥
चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु निजलीलया ।
कार्त्तिकेयः सुधीः क्रीडां कुर्वन्नेकादिने ततः ॥ १२ ॥
नमिप्रभृतितद्राज-कुमाराणां मनोहरम् ।
मातामहात्समायातं दृष्ट्वा वस्त्रादिकं शुभम् ॥ १३ ॥
जगाद मातरं चेति भोमातस्ते पिता मम ।
किं कारणं कदा किंचि-न्नैव प्रेषयते स्फुटम् ॥ १४ ॥
अश्रुपातं विधायोच्चैः कृत्तिका प्राह भो सुत ।
किं कथ्यते स महापाप-मेको मे ते पिता कुधीः ॥ १५ ॥
तद्वृत्तकं समाकर्ण्य कार्त्तिकेयोवदत्पुनः ।
भो मातः किं पिता मेयं निषिद्धो नैव केनचित् ॥ १६ ॥
तयोक्तं मुनिभिः पुत्र निषिद्धो बहुशो बुधैः ।
दुष्टो निर्घाटयामास स्वदेशात्तान्मुनीश्वरान् ॥ १७ ॥
कीदृशास्ते सुतः प्राह मुनीन्द्रा गुणशालिनः ।
सा जगौ जैनतत्वज्ञा निर्ग्रन्था धर्मनायकाः ॥ १८ ॥

मयूरकोमलोत्कृष्ट-पिच्छहस्ता दयान्विताः ।
कमण्डलुकरा दूरे ते तिष्ठन्ति दिगम्बराः ॥ १९ ॥
जनन्या वचनं श्रुत्वा कार्त्तिकेयो विरक्तवान् ।
गृहान्निर्गत्य पूतात्मा गत्वा स्थानं मुनीशिनाम् ॥ २० ॥
नत्वा मुनीन्महाभक्त्या दीक्षामादाय शर्मदाम् ।
मुनिर्जातो जिनेन्द्रोक्त-सप्ततत्वविचक्षणः ॥ २१ ॥
कृत्तिका जननी मृत्वा तदार्त्तेन स्वकर्मणा ।
जाता व्यन्तरदेवी सां प्रोल्लसद्रूपसम्पदा ॥ २२ ॥
कार्त्तिकेयो मुनिर्धीमान्विहरन्स तपोनिधिः ।
रोहेडनगरं प्राप्तो ज्येष्ठमासे गुणोज्वलः ॥ २३ ॥
अमावास्यादिने स्वामी चर्यायां संप्रविष्टवान् ।
प्रासादोपरिभूमिस्था दृष्ट्वा वीरमती च तम् ॥ २४ ॥
भ्राता ममेति संज्ञात्वा पत्युः स्वोत्संगतः शिरः ।
परित्यज्य तदा शीघ्रं समागत्य प्रभक्तितः ॥ २५ ॥
तुभ्यं नमोस्तु वीरेति लग्ना तत्पादपद्मयोः ।
बन्धुत्वाच्च मुनित्वाच्च कस्य प्रीतिर्न जायते ॥ २६ ॥
तदा क्रौंचनृपः पापी दृष्ट्वा तां कामिनीं तथा ।
मारयामास तं क्रोधा-त्स्वशक्त्या मुनिनायकम् ॥ २७ ॥
पापी मिथ्यारतः प्राणी जैनधर्मपराङ्मुखः ।
किं करोति न दुष्कर्म जन्मकोटिप्रकष्टदम् ॥ २८ ॥
तदा शीघ्रं समागत्य व्यन्तरी जननीचरी ।
सा मयूरस्य रूपेण मूर्च्छितं मुनिसत्तमम् ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा शीतलनाथस्य मन्दिरे सुमनोहरे ।
नीत्वा यत्नेन सद्भक्त्या स्थापयामास देवता ॥ ३० ॥
तत्रासौ कार्त्तिकेयस्तु मुनीन्द्रो जैनतत्ववित् ।
कृत्वा समाधिना कालं सम्प्राप्तः स्वर्गमुत्तमम् ॥ ३१ ॥
देवैस्तत्र समागत्य कृता पूजा सुभक्तितः ।
स्वामी श्रीकार्त्तिकेयाख्यं ततोभूच्चेति तीर्थकम् ॥ ३२ ॥
वीरमत्यास्तु सम्बन्धा-द्भ्रातृकादिद्वितीयकम् ।
लौकिकं पर्वसंजातं तदा प्रभृति भूतले ॥ ३३ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं शास्त्रं सन्देहनाशकम् ।
संभजन्तु बुधा नित्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ ३४ ॥

सकलतत्वविलोकनदीपिका
यदुदिता भुवनोत्तमभारती ।
स मम देवनिकायसमार्चितो
दिशतु शाश्वतशर्म जिनाधिपः ॥ ३५ ॥

इति कथाकोशे श्रीकार्त्तिकेयमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६७–अभयघोषमुनेराख्यानम् ।

संप्रणम्य जिनाधीशं सुराधीशैः समर्चितम् ।
मुनेरभयघोषस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
काकन्दीनगरे राजा संजातोभयघोषवाक् ।
राज्ञी चाभयमत्याख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥ २ ॥

एकदाभयघोषेण पुरबाह्यं गतेन च ।
चतुष्पादेषु संबध्वा जीवन्तं कच्छपं दृढम् ॥ ३ ॥
स्कन्धे यष्टयां विधायैव समागच्छंश्च धीवरः ।
दृष्टो राज्ञा स्वचक्रेण पापतोऽज्ञानभावतः ॥ ४ ॥
चत्वारः कच्छपस्याशु छिन्नाः पादाः प्रमादिना ।
हन्ति पापीजनो जन्तून्विना न्यानेन दुष्टधीः ॥ ५ ॥
कच्छपोसौ महाकष्टं मृत्वा तस्यैव भूपतेः ।
चण्डवेगः सुतो जातः कृत्वाकामप्रानिर्जराम् ॥ ६ ॥
एकदासौ महीनाथः सुधीरभयघोषवाक् ।
चन्द्रग्रहणमालोक्य जातो वैराग्यमण्डितः ॥ ७ ॥
अहो पापी दुरात्माहं जैनतत्वपराङ्मुखः ।
मोहान्धतमसाक्रान्तो महान्धे लोचने सति ॥ ८ ॥
हिताहितं न पश्यामि मूढोहं पापमण्डितः ।
कथं संसारवाराशेः पारं यास्यामि निर्मलम् ॥ ९ ॥
अतः परं महाघोरं तपः कृत्वा जिनोदितम् ।
अनादिकालसंलग्ना-ञ्जित्वा कर्ममहारिपून् ॥ १० ॥
मुक्तिकान्ताकरस्पर्शं संकरोमि सुखप्रदम् ।
इत्यादिकं विचार्योच्चैः स्वचित्ते चतुरोत्तमः ॥ ११ ॥
दत्वा राज्यं स्वपुत्राय चण्डवेगाय वेगतः ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्री-मिन्द्रियाणां प्रदण्डिनीम् ॥ १२ ॥
गुरुं नत्वा मुनिर्भूत्वा संसाराम्भोधितारणम् ।
जन्ममृत्युजरातंक-कुपंकक्षयकारिणम् ॥ १३ ॥

एकाकी सुतपः कुर्वन्विहरंश्च महीतले ।
काकन्दीनगरोद्याने स्थितो वीरासनेन सः ॥ १४ ॥
पूर्ववैरेण पापात्मा चण्डवेगश्च पुत्रकः ।
तत्रायातस्तदा तस्य मुनीन्द्रस्य महाधियः ॥ १५ ॥
छिनत्ति स्म स्वचक्रेण हस्तौ पादौ च मूढधीः ।
अज्ञानी धर्महीनस्तु किं पापं यत्करोति न ॥ १६ ॥
मुनीन्द्रोभयघोषस्तु तत्क्षणे ध्यानतत्परः ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ १७ ॥
अहो जीवस्य सच्छक्ति-र्महाश्चर्यं प्रवर्त्तते ।
क्व कष्टं दारुणं दिव्यं क्व च ध्यानं शिवप्रदम् ॥ १८ ॥
जित्वाशेषपरीषहान्दृढतरान्हत्वा च मोहादिका-
न्नाना जन्मशतोरुकष्टजनकान्क्षिप्त्वाशु कर्मारिकान् ।
संप्राप्तोक्षयमोक्षसौख्यमतुलं स श्रीजिनः शं क्रिया-
त्संपूज्योभयघोषनामकलितो नित्यं सतां सेवितः ॥ १९॥

इति कथाकोशे श्रीमदभयघोषमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६८–श्रीविद्युच्चरमुनेराख्यानम् ।

सर्वसौख्यप्रदं नत्वा जिनेन्द्रं भुवनोत्तमम् ।
वक्ष्ये विद्युच्चराख्यानं विख्यातं मुनिभाषितम् ॥ १ ॥
मिथलाख्यपुरे राजा सुधीर्वामरथोभवत् ।
तलारो यमदण्डोभू-च्चोरो विद्युच्चरो महान् ॥ २ ॥

नाना विज्ञानसम्पन्नो निष्पन्नश्चोरकर्मणि ।
दिनेसौ कुष्ठिरूपेण चोरो मायायुतस्तदा ॥ ३ ॥
क्वचिद्देवकुले शून्ये रंको भूत्वा च तिष्ठति ।
रात्रौ दिव्यनरो भूत्वा चोरो भोगान्करोति च ॥ ४ ॥
एकदा तस्य भूपस्य रात्रौ हारं गृहीतवान् ।
प्रभाते यमदण्डाख्यं राजा वामरथोवदत् ॥ ५ ॥
चोरेण दिव्यरूपेण मोहयित्वा च मां पुनः ।
हारो मे संहृतः शीघ्रं यमदण्ड समानय ॥ ६ ॥
तं हारं सप्त रात्रेण नान्यथा निग्रहं तव ।
करिष्यामीति तच्छ्रुत्वा तल्गारः स विचक्षणः ॥ ७ ॥
नत्वा नृपं पुरादौ च तं गवेषयितुं गतः ।
दृष्ट्वा सर्वत्र यत्नेन ततः सप्तमवासरे ॥ ८ ॥
शून्यालये समालोक्य तं नीत्वा च नृपान्तिकम् ।
सुधीः प्राह नरेन्द्रायं तस्करो दुष्टमानसः ॥ ९ ॥
तेनोक्तं नैव चोरोहं कोटपालः पुनर्जगौ ।
अयं देव भवत्येव तस्करो नात्र संशयः ॥ १० ॥
तदा राज्ञो जनैः प्रोक्तं देवासौ तलरक्षकः ।
चोराभावे महारंकं मारयत्येव साम्प्रतम् ॥ ११ ॥
ततस्तेन तल्गारेण नीत्वा तं निजमन्दिरम् ।
माघमासे महाशीत-तोयसेचनकादिभिः ॥ १२ ॥
तापताडनबन्धोरु-द्वात्रिंशद्दुष्कदर्थनैः ।
पीडितोपि वदत्येष नाहं चोर इति स्फुटम् ॥ १३ ॥

प्रभाते भूपतेरग्रं नीत्वा तं तलरक्षकः ।
संजगाद नरेन्द्रासौ सर्वचोरशिरोमणिः ॥ १४ ॥
स च प्राह महादस्यु-र्नाहं चोरो भवाम्यहो ।
चोराणां साहसो गूढो वर्ण्यते केन भूतले ॥ १५ ॥
दत्वाभयप्रदानं च स राज्ञो भणितस्तदा ।
सत्यं ब्रूहि महाधीर किं त्वं चोरो न वेति च ॥ १६ ॥
तेनोक्तं तस्करेणैवं ततो निर्भयचेतसा ।
अहो नरेन्द्र चोरोहं सत्यस्ते तलरक्षकः ॥ १७ ॥
ततो वामरथो राजा महाविस्मयतो जगौ ।
द्वात्रिंशद्दण्डनैः कष्टं कथं रे निर्जितं त्वया ॥ १८ ॥
चोराग्रणीस्तदावोच-द्भूपाल मया श्रुतम् ।
मुनेः पार्श्वे महादुःखं यत्क्रूरं नरकोद्भवम् ॥ १९ ॥
तस्मात्कोटिप्रभागं तु नैतद्दुःखं भवेत्परम् ।
संचिन्त्येति स्वचित्तेहं संजातस्तत्क्षमः प्रभो ॥ २० ॥
हृष्टो राजा जगादैवं वरं प्रार्थय भो भट ।
तेनोक्तं भो नराधीश दीयते भवता द्रुतम् ॥ २१ ॥
दानं मेस्मै सुमित्राय तलाराय सुनिर्भयम् ।
तच्छ्रुत्वा स महीनाथो महाश्चर्यपरोवदत् ॥ २२ ॥
कथं भो कोट्टपालोयं मित्रं तेत्र प्रवर्त्तते ।
स पुनस्तस्करो प्राह श्रूयतां भो महीपते ॥ २३ ॥
दक्षिणाख्यपथेऽभीर-देशे वेनानदीतटे ।
पुरेवेनातटे ख्याते जितशत्रुर्महीपतिः ॥ २४ ॥

राज्ञी जयावती तस्याः पुत्रो विद्युच्चरोस्म्यहम् ।
श्रूयतां च तथा देव तत्रैव नगरे शुभे ॥ २५ ॥
तन्नगरो यमपाशोभू-त्तद्भार्या यमुना सती ।
तयोश्च यमदण्डोसौ पुत्रो जातो गुणोज्वलः ॥ २६ ॥
एकोपाध्यायसान्निध्ये मया चोरागमः सुधीः ।
अनेन कोट्टपालस्य शास्त्रं संपठितं विभो ॥ २७ ॥
द्वाभ्यां कृत्वा प्रतिज्ञेति मयोक्तं तत्र गर्वतः ।
यत्र रे यमदड त्वं तलारस्तत्पुरे मया ॥ २८ ॥
कर्त्तव्या चोरिकावश्यं तच्छ्रुत्वानेन जल्पितम् ।
यत्र त्वं तस्करस्तत्र मया रक्षा विधीयते ॥ २९ ॥
एकदा मे पिता देव जितशत्रुर्गुणाकरः ।
दत्वा राज्यं च मे प्राज्यं जैनीं दीक्षां गृहीतवान् ॥ ३० ॥
यमपाशस्तलारस्तु समर्प्यास्मै निजं पदम् ।
सोपि जातो मुनिर्धीमान्यमदण्डः प्रभीतवान् ॥ ३१ ॥
मदीयभयतो राजं-स्त्वदीयमिथिलापुरम् ।
समागत्य तलारोयं संजातो यमदण्डकः ॥ ३२ ॥
तत्प्रतिज्ञावशादेव समागत्यात्र पत्तने ।
संगवेपयितुं चामुं चोरो जातोहमद्भुतम् ॥ ३३ ॥
इत्युक्त्वा हारपर्यन्तं कथयित्वा च वृत्तकम् ।
ग्रहीत्वा यमण्दडं स्वं पुरं विद्युच्चरो गतः ॥ ३४ ॥
तत्र वैराग्यभावेन संप्रविश्य स्वमन्दिरम् ।
सुधीर्विद्युच्चरः सोपि जैनतत्वविदाम्वरः ॥ ३५ ॥
राज्यं दत्वा स्वपुत्राय जिनस्नपनपूर्वकम् ।
भूरिराजसुतैः सार्द्धं मुनिर्भूत्वा विचक्षणः ॥ ३६ ॥

कुर्वंस्तपो जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
भव्यान्सम्बोधयन्नुच्चै-र्विहरंश्च महीतले ॥ ३७ ॥
मुनिपंचशतैर्युक्तो विरक्तो मदनादिषु ।
तामलिप्तपुरीं प्राप्तो न लिप्तो मोहकर्दमैः ॥ ३८ ॥
पुरप्रवेशे तत्रासौ प्रोक्तश्चामुण्डया मुनिः ।
भो मुने मम पूजाद्या यावत्कालं समाप्यते ॥ ३९ ॥
तावत्त्वया न कर्त्तव्यः प्रवेशस्तामलिप्तके ।
देव्यापि वारितः शिष्यैः प्रेरितो मुनिसत्तमः ॥ ४० ॥
तदा पुरं प्रविश्योच्चैः पुरः पश्चिमभागके ।
प्रकारस्य समीपे तु शिष्यवर्गैः समन्वितः ॥ ४१ ॥
रात्रौ सत्प्रतिमायोगे संस्थितो निश्चलाशयः ।
चामुण्डया तदा शीघ्रं प्रचण्डक्रोधचेतसा ॥ ४२ ॥
कपोतकप्रमाणोरु-दंशकैर्मशकैस्तया ।
उपसर्गो महांश्चक्रे तदा विद्युच्चरो मुनिः ॥ ४३ ॥
महावैराग्यसंयुक्तः सोढ्वाशेषपरीषहम् ।
शुक्लध्यानप्रभावेन हत्वा कर्मारिसंचयम् ॥ ४४ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ।
सोस्माकं पूजितो नित्यं प्रकुर्याच्छाश्वतीं श्रियम् ॥ ४५ ॥
इन्द्रैश्चारुनरेन्द्रखेचरतरैर्नागेन्द्रयक्षेश्वरैः
प्रोद्यत्पञ्चविधप्ररत्नमुकुटप्रव्यक्तभाभासुरैः ।
नित्यं यस्तु विशुद्धभक्तिभरतः संपूज्य चाराधितः
स श्रीमान्मम मङ्गलं शिवपतिर्दद्याच्च विद्युच्चरः ॥ ४६ ॥

इति कथाकोशे विद्युच्चरमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

६९–श्रीगुरुदत्तमुनेराख्यानम् ।

नत्वा पंच गुरून्भक्त्या प्रोल्लसत्केवलश्रिये ।
गुरुदत्तमुनेर्वच्मि चरित्रं भुवनोत्तमम् ॥ १ ॥
हस्तिनागपुरे धीमान् जिनधर्मधुरन्धरः ।
राजा विजयदत्ताख्यो विजया प्राणवल्लभा ॥ २ ॥
तयोः पुत्रोतिगंभीरो धीरोभूद्गुरुदत्तवाक् ।
पूर्वपुण्येन सम्पूर्णो रूपलावण्यमण्डितः ॥ ३ ॥
तस्मै विजयदत्तोसौ राजा राज्यश्रियं निजाम् ।
दत्वा स्वयं मुनिर्जातो गुरुं नत्वा दिगम्बरम् ॥ ४ ॥
लाटदेशेथ विख्याते द्रोणीमत्पर्वतान्तिके ।
सुधीश्चन्द्रपुरीपुर्यां चन्द्रकीर्तिर्महीपतिः ॥ ५ ॥
चन्द्रलेखा महाराज्ञी सुताभयमती सती ।
तेन श्रीगुरुदत्तेन परिणेतुं प्रयाचिता ॥ ६ ॥
न दत्ता चन्द्रकीर्त्याख्य-भूभुजा निजदेहजा ।
ततः कोपात्समागत्य स सैन्यो गुरुदत्तकः ॥ ७ ॥
समन्ताद्वेष्टयामास शीघ्रं चन्द्रपुरीं महान् ।
तच्छ्रुत्वाभयमत्याख्या तदसक्ता सुता जगौ ॥ ८ ॥
तातं प्रति प्रभो देहि गुरुदत्ताय मां सुधीः ।
ततस्तेन नरेन्द्रेण तस्मै दत्ता सुतोत्सवैः ॥ ९ ॥
तदा श्रीगुरुदत्तस्य प्रोक्तं सर्वजनैरिति ।
अस्मिन्द्रोणीगति ख्याते पर्वते भो नरेश्वर ॥ १० ॥

व्याघ्रः संतिष्ठते देव पापी प्राणिभयंकरः ।
तेनायं भो महाधीर देशश्चोत्त्रासितोखिलः ॥ ११ ॥
तच्छ्रुत्वा स्वजनैः सार्द्धं गत्वा तेन प्रवेगतः ।
व्याघ्रः संवेष्टितः सोपि गुहां नष्ट्वा प्रविष्टवान् ॥ १२ ॥
गुहामध्ये तदा क्षिप्त्वा तेन काष्ठानि भूरिशः ।
तद्द्वारे च तथा तीव्रो वह्निः प्रज्वालितो महान् ॥ १३ ॥
ततो व्याघ्रो महाकष्टान्मृत्वा चन्द्रपुरीपुरे ।
विप्रस्य भरताख्यस्य विश्वदेव्याः स्त्रियोभवत् ॥ १४ ॥
पुत्रोसौ कपिलो नाम महाक्रूराशयः पुनः ।
पूर्वाभ्यासाश्रिता जन्तोः प्रायशो भवति क्रिया ॥ १५ ॥
तयोस्तदा महाभोगा-न्नित्यं भुञ्जानयोर्मुदा ।
संजातो गुरुदत्ताख्या-ऽभयमत्याः सुतोत्तमः ॥ १६ ॥
सुधीः सुवर्णभद्राख्यः स्वगुणैस्तर्पिताखिलः ।
रूपसौभाग्यसद्भाग्य-मंडितो विमलाशयः ॥ १७ ॥
दत्वा तस्मै निजं राज्यं स राजा गुरुदत्तवाक् ।
जिनेन्द्रचरणाम्भोज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ १८ ॥
त्रिधा वैराग्यसंयुक्तो मुनिर्भूत्वा निरंजनः ।
एकाकी विहरन्स्वामी जिनतत्वविदाम्वरः ॥ १९ ॥
कपिलक्षेत्रमागत्य कायोत्सर्गेण संस्थितः ।
तदाऽसत्कर्मयोगेन ब्राह्मणः कपिलः कुधीः ॥ २० ॥
भोजनं मे गृहीत्वा त्वं समागच्छेर्द्रुतं प्रिये ।
इत्युक्त्वा कपिलो भार्यां स्वक्षेत्रं गतवांस्तदा ॥ २१ ॥

८१—जयसेननृपस्याख्यानम् ।

सारलक्ष्मीप्रदं नत्वा जिनेन्द्रं मुक्तिनायकम् ।
वक्ष्ये श्रीजयसेनस्य भूपतेः सत्कथानकम् ॥ १ ॥
सावस्तीपत्तने राजा जयसेनोभवत्पुरा ।
वीरसेना महाराज्ञी वीरसेनः सुतस्तयोः ॥ २ ॥
वन्दकः शिवगुप्ताख्यो निन्दकः पल्लम्पटः ।
सोपि राज्ञो गुरुर्जातो धिङ्मिथ्यात्वमशर्मकम् ॥ ३ ॥
एकदा नगरे तत्र मुनिवृन्दसमन्वितः ।
समायातो मुनीन्द्रस्तु यत्यादिवृषभः सुधीः ॥ ४ ॥
तत्पार्श्वे पुण्ययोगेन भव्यैः सर्वैः प्रमण्डितः ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं भूपोभूच्छ्रावकोत्तमः ॥ ५ ॥
ततस्तेन महाभक्त्या जयसेनेन भूभुजा ।
जिनेन्द्रभवनैः सर्वं मण्डितं निजमण्डलम् ॥ ६ ॥
तदा स दुर्जनः पापी वुद्धकः शिवगुप्तकः ।
तद्भूपमारणोपायं चिन्तयंश्चेतसि क्रुधा ॥ ७ ॥
पुरीं च पृथिवीं गत्वा राजानं वौद्धधार्मिकम् ।
सुमत्याख्यं जगौ सर्वं जयसेनप्रचेष्टितम् ॥ ८ ॥
ततोसौ सुमतिर्लेखं प्रेषयामास तं प्रति ।
विरूपकं त्वया चक्रे वुद्धधर्मं गृहाण च ॥ ९ ॥
तेनोक्तं जयसेनेन जैनधर्मो जगद्धितः ।
निश्चयान्निश्चलो मेस्ति किमन्यैः पापकारणैः ॥ १० ॥

अहो भव्याः सतां नित्यं संगतिः शर्मदायिनी ।
क्वासौ विप्रो महातीव्रः क्व जातस्तु मुनिस्तराम् ॥ ३३ ॥
ततो भव्यैः प्रकर्त्तव्यं साधुसंगैर्निजं कुलम् ।
पवित्रं परमानन्दो जायते येन शर्मदः ॥ ३४ ॥
स जयतु जिनदेवः सर्वदेवेन्द्रवन्द्य—
त्रिभुवनसुखकर्त्ता विश्वसन्देहहर्त्ता ।
स्थिरतरगुरुदत्तः प्राप्तनित्यस्वभावो
मम दिशतु सुखानि श्रीप्रभाचन्द्रदेवः ॥ ३५ ॥

इति कथाकोशे श्रीगुरुदत्तमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

७०–चिलातपुत्रस्याख्यानम् ।

चञ्चत्सत्केवलज्ञान-लोचनं श्रीजिनेश्वरम् ।
नत्वा चिलातपुत्रस्य चारित्रं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
पुरे राजगृहे राजा-भवत्प्रश्रेणिको महान् ।
एकदा पुरबाह्येसौ निर्गतो निजलीलया ॥ २ ॥
दुष्टाश्वेन ततो नीतो महाटव्यां प्रवेगतः ।
तत्रस्थयमदण्डस्य महाटव्या महीपतेः ॥ ३ ॥
तिलकादिवतीं कन्यां दृष्ट्वा सद्रूपशालिनीम् ।
तदा कन्दर्पबाणेन विद्धोसौ भूपतिस्तराम् ॥ ४ ॥
प्रोक्तं च यमदण्डेन हे नरेन्द्र विचक्षण ।
अस्याः पुत्राय चेद्राज्यं दीयते भवता ध्रुवम् ॥ ५ ॥

तदा तुभ्यं ददाम्येतां स्वपुत्रीं तिलकावतीम् ।
तच्छ्रुत्वेवं करिष्यामि प्रोक्त्वा चेति महीपतिः ॥ ६ ॥
तां कन्यां परिणीयोच्चै-स्ततः प्रश्रेणिकः सुधीः ।
प्राप्तो राजगृहाख्यं च स्वपुरं प्रमदान्वितः ॥ ७ ॥
नाना भोगान्प्रभुञ्जानो यावत्संतिष्ठते प्रभुः ।
पुत्रं चिलातपुत्राख्यं प्रसूता तिलकावती ॥ ८ ॥
एकदा च नरेन्द्रेण पृष्टो नैमित्तिको महान् ।
अहो मे बहुपुत्राणां मध्ये को भाविभूपतिः ॥ ९ ॥
तत्समाकर्ण्य स प्राह सुधीर्नैमित्तिकाग्रणीः ।
सिंहासनसमारूढो भेरीं सन्ताडयन्मुदा ॥ १० ॥
क्षैरेयीं कुक्कुराणां च ददतो निजबुद्धितः ।
भुंक्ते तथाग्निदाहे च हस्तिसिंहासनादिकम् ॥ ११ ॥
छत्रं निःसारयत्येव यस्तु स स्यान्महीपतिः ।
तन्निशम्य ततो राजा परीक्षार्थं शुभे दिने ॥ १२ ॥
भेरीसिंहासनाभ्यर्णे दत्वा क्षैरेयिकाशनम् ।
सर्वराजकुमाराणां मुक्ताः पञ्चशतश्वकाः ॥ १३ ॥
तदा नष्टाः कुमारास्ते सर्वे कुक्कुरभीवशाः ।
श्रेणिकस्तु महाधीमान्सर्वपुत्रशिरोमणिः ॥ १४ ॥
क्षैरेयीभाजनान्युच्चै-र्धृत्वा स्वस्य समीपके ।
एकैकं कुक्कुराणां च मुञ्चंस्तद्भाजनं पुनः ॥ १५ ॥
स्वसिंहासनमारुह्य भेरीं संताडयंस्तथा ।
भुंक्ते स्म प्रौढधीः सार-क्षैरेयीमग्निदाहके ॥ १६ ॥

तथा सिंहासनं छत्रं हस्तिचामरयुग्मकम् ।
शीघ्रं निस्सारयामास भावितीर्थंकरः प्रभुः ॥ १७ ॥
ज्ञात्वा प्रश्रेणिकेनायं महाराजो भविष्यति ।
तदा शत्रुभयाच्छीघ्रं दत्वा दोषं प्रपञ्चतः ॥ १८ ॥
कुक्कुरोच्छिष्टकादि च देशान्निर्घोटितः स च ।
अहो पुण्यवतां पुंसां को वा यत्नं करोति न ॥ १९ ॥
तदा गत्वा कुमारोसौ श्रेणिकः सुभटाग्रणीः ।
पुर्यां द्राविडदेशस्थ-काञ्च्यां सौख्येन संस्थितः ॥ २० ॥
प्रश्रेणिकस्तु भूनाथो भुक्त्वा भोगान्सुधार्मिकः ।
तस्मै चिलातपुत्राय दत्वा राज्यं महोत्सवैः ॥ २१ ॥
स्वयं वैराग्यतः स्वामी दीक्षां जैनेश्वरीं शुभाम् ।
समादाय मुनिर्जातो जगत्प्राणिहितंकरः ॥ २२ ॥
ततश्चिलातपुत्रश्च स्थित्वा राज्येपि मूढधीः ।
अन्यायेषु रतो गाढं हा कष्टं किमतः परम् ॥ २३ ॥
श्रेणिकस्तु समागत्य तदा राजगृहं पुरम् ।
देशान्निर्घाट्य तं शीघ्रं स्वयं राज्ये सुखं स्थितः ॥ २४ ॥
अहो राजाभवत्युच्चै-र्यः प्रजाप्रतिपालकः ।
नान्यो लोकद्वये स्वस्य कीर्त्तिलक्ष्मीविनाशकः ॥ २५ ॥
गत्वा चिलातपुत्रश्च महाटव्यां बलान्वितः ।
दुर्गं कृत्वा तथा देश-करं गृह्णाति निर्भयः ॥ २६ ॥
अथास्य विद्यते कोपि भर्तृमित्राख्यसत्सखा ।
तस्यापि भर्तृमित्रस्य मातुलो रुद्रदत्तवाक् ॥ २७ ॥

सुभद्रां स्वसुतां तस्मै भर्तृमित्राय याचिताम् ।
न ददाति ततश्चापि भर्तृमित्रस्य वाक्यतः ॥ २८ ॥
युक्तश्चिलातपुत्रोसौ भटैः पञ्चशतैर्द्रुतम् ।
गत्वा राजगृहं कोपा-द्विवाहस्नानकालके ॥ २९ ॥
तां छलेन समादाय निर्गतः क्रूरमानसः ।
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको राजा ससैन्यः पृष्ठतोगमत् ॥ ३० ॥
पलायितुमशक्तेन तेन दुष्कर्मकारिणा ।
सुभद्रा मारिता कन्या संजाता व्यन्तरी तदा ॥ ३१ ॥
शीघ्रं चिलातपुत्रेण नश्यता च स्वकर्मतः ।
वैभारपर्वते रम्ये मुनिपंचशताश्रितम् ॥ ३२ ॥
मुनीन्द्रं मुनिदत्ताख्यं दृष्ट्वा नत्वा सुभक्तितः ।
प्रोक्तं स्वामिंस्तपो देहि साधयामि निजं हितम् ॥ ३३ ॥
स च प्राह मुनिर्ज्ञानी जैनतत्वविदाम्वरः ।
सुधीः शीघ्रं समादाय जैनीं दीक्षां सुखप्रदाम् ॥ ३४ ॥
साधय त्वं निजं कार्यं तवायुर्दिवसाष्टकम् ।
ततश्चिलातपुत्रोसौ श्रुत्वा वाक्यं महामुनेः ॥ ३५ ॥
गृहीत्वा सुतपो जैनं संसाराम्भोधितारणम् ।
स्थितः प्रायोपयानाख्य-मरणे धीरमानसः ॥ ३६ ॥
श्रेणिकस्तु महाराज-स्तं विलोक्य तथास्थितम् ।
नत्वा प्रशस्य सद्भक्त्या पश्चात्प्राप्तो निजं पुरम् ॥ ३७ ॥
सुभद्रा व्यन्तरी सा च पूर्ववैरेण पापिनी ।
सोलिकारूपमादाय स्थित्वा तन्मस्तके तदा ॥ ३८ ॥

चञ्च्वा तल्लोचनद्वंद्वं सन्निष्काश्य प्रकष्टतः ।
पश्चादष्टदिनेषूच्चै-र्विकृत्य मधुमक्षिका ॥ ३९ ॥
चक्रे पीडां सुधीः सोपि निःस्पृहो निजविग्रहे ।
मृत्वा समाधिना स्वामी प्राप्तः सर्वार्थसिद्धिकाम् ॥ ४० ॥
स श्रीमान्सुभटाग्रणीर्गुणनिधिर्जित्वोपसर्गं दृढं
श्रीमज्जैनपदाब्जचिन्तनपरो देवेन्द्रवृन्दैः स्तुतः ।
संप्राप्तो निजपुण्यसंबलयुतः सर्वार्थसिद्धिं शुभां
दद्याच्चारुचिलातपुत्रसुमुनिर्भव्योत्र मे मङ्गलम् ॥ ४१ ॥

इति कथाकोशे महामण्डलेश्वर-श्रीश्रेणिक-सुत-चिलात-पुत्रस्याख्यानं समाप्तम् ।

७१—श्रीधन्यमुनेराख्यानम् ।

नमस्कृत्य जिनाधीशं सारधर्मोपदेशकम् ।
धन्यनाममुनेर्वच्मि चरित्रं शर्मदायकम् ॥ १ ॥
जम्बूद्वीपेत्र विख्याते पूते पूर्वविदेहके ।
वीतशोकपुरे राजा संजातोशोकनामभाक् ॥ २ ॥
धान्यगाहनवेलायां स राजा भूरिलोभतः ।
बन्धनं कारयत्येव बलीवर्दमुखेषु च ॥ ३ ॥
तथा महानसे पाकं कुर्वतीनां च योषिताम् ।
कारयित्वा स्तनेषूच्चै-र्बन्धनं कर्मबन्धनम् ॥ ४ ॥
तद्बालानां स्तनं पातुं न ददात्येव मूढधीः ।
अहो लोभेन मूढात्मा किं करोति न पातकम् ॥ ५ ॥

एकदा तस्य भूभर्त्तु-र्मुखे शिरसि चाभवत् ।
महारोगस्ततस्तस्य विनाशार्थं महौषधम् ॥ ६ ॥
पाचयित्वा समादाय भाजने भोजनाय च ।
यावत्संतिष्ठते राजा-ऽशोकस्तावच्छुभोदयात् ॥ ७ ॥
महारोगग्रहग्रस्तो मुनीन्द्रो भुवनोत्तमः ।
चर्याकाले समायातः पवित्रीकृतभूतलः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा तं सुतपोयुक्तं मुनिं परमनिस्पृहम् ।
यो मे रोगो मुनेरस्य स एव भवति ध्रुवम् ॥ ९ ॥
इति ज्ञात्वा महाभक्त्या नवपुण्यैः समन्वितम् ।
तस्मै तदौषधं दिव्यं पथ्यं चापि ददौ नृपः ॥ १० ॥
ततो द्वादशवर्षोत्थ-रोगस्तस्य महामुनेः ।
शीघ्रं नष्टो यथा मिथ्या-दृष्टिः सद्दृष्टिवाक्यतः ॥ ११ ॥
तत्पुण्येन नृपः सोपि क्षेत्रेऽत्र भरते शुभे ।
पुरे चामलकण्ठाख्ये निष्ठसेनो महीपतिः ॥ १२ ॥
नन्दिमत्यभिधा राज्ञी तयोः पुत्रोभवत्सुधीः ।
रूपलावण्यसत्पुण्य-मण्डितो धन्यनामकः ॥ १३ ॥
एकदा स्वगुणैः सार्द्धं वृद्धिं प्राप्य स धन्यकः ।
अरिष्टनेमितीर्थस्य पादमूले जगद्धिते ॥ १४ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समार्चितम् ।
ज्ञात्वा स्वल्पतरं स्वायु-र्मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ १५ ॥
पूर्वकर्मोदयाद्भिक्षा-मप्राप्तो धीरमानसः ।
उग्रोग्रं सुतपः कुर्वन्विहरंश्च महीतले ॥ १६ ॥

सौरीपुरीं समागत्य यमुनापूर्वसत्तटे ।
आतापनाख्ययोगेन संस्थितो मुनिनायकः ॥ १७ ॥
तदा पापर्द्धिकां गत्वा यमुनाचक्र भूभुजा ।
पुनर्व्याघुटितेनैव पापिनाशकुनास्थया ॥ १८ ॥
स्वबाणैः पूरितः साधु-स्तदासौ धन्यनामभाक् ।
शुक्लध्यानप्रभावेन सिद्धिं प्राप्तो निरंजनः ॥ १९ ॥
अहो धीरत्वमत्युच्चैः सतां केनात्र वर्ण्यते ।
येनो घोरोपसर्गेपि शीघ्रं मुक्तिः समाप्यते ॥ २० ॥
धन्यो धन्यमुनीश्वरो भयहरो भव्यात्मनां तारको
देवेन्द्रादिसमर्चितो हितकरः श्रीमुक्तिकान्तावरः ।
आधिव्याधिसमस्तदोषनिकरं हत्वा सुखं शाश्वतं
कुर्यान्मे वरबोधसिन्धुरतुलश्चारित्रचूडामणिः ॥ २१ ॥

इति कथाकोशे धन्यमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

७२–पञ्चशतमुनीनामाख्यानम् ।

पादपद्मद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभश्रिये ।
मुनिपंचशतानां तु चरित्रं श्रेयसे ब्रुवे ॥ १ ॥
दक्षिणाख्यपथें ख्याते देशे च भरताभिधे ।
कुंभकारकटे पूर्वं पत्तने सुचिरंतने ॥ २ ॥
राजाभूद्दण्डको राज्ञी सुव्रता रूपमण्डिता ।
बालकाख्योभवन्मंत्री पापी धर्मपराङ्मुखः ॥ ३ ॥

तत्रैकदा पुरे पंच-शतोत्कृष्टमुनीश्वराः ।
नाम्नाभिनन्दनाद्यास्ते समायाताश्च लीलया ॥ ४ ॥
खण्डकाख्यमुनीन्द्रेण स मंत्री बालकः कुधीः ।
स्याद्वादवाग्भरैर्वादे निर्जितो धर्मवर्जितः ॥ ५ ॥
ततस्तेन प्ररुष्टेन भंडको मुनिरूपभाक् ।
मंत्रिणा बालकेनोच्चैः प्रेषितः सुव्रतान्तिके ॥ ६ ॥
तया सार्द्धं ततश्चेष्टां स कुर्वन्पापमण्डितः ।
राज्ञः संदर्शितः पश्चा-त्पश्यतां भो महामते ॥ ७ ॥
एतेषां भक्तियुक्तस्त्वं मन्येहं तव कामिनीम् ।
दातुं समिच्छसि व्यक्तं किं करोत्येप ते मुनिः ॥ ८ ॥
इत्याकर्ण्य ततो राजा दण्डको मूढमानसः ।
यंत्रे संपीडयामास मुनीन्द्रान्दुष्टकोपतः ॥ ९ ॥
दुष्टात्मा दुर्गतेर्गामी जन्तुर्मिथ्यात्वमोहितः ।
किं पापं कुरुते नैव जन्मकोटिप्रकष्टदम् ॥ १० ॥
तदा ते मुनयो धीरा जैनतत्वविदाम्वराः ।
शुक्लध्यानप्रभावेन सिद्धिं प्रापुर्जगद्धिताम् ॥ ११ ॥
चञ्चत्सुवर्णगिरिराजसुनिश्चलास्ते
प्रध्वस्तकर्ममलसंगतयो मुनीन्द्राः ।
देवेन्द्रदानवनरेन्द्रसमर्चनीया
नित्यं भवन्तु भवशान्तिविधायिनो मे ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे पञ्चशतमुनीनामाख्यानं समाप्तम् ।

७३-चाणक्याख्यानम् ।

नत्वा नमत्सुराधीशैः समर्चितपदद्वयम् ।
श्रीजिनेन्द्रं प्रवक्ष्यामि चाणक्यस्य कथानकम् ॥ १ ॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये नन्दो राजा बभूव च ।
मंत्रिणोस्य त्रयः काविः सुबन्धुः शकटालवाक् ॥ २ ॥
पुरोधा कपिलस्तस्य देविला प्राणवल्लभा ।
तयोश्चाणक्यनामाभूत्पुत्रो वेदविचक्षणः ॥ ३ ॥
एकदा काविमंत्री च नन्दं प्राह महीपते ।
प्रत्यन्तवासिनो भूपाः समायातास्तवोपरि ॥ ४ ॥
राजा जगाद भो मंत्रिन्द्रव्यं दत्वा मदोद्धतान् ।
शत्रून्निवारय प्रौढां-स्तच्छ्रुत्वा तेन मंत्रिणा ॥ ५ ॥
द्रव्यं दत्वा यथायोग्यं शत्रवस्ते निवारिताः ।
विना मंत्रिजनैर्नैव राज्ञो राज्यस्थितिर्भवेत् ॥ ६ ॥
पृष्टे राज्ञैकदा भाण्डा-गारिको धनहेतवे ।
स च प्राह प्रभो सर्वं शत्रूणां काविराददौ ॥ ७ ॥
ततो रुष्टेन नन्देन स काविः सकुटुम्बकः ।
अन्धकूपे विनिक्षिप्तः संकटद्वारके तथा ॥ ८ ॥
तत्रैकैकं तदा भक्त-सरावं दिवसं प्रति ।
दीयते स्तोकपानीयं हा मित्रं कस्य भूपतिः ॥ ९ ॥
कुटुम्बं काविना प्रोक्तं सकुटुम्बस्य भूभुजः ।
यो मारणे क्षमः सोत्र गृह्णात्वेतच्च भोजनम् ॥ १० ॥

परिवारस्तदा प्राह त्वमेवं सुभटस्तराम् ।
स काविस्तुः ततः कूपे बिलं कृत्वा निजोचितम् ॥ ११ ॥
कुर्वाणो भोजनं तत्र त्रीणि वर्षाणि संस्थितः ।
कुटुम्बं च मृतं सर्वं कूपस्थं पापकर्मणा ॥ १२ ॥
प्रत्यन्तवासिनां क्षोभे स्मृत्वा नन्देन कूपतः ।
काविर्मंत्री स निस्सार्य पुनर्मंत्रिपदे धृतः ॥ १३ ॥
ततोसौ नन्दभूभर्त्तु-र्वंशनाशाय वह्निवत् ।
नरं गवेपयन्नित्यं काविर्मंत्री दुराशयः ॥ १४ ॥
अटव्यामेकदा वीक्ष्य खनन्तं दर्भसूचिकाम् ।
तं चाणक्यं प्रति प्राह किमर्थं खन्यते त्वया ॥ १५ ॥
चाणक्येन ततः प्रोक्तं विद्धोहमनयेति च ।
काविस्तु पूर्यतेवो च-त्क्षमां कुरु महामते ॥ १६ ॥
किमत्र खननेनोच्चै-र्यदा मूलं तथा स्थितम् ।
किं शत्रोर्मारणेनात्र गृहीतं चेन्न मस्तकम् ॥ १७ ॥
तद्वाक्यं काविना श्रुत्वा स्वचित्ते चेति चिन्तितम् ।
अयं नन्दकुलोच्छेदे योग्यो भाति न संशयः ॥ १८ ॥
चाणक्यस्य प्रिया प्राह यशस्वत्यभिधा ततः ।
नन्दो राजा ददात्येव कपिलां गोमतल्लिकाम् ॥ १९ ॥
तां त्वं गृहाण भो नाथ गृह्णाम्येवं च सोवदत् ।
तं सम्बन्धं समाकर्ण्य स काविस्तु नृपं जगौ ॥ २० ॥
दीयते भो नराधीश कपिलानां सहस्रकम् ।
ब्राह्मणेभ्यो भवद्भिस्तु भूरिवित्तसमन्वितैः ॥ २१ ॥

अहो दुष्टस्य दुष्टत्वं लक्ष्यते केन भूतले ।
चित्तं चान्यद्वचश्चान्य-त्कायो मायामयो यतः ॥ २२ ॥
नन्दराजेन संप्रोक्तं ब्राह्मणानानय द्रुतम् ।
ददामि कपिलास्तेभ्य-स्ततोसौ मंत्रिशत्रुकः ॥ २३ ॥
चाणक्यं तं समानीय पुरोहितसुतं मुदा ।
अग्रासने शुभे कविः स्थापयामास दुष्टधीः ॥ २४ ॥
चाणक्येन तदा तेन स्वकुंडीभिर्बहूनि च ।
स्वीकृतान्यासनान्युच्चै-र्महातृष्णातुरेण च ॥ २५ ॥
तं तथास्थितमालोक्य कविः प्राह प्रपञ्चतः ।
अहो भट्ट नृपो वक्ति भूरिविप्राः समागताः ॥ २६ ॥
मुञ्चैकमासनं देव मुक्तं तेनैकमासनम् ।
एवं सर्वासनान्युच्चै-र्मोचयित्वा च मंत्रिणा ॥ २७ ॥
पुनः प्रोक्तं महाभट्ट किं करोम्यहमल्पकः ।
नन्दो विवेकशून्यात्मा भणत्येवं महीपतिः ॥ २८ ॥
अग्रासनं त्यज त्वं च दत्तमन्यस्य वर्त्तते ।
गच्छ त्वं स इति प्रोक्त्वा गले धृत्वा बहिः कृतः ॥ २९ ॥
चाणक्योसौ ततः कोपा-न्नन्दवशक्षयेच्छया ।
यो राज्यं नन्दभूपस्य समिच्छति महाभटः ॥ ३० ॥
गृहीतुं स समायातु भणित्वेति विनिर्गतः ।
एकस्तत्पृष्टतो लग्न-स्तं गृहीत्वा प्रवेगतः ॥ ३१ ॥
प्रत्यन्तवासिनां राज्ञां मिलित्वा क्रूरमानसः ।
घातुकेन समागत्य हत्वा नन्दं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

तद्राज्यं च समादाय स्वयं राजा बभूव च ।
अहो मंत्रिप्रकोपेन भूपाः के न क्षयं गताः ॥ ३३ ॥
दीर्घकालं ततो राज्यं कृत्वा चाणक्यभूपतिः ।
महीधरमुनेः पार्श्वे धर्ममाकर्ण्य शर्मदम् ॥ ३४ ॥
मुनिर्भूत्वा सुधीः पञ्च-शतैः शिष्यैः समान्वितः ।
कुर्वन्विहारमत्युच्चै-र्भव्यान्सम्बोधयन्मुदा ॥ ३५ ॥
दक्षिणापथमागत्य जैनतत्वविचक्षणः ।
वनवासमहादेशे क्रौंचनामपुरे सुधीः ॥ ३६ ॥
तत्र पश्चिमभागस्थे गोष्ठे संन्यासपूर्वकम् ।
प्रायोपयानमरणे संस्थितो मुनिभिर्युतः ॥ ३७ ॥
यो नन्दस्य सुबन्ध्वाख्यो मंत्री पापपरायणः ।
नन्दे मृते महाक्रोधं कुधीश्चाणक्यके वहन् ॥ ३८ ॥
सोपि क्रौंचपुरीं प्राप्तः सुमित्राख्यमहीपतेः ।
पार्श्वे स्थितस्तदा राजा सुमित्रो जिनधर्मभाक् ॥ ३९ ॥
भक्त्या गोष्ठं समागत्य नत्वा तान्मुनिसत्तमान् ।
अष्टधा सुमहत्पूजां कृत्वा श्रुत्वा गृहं गतः ॥ ४० ॥
पापी सुबन्धुनामा च मंत्री मिथ्यात्वदूषितः ।
समीपे तन्मुनीन्द्राणां कारीषाग्निं कुधीर्ददौ ॥ ४१ ॥
तदा ते मुनयो धीराः शुक्लध्यानेन संस्थिताः ।
हत्वा कर्माणि निःशेषं प्राप्ताः सिद्धिं जगद्धिताम् ॥ ४२ ॥
यत्रानन्तसुखं समस्तजगतां पूज्यं व्यथावर्जितं
रागद्वेषमदप्रमादरहितं संप्राप्य सिद्धालयम् ।

सर्वे ते मुनयो विशुद्धचरणास्तिष्ठन्ति ये नित्यशः
कुर्युर्मेपि सुखं विमुक्तिजनितं बोधाब्धयो निर्मलम् ॥ ४३ ॥

इति कथाकोशे चाणक्यमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

७४—वृषभसेनस्याख्यानम् ।

श्रीजिनं भारतीं नत्वा श्रुताब्धिं मुनिसत्तमम् ।
वक्ष्ये वृषभसेनस्य चरित्रं भुवनोत्तमम् ॥ १ ॥
दक्षिणादिपथे ख्याते कुणालनगरे वरे ।
राजा वैश्रवणो धीमान्सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥ २ ॥
रिष्टामात्योभवन्मंत्री पापी मिथ्यात्वमोहितः ।
युक्तं चन्दनवृक्षस्य पार्श्वे दुष्टोहिको भवेत् ॥ ३ ॥
एकदा भूरिसंघेन मण्डितो मुनिनायकः ।
सुधीर्वृषभसेनाख्य-स्तत्रायातो जगद्धितः ॥ ४ ॥
श्रुत्वा वैश्रवणो भूपो मुनीनामागमं शुभम् ।
लसद्विभूतिसंयुक्तो भक्तिमाञ्छुद्धमानसः ॥ ५ ॥
सार्द्धं सद्द्रव्यसन्दोहैः समागत्य मुनीश्वरान् ।
त्रिः परीत्य महाप्रीत्या नमस्कृत्य पुनः पुनः ॥ ६ ॥
समभ्यर्च्य जलाद्यैश्च स्तुत्वा स्तोत्रैः सुखप्रदैः ।
धर्मं श्रुत्वा जिनेन्द्रोक्तं प्रीतो राजा जगद्धितम् ॥ ७ ॥
जैनधर्मं जगत्सारं सम्पदाशर्मदायकम् ।
समाकर्ण्य सुखी न स्यात्को वा चेद्भाविसद्गतिः ॥ ८ ॥

रिष्टामात्यस्तदा मंत्री वादं कृत्वा मदोद्धतः ।
मानभङ्गं तरां प्राप्तो मुनीन्द्रवचनोत्करैः ॥ ९ ॥
ततो रात्रौ समागत्य प्रच्छन्नं मानभङ्गतः ।
पापी प्रज्वालयामास वह्निना वसतिं सताम् ॥ १० ॥
स्वयं चापल्यमाधत्ते स्वयं कुप्यति साधुषु ।
स्वयं पापं करोत्येव दुर्जनस्येति चेष्टितम् ॥ ११ ॥
तदा ते मुनयः सर्वे शुक्लध्यानेन धीधनाः ।
अनुभूयोपसर्गं तं प्राप्ताः स्वर्गापवर्गकम् ॥ १२ ॥
विघ्नं करोतु दुष्टात्मा पापी दुर्गतिकारणम् ।
सन्तः सद्धर्मसेवाभि-र्लभन्ते सौख्यमद्भुतम् ॥ १३ ॥
सन्तस्ते मुनिसत्तमाः शुचितराः सद्धयानशैलाश्रिताः
श्रीमत्सारजिनेन्द्रतत्वचतुरा जित्वोपसर्गं दृढम् ।
संप्राप्ताः स्वविशुद्धभावभरतः स्वर्गापवर्गं शुभं
देवेन्द्रादिसमर्चिताः शुभकराः कुर्युः सतां मंगलम् ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे श्रीवृषसेनमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

७५–शालिसिक्थमत्स्यस्य मनोदोषाख्यानम् ।

स्वयंभुवं नमस्कृत्य जिनेन्द्रं केवलेक्षणम् ।
संबोधाय सतां वच्मि मनोदोषस्य लक्षणम् ॥ १ ॥
स्वंभूरमणे ख्याते समुद्रे प्रान्तवर्त्तिनि ।
सहस्रयोजनैर्दीर्घो विस्तारे च तदर्द्धकः ॥ २ ॥
सार्द्धद्वयशतोत्सेधो महामत्स्यः प्रवर्त्तते ।
तस्य कर्णे तथा शालि-सिक्थमात्रो लघुः कुधीः ॥ ३ ॥

शालिसिक्थाख्यमत्स्योस्ति तत्कर्णे मलभक्षकः ।
महामत्स्यस्य तस्यैव भुक्त्वा जन्तूननेकशः ॥ ४ ॥
मुखच्छिद्रं प्रसार्योच्चै-र्निद्रां षण्मासंश्रिताम् ।
कुर्वाणस्य तदा सोपि लघुमत्स्यो दुराशयः ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा मुखोरुदंष्ट्रान्तः संप्रविश्य प्रगच्छतः ।
मत्स्यकच्छपकादींश्च योजनादिप्रदीर्घकान् ॥ ६ ॥
स्वचित्ते चिन्तयत्येवं दिनं प्रति सुपापधीः ।
मूर्खोयं स्वमुखायातां-स्त्यजत्येतांश्च जन्तुकान् ॥ ७ ॥
शक्तिर्यदीदृशी मेस्ति तदैको न प्रगच्छति ।
हा कष्टं दुष्टचित्तस्य चेष्टितं पापकारणम् ॥ ८ ॥
स मृत्वा चेतसः स्वस्य महापापोदयात्ततः ।
कालेन सप्तमं नरकं प्राप्तः स कष्टराशिदम् ॥ ९ ॥
अहो पुण्यस्य पापस्य कारणं प्रायशो मनः ।
तस्मान्नित्यं सतां कार्यं चित्तं पूतं जिनश्रुतेः ॥ १० ॥
शास्त्रं विना न जानाति प्राणी किञ्चिच्छुभाशुभम् ।
ततः सद्भिः सदा कार्यं सारजैन श्रुतिश्रुतम् ॥ ११ ॥

श्रीमज्जैनवचः प्रदीपनिकरं मिथ्यातमोनाशकं
देवेन्द्रादिसमस्तभव्यनिवहैर्भक्त्या समभ्यर्चितम् ।
भो भव्या भवभूरिदुःखदलनं स्वर्मोक्षमार्गप्रदं
नित्यं चेतसि चिन्तयन्तु नितरां शान्त्यै भवन्तः श्रियै ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे शालिसिक्थमत्स्यस्य मनोदोषाख्यानं समाप्तम् ।

७६–सुभौमचक्रवर्त्तिन आख्यानम् ।

इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं सुभौमेशस्य वृत्तकम् ॥ १ ॥
ईर्ष्यावति पुरे राजा कार्त्तवीर्यो गुणोज्वलः ।
रेवती कामिनी तस्य तयोः पुत्रः सुभौमवाक् ॥ २ ॥
अष्टमश्चक्रवर्त्ती च तस्य पाकविधायकः ।
जातो विजयसेनाख्यो नाना भोजनयुक्तिवित् ॥ ३ ॥
एकदा तेन भूपाय तस्मै सत्पायसाशनम् ।
दत्तमुष्णं प्रभोक्तुं च दग्धोसौ तेन चक्रभृत् ॥ ४ ॥
तत्पायसं प्रकोपेन ततस्तेनैव चक्रिणा ।
क्षिप्त्वा तन्मस्तके शीघ्रं मारितः सूपकारकः ॥ ५ ॥
मृत्वा विजयसेनोसौ भूत्वा क्षारसमुद्रके ।
ततो व्यन्तरदेवश्च ज्ञात्वा पूर्वप्रघट्टकम् ॥ ६ ॥
कोपात्तापसरूपेण सुभौमस्यास्य चक्रिणः ।
नाना मृष्टफलान्युच्चैः समानीय प्रदत्तवान् ॥ ७ ॥
तत्फलास्वादनात्तेन सम्प्रोक्तं चक्रवर्त्तिना ।
कुत्र सन्ति फलानीति महामृष्टानि तापस ॥ ८ ॥
ततस्तेन प्रपंचेन नीत्वा तं फललम्पटम् ।
समुद्रे प्रकटीभूय प्रोक्तमित्थं च शत्रुणा ॥ ९ ॥
रे रे दुष्ट ममप्राण-नाशकस्त्वं मदोद्धतः ।
क्व यासि त्वमिदानीं च हन्यतेत्र मया ध्रुवम् ॥ १० ॥

यदा पञ्चनमस्काराँ-ल्लिखित्वात्र जले द्रुतम् ।
पादेन स्पृशसि व्यक्तं तदा त्वं मुच्यते मया ॥ ११ ॥
तदासौ चक्रवर्त्ती च कृत्वा तत्कर्मनिन्दितम् ।
कुधीः प्राणक्षयाच्छीघ्रं सप्तमं नरकं गतः ॥ १२ ॥
धिङ्मूढत्वमहो लोके लंपटत्वं हि धिक्तराम् ।
अष्टमश्चक्रभृच्चापि यतोसौ कुगतिं ययौ ॥ १३ ॥
विश्वासेन विहीनोसौ धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
भवेद्दुर्गतिभाक्प्राणी यथासौ चक्रवर्त्तिकः ॥ १४ ॥
धन्यास्ते जगतां पूज्या येषां चित्ते जिनेशिनः ।
नित्यं वाक्यामृतानि स्युः शर्मकारीणि देहिनाम् ॥ १५ ॥
सम्यक्त्वं त्रिजगद्धितं भवहरं शक्रादिभिः पूजितं
नाना शर्मविधायकं गुणकरं स्वर्गापवर्गप्रदम् ।
तद्भक्त्याष्टविधं जिनेन्द्रकथितं श्रित्वा च मुक्तिश्रिये
चित्ते भव्यमतल्लिका गतभयं संभावयन्तु प्रियम् ॥१६॥

इति कथाकोशे सुभौमचक्रवर्त्तिन आख्यानं समाप्तम् ।

७७—शुभनृपतेराख्यानम् ।

प्रणम्य परमानन्दं श्रीजिनेन्द्रजगद्धितम् ।
शुभाख्यभूपतेर्वच्मि चरित्रं विरतिप्रदम् ॥ १ ॥
मिथिलानगरे राजा शुभो राज्ञी मनोरमा ।
तयोर्देवरतिः पुत्रः संजातः सुगुणाकरः ॥ २ ॥

एकदा नगरे तत्र मुनीन्द्रो ज्ञानसंयुतः ।
नाम्ना देवगुरुर्धीमान्समायातः सुसंघभाक् ॥ ३ ॥
तदा महीपतिः सोपि शुभो भव्यजनैः सह ।
नत्वा मुनिं जगत्पूज्यं धर्ममाकर्ण्य पृष्टवान् ॥ ४ ॥
अहो मुने क्व मे जन्म भविष्यति विचक्षण ।
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह सुधीर्देवगुरुः स्फुटम् ॥ ५ ॥
निजवर्चो गृहे राजं-स्त्वं भविष्यसि पापतः ।
महाक्रमिर्मुनीन्द्राणां मानसे न भयं क्वचित् ॥ ६ ॥
नगर्याश्च प्रवेशे ते विट्प्रवेशो मुखे ध्रुवम् ।
छत्रभंगस्तथा विद्धि साभिज्ञानमिति स्फुटम् ॥ ७ ॥
सप्तमे च दिने भूप विद्युत्पातेन ते क्षयः ।
भविष्यति भवेदत्र प्राणिनां पापतो न किम् ॥ ८ ॥
पुरं प्रविशतश्चापि ततस्तस्य महीपतेः ।
रथाश्वचरणोद्घातान्मुखे गूथः प्रविष्टवान् ॥ ९ ॥
महावायुप्रवेगेन छत्रभंगोभवत्तदा ।
दुष्टपापोदये जन्तोः किं किं न स्याद्विरूपकम् ॥ १० ॥
सुतं प्राह ततो भूपः पुत्र वर्चोगृहेऽहकम् ।
पञ्चवर्णः कृमिः पापाद्भ-विष्यामि तदा त्वया ॥ ११ ॥
स हन्तव्य इति प्रोक्त्वा भीत्वा विद्युत्प्रपाततः ।
कारयित्वा महालोह-मंजूषां तां प्रविश्य च ॥ १२ ॥
तस्थौ गंगाह्रद्रे याव-त्तावत्सप्तमवासरे ।
सा मंजूषा स्वपापेन मत्स्येनोच्छादिता द्रुतम् ॥ १३ ॥

तस्मिन्नेव क्षणे कष्टं विद्युत्पातेन स प्रभुः ।
मृत्वा वर्चोगृहे जातः कृमिजन्तुः स्वपापतः ॥ १४
स देवरतिपुत्रेण मार्यमाणो पि विट्चयम् ।
प्रणश्य गतवानित्थं भुंक्ते जन्तुः स्वकर्मकम् ॥ १५
तदा देवरतेर्वाक्या-च्छ्रुत्वा तद्वृत्तकं जनाः ।
भीत्वा संसारचेष्टाया जिनधर्मे तरां रताः ॥ १६ ॥
सोपि देवरतिर्धीमान्महावैराग्यभावतः ।
विधाय संसृतेनिन्दां मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ १७ ॥
सकलभुवनसारं दत्तसंसारपारं
दुरितशतनिवारं यस्य वाक्यं सुतारम् ।
स सृजतु जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो
निजचरणसुसेवां मुक्तिपर्यन्तमुच्चैः ॥ १८ ॥

इति कथाकोशे शुभनृपस्याख्यानं समाप्तम् ।

७८—सुदृष्टेराख्यानम् ।

नत्वा जगत्त्रयाधीशैः पूजितं श्रीजिनेश्वरम् ।
वक्ष्ये सुदृष्टिसन्नाम-रत्नविज्ञानिवृत्तकम् ॥ १ ॥
उज्जयिन्यां महाराजः प्रजापालः प्रजाहितः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ २ ॥
राज्ञी च सुप्रभा तस्य सती सद्रूपमण्डिता ।
तदेव भुवने भाति रूपं यच्छीलसंयुतम् ॥ ३ ॥

तत्रैव पत्तने जातो रत्नविज्ञानिको महान् ।
सुदृष्टिर्नामतस्तस्य भार्याभूद्विमला कुधीः ॥ ४ ॥
वक्राख्यो दुष्टधीस्तस्या गृहे छात्रः प्रवर्त्तते ।
तेन सार्द्धं दुराचारं सा करोति स्म पापिना ॥ ५ ॥
एकदा विमलायाश्च वाक्यतः सोपि वक्रकः ।
सुदृष्टिं मारयामास कुर्वन्तं कामसेवनम् ॥ ६ ॥
स्ववीर्येण समं तत्र सुदृष्टिः कर्मयोगतः ।
मृत्वासौ विमलागर्भे पुत्रोभूत्कतिचिद्दिनैः ॥ ७ ॥
अहो संसारिणो जीवाः स्वकर्मवशवर्त्तिनः ।
नाना रूपं प्रयान्त्युच्चै-र्नटाचार्यो यथा भुवि ॥ ८ ॥
अथैकदा महोद्याने चैत्रमासे मनोहरे ।
सुप्रभाया महाराज्ञ्याः क्रीडन्त्या भूभुजा समम् ॥ ९ ॥
कण्ठस्थितो महाहारो नाम्ना क्रीडाविलासकः ।
त्रुटितः प्रोल्लसत्कान्ति-मण्डितो रचनान्वितः ॥ १० ॥
केनापि स्वर्णकारेण न हारो रचितस्तथा ।
सारपुण्यं विना केन सद्विज्ञानं हि लभ्यते ॥ ११ ॥
तं हारं च समालोक्य तदा स विमलासुतः ।
भूत्वा जातिस्मरो धीमान्रचयामास पूर्ववत् ॥ १२ ॥
ज्ञानविज्ञानसद्दानं पूजनं श्रीजिनेशिनाम् ।
पूर्वाभ्यासेन जन्तूनां समायाति स्वपुण्यतः ॥ १३ ॥
प्रजापालो नृपः प्राह तदा सन्तुष्टमानसः ।
सुदृष्टेर्निर्मितो हारः कथं भो रचितस्त्वया ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा स जगादेवं भो नरेन्द्र महामते ।
अहमेव भवाम्यत्र सुदृष्टिः परमार्थतः ॥ १५ ॥
पूर्ववृत्तान्तमाकर्ण्य स राजा जैनतत्वविृत् ।
ज्ञात्वा संसारवैचित्र्यं मुनिर्जातो गुणोज्वलः ॥ १६ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य सोपि श्रीविमलासुतः ।
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम् ॥ १७ ॥
मुनिर्भूत्वा विशुद्धात्मा तपः कुर्वन्मनोहरम् ।
भव्यान्सम्वोधयन्नुच्चै-र्विहरंश्च महीतले ॥ १८ ॥
सौरीपुरोत्तरे भागे यमुनाया लसत्तटे ।
शुक्लध्यानेन कर्मारि-लोकालोकप्रकाशकम् ॥ १९ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य भूत्वा त्रैलोक्यपूजितः ।
मुक्तिं संप्राप्तवान्स्वामी सोस्माकं शान्तयेस्तु वै ॥ २० ॥
स श्रीमान्भवसिन्धुतारणपरः सत्केवलज्ञानभाक्
कर्मारातिविनाशकाच्छिवपतिर्देवेन्द्रवृन्दार्चितः ।
लोकालोकविलोकनैकचतुरः स्वर्गापवर्गप्रदो
भूयान्मे भवतां च पूजितपदः सच्छ्रेयसे श्रीजिनः ॥२१॥

इति कथाकोशे सुदृष्टेराख्यानं समाप्तम् ।

७९-धर्मसिंहमुनेराख्यानम् ।

सर्वदेवेन्द्रचन्द्राद्यै-र्वन्दितं श्रीजिनेशिनम् ।
नत्वा श्रुताब्धिमाप्तं च धर्मसिंहकथां ब्रुवे ॥ १ ॥
दक्षिणादिपथे ख्याते कौशलादिगिरौ पुरे ।
वीरसेनो महीनाथो राज्ञी वीरमती सती ॥ २ ॥
चन्द्रभूतिस्तयोः पुत्रश्चन्द्रश्रीश्च सुताभवत् ।
रूपलावण्यसौभाग्य-मण्डिता यौवनाश्रिता ॥ ३ ॥
कौशलाख्ये तथा देशे पुरे कौशलनामनि ।
धर्मसिंहो महाराज-स्तां कन्यां परिणीतवान् ॥ ४ ॥
तया सार्द्धं महाभोगान्स भुञ्जानः स्वपुण्यतः ।
दानपूजादिसत्कर्म-तत्परः सुचिरं स्थितः ॥ ५ ॥
एकदा स महीनाथो धर्मसिंहो विशुद्धधीः ।
नत्वा दमधराचार्य-मुनीन्द्रं सत्तपोनिधिम् ॥ ६ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं सुरेन्द्राद्यैः समार्चितम् ।
त्रिधा वैराग्यमासाद्य मुनिर्जातो गुणोज्वलः ॥ ७ ॥
चन्द्रश्रीभगिनीं वीक्ष्य दुःखितां चन्द्रभूतिना ।
हठादसौ समानीय तस्याश्चैव समर्पितः ॥ ८ ॥
गत्वा सोपि पुनर्दीक्षां समादाय प्रवेगतः ।
मुनिर्भूत्वा महाघोरं करोति स्म सुधीस्तपः ॥ ९ ॥
तथैकदा समालोक्य चन्द्रभूतिं दुराशयम् ।
आगच्छन्तं मुनीन्द्रोसौ धर्मसिंहो गुणाकरः ॥ १० ॥

पुनर्मेऽसौ तपोभङ्गं कारयिष्यति मानसे ।
सं विचार्य तदा शीघ्रं व्रतरक्षणहेतवे ॥ ११ ॥
संप्रविश्य विशुद्धात्मा मृतहस्तिकलेवरम् ।
संन्यासेन ततो मृत्वा स्वर्गलोकं सुधीर्ययौ ॥ १२ ॥
अहो भव्यैः प्रकर्त्तव्यं कष्टेपि व्रतरक्षणम् ।
येन सौख्यं भवेदुच्चैः स्वर्गमोक्षादिसंभवम् ॥ १३ ॥
श्रीमज्जैनविशुद्धधर्मरसिकः श्रीधर्मसिंहो मुनिः
कृत्वा सारतपो जिनेन्द्रगदितं स्वर्गापवर्गप्रदम् ।
प्राप्तः स्वर्गसुखं प्रसिद्धमहिमा तत्पुण्यतो निर्मलं
स श्रीमान्गुणरत्नरंजितमतिः कुर्याच्च मे मंगलम् ॥ १४ ॥

इति कथाकोशे धर्मसिंहमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

८०—वृषभसेनस्याख्यानम् ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
वक्ष्ये वृषभसेनस्य सच्चरित्रं सतामिदम् ॥ १ ॥
पुरे पाटलिपुत्राख्ये श्रेष्ठी वृषभदत्तवाक् ।
धनैर्धान्यैश्च सम्पूर्णः पूर्वपुण्येन शुद्धधीः ॥ २ ॥
भार्याभूद्वृषभश्रीश्च पुत्रो वृषभसेनकः ।
श्रीजिनेन्द्र पदाम्भोज-महासेवाविधायकः ॥ ३ ॥
तन्मातुलो धनपतिः श्रीकान्ताकामिनीपतिः ।
तयोः सद्रूपसंयुक्ता धनश्रीश्चारुकन्यका ॥ ४ ॥

तां श्रीवृषभसेनोसौ परिणीय महोत्सवैः ।
भुञ्जानो विविधान्भोगान्सुधीः सौख्येन संस्थितः ॥ ५ ॥
एकदा दमधरस्य मुनेः पार्श्वे सुभाक्तितः ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्रोक्तं मुनिः शीघ्रं बभूव च ॥ ६ ॥
धनश्री रोदनं चक्रे ततोसौ मातुलेन च ।
गृहमानीय कष्टेन कारितो व्रतखण्डनम् ॥ ७ ॥
अहो मोहयुतो जन्तुः कार्याकार्यं न पश्यति ।
मत्तवत्कुरुते कर्म-भूरिपापविधायकम् ॥ ८ ॥
स श्रीवृषभसेनस्तु कारागारे यथा नरः ।
गृहे स्थित्वा कियत्कालं संजातश्च मुनिः सुधीः ॥ ९ ॥
पुनस्तं च समानीय प्रपंचेन स मातुलः ।
गृहे शृंखलया पापी स्थापयामास कष्टतः ॥ १० ॥
पुनर्मा व्रतसच्छैला-त्पातायिष्यति मानसे ।
संविचार्येति संन्यासं गृहीत्वा मुनिसत्तमः ॥ ११ ॥
मृत्वा समाधिना स्वर्गं संप्राप्तो निजपुण्यतः ।
दुर्जनैः पीडितश्चापि सज्जनो नाशुभे रतः ॥ १२ ॥
भवतु दुर्जनको विपदाप्रदो
विशदबुद्धिरसौ सुजनः पुनः ।
जिनपतेः पदपद्मसुसेवना—
द्भवति शर्मपतिर्निजपुण्यतः ॥ १३ ॥

इति कथाकोशे श्रीवृषभसेनाख्यानं समाप्तम् ।

८१–जयसेननृपस्याख्यानम् ।

सारलक्ष्मीप्रदं नत्वा जिनेन्द्रं मुक्तिनायकम् ।
वक्ष्ये श्रीजयसेनस्य भूपतेः सत्कथानकम् ॥ १ ।
सावस्तीपत्तने राजा जयसेनोभवत्पुरा ।
वीरसेना महाराज्ञी वीरसेनः सुतस्तयोः ॥ २ ॥
वन्दकः शिवगुप्ताख्यो निन्दकः पललम्पटः ।
सोपि राज्ञो गुरुर्जातो धिङ्मिथ्यात्वमशर्मकम् ॥ ३ ॥
एकदा नगरे तत्र मुनिवृन्दसमन्वितः ।
समायातो मुनीन्द्रस्तु यत्यादिवृषभः सुधीः ॥ ४ ॥
तत्पार्श्वे पुण्ययोगेन भव्यैः संघैः प्रमण्डितः ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं भूपोभूच्छ्रावकोत्तमः ॥ ५ ॥
ततस्तेन महाभक्त्या जयसेनेन भूभुजा ।
जिनेन्द्रभवनैः सर्वं मण्डितं निजमण्डलम् ॥ ६ ॥
तदा स दुर्जनः पापी बुद्धकः शिवगुप्तकः ।
तद्भूपमारणोपायं चिन्तयंश्चेतसि क्रुधा ॥ ७ ॥
पुरीं च पृथिवीं गत्वा राजानं बौद्धधार्मिकम् ।
सुमत्याख्यं जगौ सर्वं जयसेनप्रचेष्टितम् ॥ ८ ॥
ततोसौ सुमतिर्लेखं प्रेषयामास तं प्रति ।
विरूपकं त्वया चक्रे बुद्धधर्मं गृहाण च ॥ ९ ॥
तेनोक्तं जयसेनेन जैनधर्मो जगद्धितः ।
निश्चयान्निश्चलो मेस्ति किमन्यैः पापकारणैः ॥ १० ॥

संन्यासं च समादाय निश्चलो मेरुवत्तराम् ।
मृत्वा स्वर्गालयं प्राप्य देवो जातो गुणोज्ज्वलः ॥ २२ ॥
वीरसेनकुमारो यो जयसेनसुतस्तदा ।
दृष्ट्वा तौ मरणं प्राप्तौ भित्तौ वीक्ष्याक्षराणि च ॥ २३ ॥
प्रशंसां सुतरां कृत्वा मुनीन्द्रस्य विचक्षणः ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते संजातो तीव्रनिश्चलः ॥ २४ ॥
दुष्टात्मा कुरुते दोषं धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
स स्वभावेन निर्दोषो निरभ्रो भास्करो यथा ॥ २५ ॥
यः श्रीदेवनिकायभूपतिशतैर्नागेन्द्रसत्खेचरैः
पूज्यो भक्तिभरेण शर्मनिलयो धर्मो जिनेन्द्रोदितः ।
नाना दुःखविनाशको भवहरः स्वर्गापवर्गप्रदः
स श्रीमान्भवतां जगत्त्रयहितो दद्याच्छुभं मङ्गलम् ॥२६॥

इति कथाकोशे जयसेननृपस्याख्यानं समाप्तम् ।

८२-शकटालमुनेराख्यानम्

नत्वा पादद्वयं जैनं शर्मदं त्रिजगद्धितम् ।
ब्रुवेहं शकटालस्य मुनेर्वृत्तं बुधैर्मतम् ॥ १ ॥
पुरे पाटलिपुत्रे भू-द्राजा नन्दोतिभद्रधीः ।
मंत्री श्रीशकटालाख्यो जैनधर्मरतस्तराम् ॥ २ ॥
द्वितीयस्तु कुधीर्मंत्री वरादिरुचिनामभाक् ।
तौ परस्परमत्यन्तं वैरिणौ भवत स्म च ॥ ३ ॥

एकदा मुनिभिर्युक्तो महापद्मो मुनीश्वरः ।
तत्रायातो जगत्पूज्यो जिनतत्वविदांवरः ॥ ४ ॥
तत्पार्श्वे श्रीजिनेन्द्रोक्तं धर्मं शर्माकरं द्विधा ।
समाकर्ण्य सुधीर्मंत्री शकटालो गुणोज्वलः ॥ ५ ॥
मुनिर्भूत्वा लसद्भक्त्या ज्ञात्वा शास्त्रार्थमुत्तमम् ।
आचार्यत्वं समासाद्य गुरोः पादप्रसादतः ॥ ६ ॥
कुर्वन्विहारमत्युच्चै-र्भव्यान्सम्बोधयन्सुखम् ।
कुर्वन्धर्मोद्यमं पूतं दुर्गतिच्छेदकारणम् ॥ ७ ॥
पुनः पाटलिपुत्राख्यं पुरमागत्य शुद्धधीः ।
नन्दस्यान्तःपुरे चर्यां कृत्वा स्वस्थानकं गतः ॥ ८ ॥
पूर्ववैरेण पापात्मा वरादिरुचिकस्तदा ।
नन्दं भूपं प्रति प्राह भो नरेन्द्र विचक्षण ॥ ९ ॥
भिक्षामिषेण ते गेहं संप्रविश्य प्रवेगतः ।
तवान्तःपुरके कष्टं शकटालः सुधूर्त्तकः ॥ १० ॥
अन्यायं च विधायैव स्वस्थानं गतवानिति ।
पापी दुर्गतिभाक् प्राणी किं करोति न पातकम् ॥ ११ ॥
ततो नन्देन भूभर्त्ता महाकोपेन तत्क्षणे ।
प्रेषितः शकटालस्य घातको मारणेच्छया ॥ १२ ॥
अहो मूढमतिर्जीवः प्रेरितो दुर्जनेन च ।
कार्याकार्यं न वेत्त्येव करोत्येव कुकर्म सः ॥ १३ ॥
शकटालो मुनीन्द्रोसौ दृष्ट्वा तं घातकं खरम् ।
ज्ञात्वा तन्मंत्रिणो दुष्ट-चेष्टितं पापकारणम् ॥ १४ ॥

संन्यासेन सुधीर्मृत्वा स्वर्लोकं च गतः सुखम् ।
दुष्टः करोतु दुष्टत्वं भवेन्नित्यं सतां शुभम् ॥ १५ ॥

सुनन्दोपि तदा राजा कृत्वा सर्वपरीक्षणम् ।
ज्ञात्वा मुनिं सुनिर्दोषं त्यक्त्वा कोपं प्रवेगतः ॥ १६ ॥

महापद्ममुनेः पाद-मूले सद्भक्तिनिर्भरः ।
श्रुत्वा धर्मं जिनैः प्रोक्तं सारसम्पद्विधायकम् ॥ १७ ॥

निन्दां गर्हां निजां कृत्वा दानपूजाव्रतान्विते ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्राणां संजातः सुतरां रतः ॥ १८ ॥

भवेज्जन्तुः कुसंगेन महापापस्य भाजनम् ।
स एव सद्गुरुं प्राप्य संभवेत्पुण्यभाजनम् ॥ १९ ॥

तस्माद्भव्यैः प्रकर्त्तव्यं सद्गुरोः सेवनं सदा ।
प्राप्यते येन सत्सौख्यं स्वर्गमोक्षभवं मुदा ॥ २० ॥

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तसुतपोरत्नोत्कराराधना-
माला श्रीजिनसारसूत्रसहिता पूर्वं बुधैर्निर्मिता ।
सद्बोधाम्बुधिभिर्जगत्रयहितैः सा शर्मणे श्रीप्रभा-
चन्द्राद्यैस्तदनुग्रहेण सुधिया चक्रे मयापि श्रिये ॥ २१ ॥

इति कथाकोशे शकटालमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

८३—श्रद्धाख्यानम् ।

विशुद्धकेवलज्ञान-प्रकाशितजगत्त्रयम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्यामि श्रद्धाख्यानं सतां प्रियम् ॥ १ ॥
कुरुजांगलसद्देशे हस्तिनागपुरे शुभे ।
विनयंधरभूपालो विनयादिवती प्रिया ॥ २ ॥
श्रेष्ठी वृषभसेनाख्य-स्तन्नाम्नी श्रेष्ठिनी मता ।
तयोः पुत्रस्तु संजातो जिनदासो गुणोज्वलः ॥ ३ ॥
एकदा तस्य भूभर्तुः कामासक्तस्य कर्मतः ।
महाव्याधिः समुत्पन्नो भूरिकामो न शान्तये ॥ ४ ॥
वैद्या न शक्नुवन्ति स्म तं व्याधिं संचिकित्सितुम् ।
पीडितस्तेन भूनाथो दुर्जनेन च पापिना ॥ ५ ॥
ततः सिद्धार्थसन्नाम्ना शुद्धश्रावकमंत्रिणा ।
पादौषधमुनेः पाद-प्रक्षालनजलं शुभम् ॥ ६ ॥
दत्तं तस्मै नरेन्द्राय सर्वव्याधिविनाशकम् ।
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-चंचरीकेण निर्मलम् ॥ ७ ॥
श्रद्धादिगुणसंयुक्तो विनयंधरभूपतिः ।
पीत्वा तज्जलमत्युच्चैः संजातो रोगवर्जितः ॥ ८ ॥
तज्जलास्वादनादेव गतो व्याधिः प्रवेगतः ।
भास्करस्योदये शीघ्रं प्रयात्येव यथा तमः ॥ ९ ॥
प्रभावः श्रीमुनीन्द्राणां तपसः केन वर्ण्यते ।
यत्पादक्षालनं तोयं सर्वव्याधिक्षयप्रदम् ॥ १० ॥

यथा सिद्धार्थमंत्री च सत्तोयं भूभुजे ददौ ।
तथा भव्यैः प्रदातव्यं धर्मपानीयमङ्गिनाम् ॥ ११ ॥
स श्रीपादौषधः स्वामी मुनीन्द्रो गुणसागरः ।
अस्तु मे शर्मणे नित्यं जैनतत्वविदांवरः ॥ १२ ॥
श्रद्धा श्रीजिनधर्मकर्मणि सतां दुःखौघविध्वंसिनी
देवेन्द्रादिनरेन्द्रचक्रिपदवीशर्मप्रदास्तोकतः ।
वाहुल्येन करोति या शुभतरा सत्केवलद्योतनं
व्यक्तानन्तचतुष्टयं शिवकरं सा शर्मणे वास्तु वै ॥ १३ ॥
इति कथाकोशे श्रद्धाख्यानं समाप्तम् ।

८४–स्वात्मनिन्दाफलाख्यानम् ।

सर्वदेवेन्द्रचन्द्राद्यैः पूजितं श्रीजिनेश्वरम् ।
संप्रणम्य प्रवक्ष्येहं स्वात्मनिन्दाफलोत्करम् ॥ १ ॥
काशीदेशे सुविख्याते पूते वाणारसी पुरे ।
राजा विशाखदत्तोभू-त्तद्राज्ञी कनकप्रभा ॥ २ ॥
चित्रकारो विचित्राख्यो नानाचित्रविधायकः ।
विचित्रादिपताकाख्या तस्य भार्या वभूव च ॥ ३ ॥
तयोर्बुद्धिमती पुत्री संजाता सुविचक्षणा ।
एकदा तस्य भूपस्य मन्दिरे, वातिसुन्दरे ॥ ४ ॥
विचित्रचित्रकारस्य चित्रं चित्रयतः पितुः ।
बुद्धिमत्या समादाय भोजनं गतया तया ॥ ५ ॥

लीलया लिखितं तत्र भूपतेर्मणिकुट्टिमे ।
स्वच्छं मयूरपिच्छं त-द्गृह्णन् राजाल्पधीर्मतः ॥ ६ ॥
तथान्यदिवसे राज्ञो दर्शयंश्चित्रमद्भुतम् ।
भणितः स्वपिता चेति तया पुत्र्या सुधूर्त्तया ॥ ७ ॥
शीघ्रमागच्छ भो तात मा कुरु त्वं विलम्बलनम् ।
यौवनं साम्प्रतं याति भोजनस्य विचक्षण ॥ ८ ॥
तद्वचस्तु समाकर्ण्य भूपतिश्चित्रिताशयः ।
मुखं पश्यन्प्रमूर्खोसौ भणितश्च तया पुनः ॥ ९ ॥
तथान्यदा तया चापि कुड्यप्रच्छादने शुभे ।
अपनीते द्वितीये च कुड्ये चित्रावलोकने ॥ १० ॥
स राजा भणितो मूर्ख-स्ततः सोपि महीपतिः ।
पृष्ट्वा तत्कारणं सर्वं तुष्टस्तां परिणीय च ॥ ११ ॥
सर्वस्वान्तःपुरे चक्रे सुप्रधानां सुवल्लभाम् ।
गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं पुण्यतो भव्यदेहिनाम् ॥ १२ ॥
तस्याः सेवागतं सर्वं दुष्टमन्तःपुरं तदा ।
मस्तके टोल्लकाद्दत्वा गच्छति स्म दिनं प्रति ॥ १३ ॥
ततो बुद्धिमती सा च संजाता दुर्बला सती ।
जिनालयं प्रविश्योच्चैः पापस्य विलयप्रदम् ॥ १४ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमाग्रे च कार्यसिद्धिविधायिनि ।
आत्मनिन्दां करोति स्म भक्तिभारेण मण्डिता ॥ १५ ॥
श्रीजिनेन्द्रजगद्वन्द्य स्वर्गमोक्षप्रदायक ।
अहं दीनकुलोत्पन्ना कस्य दोषोत्र दीयते ॥ १६ ॥

त्वमेव शरणं तात दुःखदावाग्निवारिद ।
किमन्यैर्बहुभिर्देवैः कामक्रोधादिदूषितैः ॥ १७ ॥
एकान्ते निन्दनं चेति कुर्वती स्वगृहे स्थिता ।
पृष्टापि भूभुजा वक्ति नैव दौर्बल्यकारणम् ॥ १८ ॥
अथैकस्मिन्दिने श्रीम-ज्जिनेन्द्रभवनं शुभम् ।
पूर्वं प्राप्तेन तद्राज्ञा श्रुत्वा तद्दुःखकारणम् ॥ १९ ॥
अन्तःपुरं सुनिर्भर्त्स्य कृत्वा सेवापरं तराम् ।
सती बुद्धिमती सा च सुप्रधाना कृता मुदा ॥ २० ॥
एवमन्यैर्बुधैश्चापि श्रीजिनाग्रे सुभक्तितः ।
क्षुल्लकाद्यैः प्रकर्त्तव्या स्वात्मनिन्दा शुभश्रिये ॥ २१ ॥
शुभकुलोत्तमशर्मविधायिनी
जिनपतेः पदभक्तिरसौ सदा ।
भवतु दुर्गतिदुःखविनाशिनी
शिवपदं मम देव यतो मुदा ॥ २२ ॥

इति कथाकोशे आत्मनिंदाप्राप्तफलदृष्टान्ताख्यानं समाप्तम् ।

८५-आत्मनिन्दाख्यानम् ।

सर्वदोषप्रहर्त्तारं कर्त्तारं शर्मणः सताम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं स्त्रीकथां गर्हणाश्रिताम् ॥ १ ॥
अयोध्यानगरे राजा दुर्योधन इतीरितः ।
श्रीदेवीकामिनीनाथः संजातो न्यायमण्डितः ॥ २ ॥

बभूव ब्राह्मणस्तत्र सर्वोपाध्यायनामभाक् ।
ब्राह्मणी तस्य वीराख्या यौवनोन्मत्तमानसा ॥ ३ ॥

सार्द्धं छात्रेण संसक्ता पापिनी साग्निभूतिना ।
हत्वा पतिं निजं वृद्धं सर्वोपाध्यायकं तदा ॥ ४ ॥

छत्रिकायां समारोप्य कृष्णरात्रौ श्मशानकम् ।
निक्षेप्तुं च गता तत्र कोपाद्व्यन्तरदेवता ॥ ५ ॥

छत्रिकां कीलयामास मस्तके संजगाद च ।
प्रभाते पुरनारीणा-मग्रतस्तु गृहे गृहे ॥ ६ ॥

दुराचारंस्त्वया स्वस्य कथ्यते गर्हणोत्करैः ।
तदा ते पतति व्यक्तं मस्तकाच्छत्रिका द्रुतम् ॥ ७ ॥

तया तथा कृते शीघ्रं छत्रिका पतिता क्षितौ ।
सा लोके च विशुद्धाभू-द्ब्राह्मणी निजगर्हणात् ॥ ८ ॥

तथान्यैस्तु बुधैः कार्यं गर्हणं स्वस्य शुद्धये ।
गुरूणामग्रतो भक्त्या दोषके पापभीरुभिः ॥ ९ ॥

शल्येनैव यथा प्रपीडिततनुर्निष्काश्य शल्यं भटः
संप्राप्नोति सुखं तथा च सुधियः श्रीजैनसूत्रान्वितान् ।
श्रित्वा श्रीमुनिनायकाञ्छुभतरान्भूत्वा च शल्योज्झिताः
स्वात्मोत्पन्नकुदोषगर्हणभरैर्नित्यं भजन्तु श्रियम् ॥ १० ॥

इति कथाकोश आत्मगर्हणाख्यानं समाप्तम् ।

८६—सोमशर्ममुनेराख्यानम् ।

सम्प्रणम्य जिनाधीशं सारधर्मोपदेशकम् ।
सोमशर्ममुनेर्वच्मि शर्मदं सुकथानकम् ॥ १ ॥

आलोचनैर्गर्हणनिन्दनैश्च
व्रतोपवासैः स्तुतिसत्कथाभिः ।
एभिस्तु योगैः क्षपणं करोमि
विषप्रतीघातमिवाप्रमत्तः ॥ २ ॥

अथात्र भरते क्षेत्रे पुण्ड्राख्यविषये शुभे ।
देवीकोट्टपुरे जातो ब्राह्मणः सोमशर्मवाक् ॥ ३ ॥
वेदवेदाङ्गपारज्ञः सोमिल्याब्राह्मणीपतिः ।
संजातौ चाग्निभूत्याख्य-वायुभूती तयोः सुतौ ॥ ४ ॥
तत्रैव नगरे विष्णु-दत्तनामा द्विजोपरः ।
विष्णुश्रीकामिनीनाथो भूरिवित्तसमन्वितः ॥ ५ ॥
ऋणं श्रीविष्णुदत्तस्य गृहीत्वा सोमशर्मकः ।
एकदा धर्ममाकर्ण्य मुनेः पार्श्वे जिनेशिनाम् ॥ ६ ॥
दीक्षामादाय सद्भक्त्या मुनिर्भूत्वा विचक्षणः ।
कृत्वा विहारमत्युच्चैः प्राप्तः कोट्टपुरं पुनः ॥ ७ ॥
दृष्ट्वासौ विष्णुदत्तेन धृत्वा द्रव्यं प्रयाचितः ।
सोमशर्ममुनेः पुत्रौ निर्धनौ तौ तु साम्प्रतम् ॥ ८ ॥
द्रव्यं मे देहि भो धीर नो चेद्धर्मं सुशर्मदम् ।
तच्छ्रुत्वा सोमशर्माख्यं तं मुनिं सुतपोनिधिम् ॥ ९ ॥

वीरभद्रमहाचार्य-वाक्यतस्तु श्मशानके ।
धर्मं विक्रीणयन्तं च प्रत्यक्षीभूय देवता ॥ १० ॥
संजगाद मुने स्वामिन्धर्मस्ते कीदृशो भुवि ।
ततः प्राह मुनिः सोपि सोमशर्मा गुणोज्ज्वलः ॥ ११ ॥
मूलोत्तरैर्गुणैर्युक्तो दशलाक्षणिको महान् ।
धर्मो देवि मम श्रीम-ज्जिनेन्द्रैर्भाषितः शुभः ॥ १२ ॥
तत्समाकर्ण्य सा देवी सन्तुष्टा भक्तिभारतः ।
नत्वा मुनिं जगद्वन्द्यं संजगौ व्यक्तभाषया ॥ १३ ॥

धम्मो जयवसियरणं धम्मो चिंतामणी अणग्घेओ ।
धम्मो सुहवसुधारा धम्मो कामदुहा धेणू ॥
किं जंपिएण बहुणा जं चं दीसइ सम्मातियलोए ।
इंदियमणोहिरामं तं तं धम्मफलं सव्वं ॥

सर्वलोकोत्तमस्यास्य नास्ति मूल्यं सुधर्मणः ।
किं तु सर्वोपसर्गस्य विनाशार्थं महामुनेः ॥ १४ ॥
एकवारं त्रिमुष्ट्या च समुत्पाटितकेशजम् ।
मूल्यलेशं ददामीमं श्रीमतां शर्मकारिणाम् ॥ १५ ॥
इत्युक्त्वासौ लसत्कान्ति-प्रद्योतितककुब्मुखम् ।
रत्नराशिं विधायोच्चै-र्देवता स्वगृहं गता ॥ १६ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म-प्रभावः केन वर्ण्यते ।
यो धर्मः शर्मदो नित्यं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितः ॥ १७ ॥
प्रभाते तत्तपोलक्ष्मी-सत्प्रभावप्रवीक्षणात् ।
विष्णुदत्तो द्विजश्चापि नत्वा तं मुनिनायकम् ॥ १८ ॥

संजगाद मुने धीर धन्यस्त्वं जैनतत्ववित् ।
दुर्धरोरुतपोयुक्तो विरक्तो मोहकर्मणि ॥ १९ ॥
अहं दुष्कर्मयोगेन वंचितो धनतस्करैः ।
अतः परं भवत्पाद-पद्मयुग्माश्रयं भजे ॥ २० ॥
इत्यादिकैः शुभैर्वाक्यैः स्तुत्वा तं भक्तिनिर्भरः ।
पादमूले मुनेस्तस्य दीक्षामादाय निर्मदः ॥ २१ ॥
मुनिर्भूत्वा गुरोर्भक्त्या स्वर्मोक्षसुखभागभूत् ।
अहो धर्माश्रितो जन्तुः को वा न स्यान्महासुखी ॥ २२ ॥
सर्वभव्यजनाश्चान्ये धर्मे श्रीमज्जिनेशिनाम् ।
तं प्रभावं समालोक्य संजाता भक्तिनिर्भराः ॥ २३ ॥
तद्धनैः श्रावकैश्चापि कोटितीर्थाभिधानकः ।
चैत्यालयो जिनेन्द्राणां कारितः शर्मदायकः ॥ २४ ॥

श्रीमत्सारजिनेन्द्रदेवगदितं त्रैलोक्यसंपूजितं
नाना शर्मविधायकं भवहरं स्वर्मोक्षदं सत्तपः ।
आराध्यैव विशुद्धभक्तिभरतो ये साधवो धीधनाः
प्राप्ता मुक्तिसुखं विनाशरहितं कुर्वन्तु ते मे श्रियम् ॥२५॥

इति कथाकोशे श्रीसोमशर्ममुनेराख्यानं समाप्तम् ।

८७—कालाध्ययनाख्यानम् ।

यस्य ज्ञानं जगत्सार-संसाराम्भोधिपारदम् ।
तं प्रणम्य जिनं वक्ष्ये कालाध्ययनवृत्तकम् ॥ १ ॥
वीरभद्रो जगद्भद्रो मुनीन्द्रो जैनतत्ववित् ।
एकदासौ महाटव्या-महोरात्रं पठंश्छुतम् ॥ २ ॥
श्रुतदेव्या तया दृष्ट-स्ततः सम्बोधनाय च ।
धृत्वा गोकुलिकारूपं समागत्य निशि स्फुटम् ॥ ३ ॥
सुगन्धिमधुरं तक्रं गृहीत्वेति स्व लीलया ।
सा जल्पन्ती मुनेः पार्श्वे चक्रे पर्यटनं तदा ॥ ४ ॥
वीरभद्रो मुनिः प्राह शास्त्राभ्यासैकमानसः ।
मुग्धे किं गृहिलासीति तक्रं गृह्णाति कोधुना ॥ ५ ॥
निशायां निर्जने देशे तच्छ्रुत्वा देवतावदत् ।
त्वमेव गृहीलोऽकाले पठस्यत्रागमं यतः ॥ ६ ॥
ततोसौ मुनिरालोक्य नक्षत्राणि नभस्तले ।
प्रबुद्धो गुरुसान्निध्यं गत्वालोच्य निजक्रियाम् ॥ ७ ॥
शास्त्रं संपठति स्वोच्चैः काले काले तथान्यदा ।
तं पठन्तं जिनैः प्रोक्तं स्वागमं मुनिसत्तमम् ॥ ८ ॥
दृष्ट्वासौ देवता तुष्टा विशुद्धाष्टविधार्चनैः ।
पूजयामास सद्भक्त्या सद्गुणैः को न पूजितः ॥ ९ ॥
ततोसौ वीरभद्रस्तु मुनीन्द्रो ज्ञानमण्डितः ।
दर्शनज्ञानचारित्रैः परलोकं सुधीर्गतः ॥ १० ॥

तस्माच्छ्रीजिनभाषितं शुभतरं ज्ञानं जगन्मोहनं
नित्यं सारविभूतिशर्मजनकं स्वर्गापवर्गप्रदम् ।
युक्ता भक्तिभरेण निर्मलधियो विश्वप्रदीपं हितं
श्रित्वा शोककलंकपंकहरणं कुर्वन्तु सन्तः सुखम् ॥११॥

इति कथाकोशे कालाध्ययनाख्यानं समाप्तम् ।

८८–अकालाध्ययनाख्यानम् ।

नत्वा जिनं जगद्वन्द्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
अकालाख्यानकं वक्ष्ये सतां सम्बोधहेतवे ॥ १ ॥
शिवनन्दी मुनिः कश्चि-देकदा गुरुवाक्यतः ।
श्रीमच्छ्रवणनक्षत्रो-दये स्वाध्यायकालकः ॥ २ ॥
भवत्येवं परिज्ञात्वा तथापि प्रौढकर्मतः ।
अकाले संपठन्मिथ्या-समाधिमरणेन सः ॥ ३ ॥
गंगानद्यां महामत्स्यः संजातः पापकर्मणा ।
जिनाज्ञालोपनेनैवं प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत् ॥ ४ ॥
ततश्चैकदिने सोपि मत्स्यस्तु पुलिने शुभे ।
साधुपाठं समाकर्ण्य भूत्वा जातिस्मरोभवत् ॥ ५ ॥
अहो पठितमूर्खोहं जैनवाक्यपराङ्मुखः ।
संजातः पापतो मत्स्यो दुष्टकर्मविधायकः ॥ ६ ॥
इत्यात्मनिन्दनं कृत्वा गृहीत्वा त्रिजगद्धितम् ।
सम्यक्त्वं भक्तिभारेण संयुक्तं सदणुव्रतैः ॥ ७ ॥

समाराध्य जिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयं मुदा ।
स्वर्गे महर्धिको जातो देवः सत्पुण्यसम्बलः ॥ ८ ॥
धर्मस्याराधकः स्वर्गी भवेत्पापी विराधकः ।
पूर्वोसौ सत्सुखोपेतः परो दुःखाश्रितो जनः ॥ ९ ॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं धर्मः श्रीजिनभाषितः ।
आराध्यो भक्तितो नित्यं शक्त्या शर्मशतप्रदः ॥ १० ॥

विमलतरविभूतिः प्राणिनां शुद्धकीर्ति-
भवति विशदमूर्त्तिर्ज्ञानतश्चारुशान्तिः ।
असुरसुरनरेन्द्रैः खेचरेन्द्रैः प्रपूज्यं
जिनपतिवरबोधं संभजन्तु प्रभव्याः ॥ ११ ॥

इति कथाकोशे अकालाध्ययनाख्यानं समाप्तम् ।

८९–विनयाख्यानम् ।

सर्व देवेन्द्रनागेन्द्र-नरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं विनयाख्यानकं शुभम् ॥ १ ॥
वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने शुभे ।
राजाभूद्धनसेनाख्यो विष्णुभक्तो विमुग्धधीः ॥ २ ॥
धनश्रीः श्रीरिवात्यन्त-सुन्दरा तस्य कामिनी ।
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोज-सद्भृङ्गी श्राविकोत्तमा ॥ ३ ॥
सुप्रतिष्ठाभिधस्तत्र पुरे भागवतस्तथा ।
तद्राजाग्रासने भुंक्ते भोजनं कुतपोव्रतः ॥ ४ ॥

स जलस्तंभिनीविद्या-सामर्थ्येन प्रपंचतः ।
यमुनाख्यामहानद्या-मध्ये जापं करोति च ॥ ५ ॥
तत्प्रभावं समालोक्य सर्वे मूढजनास्तदा ।
संप्राप्ता विस्मयं युक्तं मूढा मूढक्रियारतः ॥ ६ ॥
अथ श्रीविजयार्धस्य दक्षिणश्रेणिसंस्थिते ।
रथनूपुरचक्रादि-वालाख्ये पत्तनेभवत् ॥ ७ ॥
राजा विद्युत्प्रभः ख्यातः श्रावकव्रतमण्डितः ।
विद्युद्वेगा महाराज्ञी विष्णुभक्ता बभूव च ॥ ८ ॥
एकदा तौ विनोदेन कौशाम्बीमागतौ पुरीम् ।
माघमासे जलस्नानं नद्यां जापं जलोपरि ॥ ९ ॥
कुर्वन्तं सुप्रतिष्ठन्तं मिथ्यात्वविषदूषितम् ।
विद्युद्वेगा विलोक्योच्चै-स्तत्प्रशंसां चकार सा ॥ १० ॥
ततो विद्युत्प्रभः प्राह सुधीर्विद्याधराधिपः ।
आगच्छतो प्रिये चास्य मूढत्वं दर्शयामि ते ॥ ११ ॥
तदा चांडालरूपेण ताभ्यां द्वाभ्यां प्रपञ्चतः ॥
यमुनोपरि गत्वाशु दुष्टकर्मोत्करस्य च ॥ १२ ॥
प्रक्षालनेन तत्सर्वं जलं संदूषितं महत् ।
ततो रुष्टेन तेनापि प्रोक्त्वा कष्टमिति स्फुटम् ॥ १३ ॥
नद्याश्चोपरि गत्वाशु तथा स्नानादिकं पुनः ।
प्रारब्धं मूढभावेन किं न कुर्वन्ति देहिनः ॥ १४ ॥
पुनस्ताभ्यां परीक्षार्थं तज्जलं चातिदूषितम् ।
ततः सोपि प्रकोपेन दूरं गत्वा तथा स्थितः ॥ १५ ॥

एवं ताभ्यां बहून्वारां-स्तज्जले दूषिते तराम् ।
स्नानजापादिकं त्यक्त्वा मोहं प्राप्तः स मूढधीः ॥ १६ ॥
ततस्ताभ्यां वनक्रीडा-प्रासादादोलनादिकम् ।
विद्यया दर्शितं तस्य नभोयानादिकं तथा ॥ १७ ॥
तद्दृष्ट्वा सुप्रतिष्ठोसौ विष्णुभक्तः सुविस्मयात् ।
अहो विद्याधराणां च देवानामपि नेदृशी ॥ १८ ॥
विद्या संविद्यते यादृक्चाण्डालानां मनोहरा ।
एषा नेद्वर्त्तते मे न विद्या सर्वप्रवञ्चनम् ॥ १९ ॥
करोमीति हृदि ध्यात्वा समागत्य तदन्तिकम् ।
संजगादेति भो ब्रूत यूयं कस्मात्समागताः ॥ २० ॥
महाश्चर्यं प्रकुर्वन्ति भवन्तः कथमीदृशम् ।
आनन्दो वर्त्तते मेत्र भवत्क्रीडासमीक्षणात् ॥ २१ ॥
तच्छ्रुत्वा सोपि मातंगो जगौ भो विष्णुभाक्तिक ।
नैवं जानासि किंनात्र मातंगोहमिति स्फुटम् ॥ २२ ॥
नमस्कर्त्तुं समायातौ गुरोः पादद्वयं मुदा ।
तुष्टेन गुरुणा मह्यं दत्ता विद्या सुखप्रदा ॥ २३ ॥
तस्याः प्रभावतः सर्वं मयेदं क्रियते ध्रुवम् ।
तत्समाकर्ण्य तेनोक्तं तदा भागवतेन च ॥ २४ ॥
अहो कृपां विधायोच्चै-र्मह्यमेषा प्रदीयते ।
विद्या यया करोम्यत्र सद्विनोदमहं पुनः ॥ २५ ॥
स चाण्डालस्तदा प्राह त्वमुत्तमकुलोद्भवः ।
वेदवेदाङ्गपारज्ञो न विद्या विनयैर्विना ॥ २६ ॥

विद्युद्वेगस्त्वकं चापि यत्र मां पश्यसि स्फुटम् ।
तत्राष्टाङ्गनमस्कारं कृत्वा सद्भक्तिनिर्भरः ॥ २७ ॥
भवत्पादप्रसादेन जीवामीति प्रजल्पसि ।
तदा विद्याप्रसिद्धिस्ते न चेत्सिद्धापि याति सा ॥ २८ ॥
सर्वं करोमि तेनोक्तं यद्भवद्भिः प्रजल्पितम् ।
ततस्तस्मै निजां विद्यां दत्वासौ स्वगृहं गतः ॥ २९ ॥
सोपि विद्याप्रभावेन कृत्वा चारुविकुर्वणाम् ।
सिद्धा विद्येति संज्ञात्वा सुप्रतिष्ठाख्यो विष्णुभाक् ॥ ३० ॥
तद्वेलातिक्रमे प्राप्तो भोजनार्थं नृपान्तिकम् ।
राज्ञा पृष्टः कथं वेला-तिक्रमो भगवन्नभूत् ॥ ३१ ॥
प्रोक्तं तेन मृषा वाक्यं लम्पटेन कुवादिना ।
भो नरेन्द्र चिरं चारु-तपोमाहात्म्यतोद्य मे ॥ ३२ ॥
सर्वे हरिहरब्रह्मा-सुराद्या भक्तिनिर्भराः ।
मां समभ्यर्च्य योगीन्द्रं स्वस्थानं संययुर्मुदा ॥ ३३ ॥
तेन राजन्बृहद्वेला संजातेति तथापरम् ।
अभूत्प्रभो नभोभागे गमनागमनं च मे ॥ ३४ ॥
ततः श्रीधनसेनोसौ भूपतिः प्राह भो द्विज ।
त्वं प्रभाते महाश्चर्यं सर्वं मे दर्शय ध्रुवम् ॥ ३५ ॥
दर्शयिष्यामि चेत्युक्त्वा स कृत्वा भोजनं गतः ।
प्रभाते मठिकायां च राजादीनां मनोहरम् ॥ ३६ ॥
दर्शयत्येव ब्रह्मादि-रूपं यावत्कृतोद्यमः ॥
तावच्चण्डालरूपेण तत्रायातौ च तौ पुनः ॥ ३७ ॥

तदा दृष्ट्वा वदत्सोपि मातंगौ दुष्टचेष्टितौ ।
कस्मादिमौ समायातौ नष्टा विद्येति जल्पनात् ॥ ३८ ॥
किं कारणं नृपः प्राह भगवन्ब्रूहि मे स्फुटम् ।
प्रोक्तं तेन यथार्थं च श्रुत्वा सोपि महीपतिः ॥ ३९ ॥
तौ प्रणम्य लसद्भक्त्या चण्डालौ पूर्वयुक्तितः ।
ततो विद्यां समादाय तां परीक्ष्य प्रहर्षतः ॥ ४० ॥
सम्प्राप्तः स्वगृहं शीघ्रं विद्यालाभो हि शर्मदः ।
येन जन्तुर्भवत्येव नित्यं सत्सौख्यभाजनम् ॥ ४१ ॥
अन्यदा स्वसभामध्ये विष्टरस्थो महीपतिः ।
तं चण्डालं समायातं दृष्ट्वा भक्तिनिर्भरः ॥ ४२ ॥
सम्प्रणम्य जगादोच्चैर्भो स्वामिंस्त्वत्प्रसादतः ।
जीवामीति ततः सोपि विद्युत्प्रभखगाधिपः ॥ ४३ ॥
विलोक्य विनयं तस्य सुधीः संतुष्टमानसः ।
स्वरूपं प्रकटीकृत्य तस्मै भूपाय शर्मदाम् ॥ ४४ ॥
दत्वा विद्यां तथान्यां च सम्प्राप्तो निजमान्दिरम् ।
गुरूणां विनयेनोच्चैः किं न जायेत सुन्दरम् ॥ ४५ ॥
तदाश्चर्यं समालोक्य स राजा धनसेनवाक् ।
विद्युद्वेगा तथान्ये च संजाताः श्रावकोत्तमाः ॥ ४६ ॥
अन्यैश्चापि महाभव्यैः स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ।
गुरूणां विनयः कार्यो विशुद्धपरिणामतः ॥ ४७ ॥
सर्वकार्यप्रसिद्धिं च या करोति क्षणार्द्धतः ।
अस्तु सा सद्गुरोर्भक्तिः क्रियासन्दोहभूषणम् ॥ ४८ ॥

वन्द्यते स गुरुर्नित्यं यः संसारमहार्णवम् ।
स्वयं तरति पूतात्मा भव्यानां तारणक्षमः ॥ ४९ ॥
यस्य श्रीजिनपादपद्मयुगले देवेन्द्रचन्द्रार्चिते
शास्त्रे सद्विनयस्तथा मुनिजने जैने सदा तिष्ठति ।
तस्य श्रीजयकीर्तिकान्तिविलसद्बोधादयः सद्गुणाः
प्रीत्यां पार्श्वनिवासिनोतिनितरां तिष्ठन्ति शर्मप्रदाः ॥५०॥

इति कथाकोशे विनयाख्यानं समाप्तम् ।

९०–अवग्रहाख्यानम् ।

पादपद्मद्वयं नत्वा जिनेन्द्रस्य शुभप्रदम् ।
उपधानकथा वक्ष्ये यतः सौख्यं भजाम्यहम् ॥ १ ॥
अहिच्छत्रपुरे राजा वसुपालो विचक्षणः ।
श्रीमज्जैनमते भक्तो वसुमत्याभिधा प्रिया ॥ २ ॥
तेन श्रीवसुपालेन कारिते भुवनोत्तमे ।
लसत्सहस्रकूटे श्री-जिनेन्द्रभवने शुभे ॥ ३ ॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य प्रतिमा पापनाशिनी ।
तत्रास्ते चैकदा तस्यां भूपतेर्वचनेन च ॥ ४ ॥
दिने लेपं ददात्युच्चै-र्लेपकाराः कलान्विताः ।
मांसादिसेविनस्ते तु ततो रात्रौ स लेपकः ॥ ५ ॥
पतत्येव क्षितौ शीघ्रं कदर्थ्यन्ते च तेखिलाः ।
एवं च कतिचिद्वारैः खेदक्षुण्णे नृपादिके ॥ ६ ॥

तदैकेन परिज्ञात्वा लेपकारेण धीमता ।
देवताधिष्ठितां दिव्यां जिनेन्द्रप्रतिमां हिताम् ॥ ७ ॥
कार्यसिद्धिर्भवेद्याव-त्तावत्कालं सुनिश्चितम् ।
अवग्रहं समादाय मासादेर्मुनिपार्श्वतः ॥ ८ ॥
तस्यां लेपः कृतस्तेन स लेपः संस्थितस्तदा ।
कार्यसिद्धिर्भवेत्येवं प्राणिनां व्रतशालिनाम् ॥ ९ ॥
तदासौ वसुपालेन भूभुजा परया मुदा ।
नानावस्त्रसुवर्णाद्यैः पूजितो लेपकारकः ॥ १० ॥
तथा कार्यप्रसिद्धयर्थं भक्त्या ज्ञानादिकर्मणि ।
अवग्रहः प्रकर्त्तव्यो मुन्यादिबुधसत्तमैः ॥ ११ ॥
जिनपतिकथितोसौ बोधसिन्धुः प्रयुक्त्या
विशदतरमुनीन्द्रैः सेवितः शर्महेतुः ।
सुरनरखचरेन्द्रैः पूजितो भक्तिसांद्रैः
स भवतु मम नित्यं केवलज्ञानकर्त्ता ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे अवग्रहाख्यानं समाप्तम् ।

९१—अभिमानस्याख्यानम् ।

विशुद्धकेवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम् ।
बहुमानकथां वच्मि सारशर्मप्रदायिनीम् ॥ १ ॥
काशीदेशे सुविख्याते जातो वाराणसीपुरे ।
राजा वृषध्वजो धीमान्स्वप्रजाप्रतिपालकः ॥ २ ॥

वसुमत्यभिधा तस्य महादेवी बभूव च ।
रूपलावण्यसौभाग्य-मण्डिता पूर्वपुण्यतः ॥ ३ ॥
तथा गंगानदीतीरे पलासग्रामवासकः ।
नाम्नाशोकोभवद्धीमान्महागोकुलिकस्तदा ॥ ४ ॥
ददात्यसौ नरेन्द्राय तस्मै संवत्सरं प्रति ।
सद्घृतैः पूर्णकुंभानां सहस्रं करमुत्तमम् ॥ ५ ॥
तस्य भार्याभवन्नन्दा सती वन्ध्या स्वकर्मतः ।
साशोकाय सुधीर्भार्या रोचते नैव मानसे ॥ ६ ॥
रूपशीलादियुक्तापि कामिनी पुत्रवर्जिता ।
पुंसश्चित्ते समायाति नैव वल्लीव निष्फला ॥ ७ ॥
अशोकस्तु तदा सोपि सुधीर्गोकुलिको महान् ।
पुत्रार्थं कामिनीमन्यां सुनन्दां परिणीतवान् ॥ ८ ॥
तयोश्च कलहे जाते स्त्रियोस्तेन च धीमता ।
अर्द्धमर्द्धं विधायोच्चै-र्दत्तं सर्वं गृहादिकम् ॥ ९ ॥
नन्दा नित्यं विशुद्ध्यादि-भाजनादिप्रयत्नकम् ।
दानमानादिसत्पूजां गोपालानां विधाय च ॥ १० ॥
घृतकुंभसहस्रार्द्धं कृत्वा संवत्सरं प्रति ।
ददाति स्म स्वनाथाय राजदेयं गुणोज्वला ॥ ११ ॥
सुनन्दा च स्वरूपादि-महागर्वेण दूपिता ।
गोपालानां कुधीः पूजां नैव यत्नं करोति च ॥ १२ ॥
तस्या गोपालकाः सर्वे स्वयं दुग्धं पिबन्ति च ।
तस्मात्तस्य घृतं जातं प्रमादादतितुच्छकम् ॥ १३ ॥

नन्दयान्यघृतं चापि दत्तं गोकुलिकेन तु ।
निर्घाटिता सुनन्दा सा सौभाग्येन प्रगर्विता ॥ १४ ॥
नन्दा नन्दप्रदा सा च स्वपुण्येन तदा सती ।
स्वगेहे सर्ववित्तादौ सुप्रधानाभवच्छुभा ॥ १५ ॥
एवं मुन्यादिभिर्जैन-धर्मकर्मणि शर्मदम् ।
पूजादानादिकं कार्यं नित्यं सद्बोधसिद्धये ॥ १६ ॥
श्रीमज्जैनपदाम्बुजेत्र नितरां स्वर्मोक्षसौख्यप्रदे
शास्त्रे श्रीजिनभाषिते शुभतरे धर्मे गुरौ सज्जने ।
ये यच्छन्ति विशुद्धभक्तिभरतः सद्भूरिमानादिकं
तेषां सारयशः सुबोधविलसच्छ्रीशर्म नित्यं भवेत् ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे बहुमानाख्यानं समाप्तम् ।

९२–अनिह्नवाख्यानम् ।

यस्य सत्केवलज्ञाने भाति विश्वमणूपमम् ।
तं जिनेन्द्रं प्रणम्योच्चै-रनिह्नवकथां ब्रुवे ॥ १ ॥
अवन्तिविषये श्रीमा-नुज्जयिन्यां विचक्षणः ।
राजाभूद्धृतिषेणाख्य-स्तद्राज्ञी मलयावती ॥ २ ॥
चण्डप्रद्योतनः पुत्रस्तयोर्जातो गुणोज्वलः ।
रूपलावण्यसौभाग्य-मण्डितः पूर्वपुण्यतः ॥ ३ ॥
दक्षिणादिपथे वेना-तटाख्ये नगरे तथा ।
ब्राह्मणः सोमशर्माभूत्सोमाख्या ब्राह्मणी तयोः ॥ ४ ॥

सुपुत्रः कालसंदीवः सर्वविद्याविराजितः ।
उज्जयिन्यां समागत्य स श्रीसोमसुतो महान् ॥ ५ ॥
चण्डप्रद्योतनं चारु-लिपीश्चाष्टादशोत्तमाः ।
पाठयामास पूतात्मा कालसंदीववाक् सुधीः ॥ ६ ॥
एकां म्लेच्छलिपिं तेन तं सुपाठयता तथा ।
कूटं पठन्प्रभोः पुत्रो हतः पादेन सोवदत् ॥ ७ ॥
यदाहं संभविष्यामि भूपतिस्तु तदा तव ।
पादं संखण्डयिष्यामि युक्तं स्वल्पमतिः शिशुः ॥ ८ ॥
ततस्तं पाठयित्वासौ कालसंदीवको द्विजः ।
गत्वा दक्षिणदेशं च मुनिर्जातो गुणोज्वलः ॥ ९ ॥
सोपि श्रीधृतिषेणाख्यो राजा श्रीजिनभक्तिभाक् ।
चण्डप्रद्योतनायोच्चै-र्दत्वा राज्यं तपोगृहीत् ॥ १० ॥
एकदा तस्य भूपस्य चण्डप्रद्योतनस्य हि ।
लेखः संप्रेषितो म्लेच्छ-राजेनोच्चैः स्वकार्यतः ॥ ११ ॥
केनापि वाचितो नैव स लेखस्तु ततो नृपः ।
स्वयं वाचयति स्मोच्चै-स्तं लेखं तुष्टमानसः ॥ १२ ॥
स्मृत्वासौ सद्गुरुं चित्ते तं समानीय भक्तितः ।
पूजयामास शुद्धात्मा तत्पदाम्बुजमद्भुतम् ॥ १३ ॥
भवन्ति सद्गुरोर्वाचो भव्यानां शर्मदायकाः ।
यथा चौषधयोर्जन्तो-र्भवेयुश्चारुसौख्यदाः ॥ १४ ॥
सोपि श्रीकालसंदीवो मुनिः श्रीजिनसूत्रवित् ।
कस्मैचिच्छ्वेतसदीव-नाम्ने दीक्षां जिनोदिताम् ॥ १५ ॥

दत्वा कुर्वन्विहारं च भव्यान्सम्बोधयन्सुधीः ।
श्रीमद्वीरजिनेन्द्रस्य विपुलाख्यगिरौ स्थिताम् ॥ १६ ॥
समवादिसृतिं प्राप्तो महाशर्मविधायिनीम् ।
कृत्वा तद्वन्दनां भक्त्या संस्थितो विमलाशयः ॥ १७ ॥
श्वेतसंदीवकश्चापि नूतनो मुनिसत्तमः ।
समवादिसृतेर्बाह्ये योगे स्वातापने स्थितः ॥ १८ ॥
निर्गच्छता तदा श्रीमच्छ्रेणिकेन महीभुजा ।
दृष्टः कस्ते गुरुश्चेति संपृष्टोसौ सुभक्तितः ॥ १९ ॥
स च प्राह मुनिः श्रीमन्द्वर्द्धमानो गुरुर्मम ।
इत्युक्ते पाण्डुरं तस्य शरीरं कृष्णतामितम् ॥ २० ॥
ततो व्याघुटितः श्रीमाञ्छ्रेणिको गौतमं मुनिम् ।
तच्छरीरस्य कृष्णत्व-कारणं पृष्टवान्नृपः ॥ २१ ॥
तेनोक्तं ज्ञानिना भूप स्वगुरोर्निह्नवाद्ध्रुवम् ।
तत्कायः कृष्णवर्णोभू-त्तत्समाकर्ण्य धीमता ॥ २२ ॥
शीघ्रं पश्चात्समागत्य तत्समीपं महीभुजा ।
श्रेणिकेन शुभैर्वाक्यै-र्भक्त्या सम्बोधितः स च ॥ २३ ॥
ततो सौ श्वेतसंदीवो मुनिः कृत्वा सुनिन्दनम् ।
शुक्लध्यानेन संहत्वा घातिकर्मचतुष्टयम् ॥ २४ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
पूजितस्त्रिजगद्भव्यैः संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ॥ २५ ॥
ततो भव्यैर्न कर्त्तव्यो निह्नवः स्वगुरोः कदा ।
समाराध्यो गुरुर्यस्मात्स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ॥ २६ ॥

सश्रीकेवललोचनोतिचतुरो भव्यौघसम्बोधको
देवेन्द्रादिनरेन्द्रखेचरशतैर्भक्त्या सदाभ्यर्चितः ।
व्यक्तानन्तचतुष्टयो गुणनिधिः श्रीश्वेतसंदीववाक्
कुर्यान्मे भवशान्तिमक्षयसुखं शीघ्रं जिनः शर्मदम् ॥ २७ ॥

इति कथाकोशे निह्नवाख्यानं समाप्तम् ।

९३—व्यंजनहीनाख्यानम् ।

नत्वा श्रीमज्जिनेन्द्रस्य पादपद्मद्वयं मुदा ।
वक्ष्ये व्यंजनहीनस्य कथां सम्बोधहेतवे ॥ १ ॥
देशे मगधसंज्ञेभूत्पुरे राजगृहे सुधीः ।
वीरसेनो महाराजो वीरसेना प्रिया तयोः ॥ २ ॥
सिंहनामा सुतो जात-स्तस्योपाध्यायकोभवत् ।
सोमशर्मा सुधीः सर्व-शास्त्रव्याख्याविचक्षणः ॥ ३ ॥
सुरम्यविषये ख्याते पोदनादिपुरे तथा ।
राजा सिंहरथस्तस्यो-परि प्राप्तेन तेन तु ॥ ४ ॥
वीरसेनेन भूभर्त्ता पोदनाख्यपुरात्तदा ।
सिंहोध्यापयितव्योसौ सुलेखः प्रेषितो गृहम् ॥ ५ ॥
सिंहोध्यापयितव्यः स शब्दस्यैव विचारणे ।
'ध्यै'स्मृतीति प्रचिन्ताया-मस्यधातोः प्रयोगकम् ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा कारयितव्यस्तु चिन्तां राज्यादिके सुतः ।
सिंहो पाठयितव्यो न जगौ चेति कुवाचकः ॥ ७ ॥

इत्याकारे प्रलुप्ते च व्याख्याते भ्रान्तितस्तदा ।
पाठितो नैव सिंहोऽसौ हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥ ८ ॥
आगतेन ततो राज्ञा वीरसेनेन धीमता ।
ज्ञात्वा तत्कारणं कष्टं वाचको दण्डितः क्रुधा ॥ ९ ॥
तस्मादेवं न कर्त्तव्यः प्रमादः साधुभिः क्वचित् ।
येन कार्यस्य हानिः स्या-दर्थसन्दोहनाशिनी ॥ १० ॥

यथौपधं हीनगुणत्वमाश्रितं
निहन्ति नैवात्र शरीरवेदनाम् ।
तथाक्षरैर्हीनगुणाश्रितं श्रुतं
हितं न तत्तच्च शुभं सुधीः पठेत् ॥ ११ ॥

इति कथाकोशे व्यंजनहीनाख्यानं समाप्तम् ।

१४–अर्थहीनाख्यानम् ।

सर्वकल्याणकेपूच्चै-श्चर्चितांस्त्रिदशादिभिः ।
नत्वा जिनेश्वरान्वक्ष्ये अर्थहीनकथानकम् ॥ १ ॥
विनीतविषये रम्ये पुरेयोध्याभिधानके ।
राजाभूद्वसुपालाख्यो वसुमत्यभिधा प्रिया ॥ २ ॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो वसुमित्रो विचक्षणः ।
तस्योपाध्यायको जातो गर्गनामा गुणोज्वलः ॥ ३ ॥
अवन्तिविषये पुर्या-मुज्जयिन्यां तथाभवत् ।
वीरदत्तो महाग्राजा वीरदत्ता सुवल्लभा ॥ ४ ॥

अयं श्रीवीरदत्ताख्यो वसुपालस्य भूभुजः ।
मानभङ्गं करोत्युच्चै-स्ततः स वसुपालकः ॥ ५ ॥
उज्जयिन्यां समागत्य तस्योपरि महाक्रुधा ।
गतेषु दिवसेषूच्चै-र्वसुमत्यादिकान्प्रति ॥ ६ ॥
पुत्रोध्यापयितव्योसौ वसुमित्रोतिसादरम् ।
शालिभक्तं मसिस्पृक्तं सर्पियुक्तं दिनं प्रति ॥ ७ ॥
गर्गोपाध्यायकस्योच्चै-र्दीयते भोजनाय च ।
लेखं संप्रेषयामास भूपश्चेति निजं गृहम् ॥ ८ ॥
विनीतानगरीं प्राप्तः स लेखस्तु प्रमादतः ।
वाचितो वाचकेनैव महामुग्धेन कर्मतः ॥ ९ ॥
सुतोध्यापयितव्योसौ तथा गर्गाय धीमते ।
मसिर्घृतं सुभक्तं च दीयते भोजनक्षणे ॥ १० ॥
चूर्णीकृत्य ततोङ्गारं घृतभक्तेन मिश्रितम् ।
दत्तं तस्मै तकैर्मूढै-रुपाध्यायाय सेवकैः ॥ ११ ॥
आगतेन ततो राज्ञा समाधानं सुभक्तितः ।
उपाध्यायश्च पृष्टोसौ संजगाविति भो नृप ॥ १२ ॥
अस्ति मे कुशलं देव भवत्पुण्यप्रसादतः ।
किन्तु तेत्र कुलाचारै-र्मसिं भोक्तुं क्षमोस्मि न ॥ १३ ॥
तदा श्रीवसुपालेन पृष्टा राज्ञी च कारणम् ।
तं लेखं दर्शयामास सा सती गुणमण्डिता ॥ १४ ॥
ततस्तेन नरेन्द्रेण वाचकस्य महाक्रुधा ।
मुण्डनादिखरारोहैः कृतो दण्डस्तु कष्टदः ॥ १५ ॥

एवमन्यैर्न कर्त्तव्यं साधुभिस्तु प्रमादतः ।
सदर्थस्याप्यनर्थत्वं सर्वशास्त्रविचक्षणैः ॥ १६ ॥

तस्माच्छ्रीजिनभाषितं शुभतरं कीर्तिप्रमोदप्रदं
ज्ञानं ज्ञानधनैर्विशुद्धचरणैः सद्भिः सदा सेवितम् ।
युक्त्या भक्तिभरेण निर्मलधियो भव्या भजन्त्यत्र ये
तेषां सारसुखं प्रबोधविलसच्छ्रीसंभवं संभवेत् ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे अर्थहीनाख्यानं समाप्तम् ।

९५–व्यंजनार्थहीनस्याख्यानम् ।

विशुद्धकेवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम् ।
व्यंजनार्थप्रहीनस्य प्रवक्ष्येहं कथानकम् ॥ १ ॥

कुरुजांगलसद्देशे हस्तिनागपुरे परे ।
महापद्मोभवद्राजा जिनपादाब्जषट्पदः ॥ २ ॥

तस्य राज्ञी महासाध्वी पद्मश्री रूपशालिनी ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्म-कर्मसन्दोहभाविनी ॥ ३ ॥

तथा सुरम्यदेशे च पोदनाख्यमहापुरे ।
सिंहनादो महीनाथ-स्तस्योपरि महाक्रुधा ॥ ४ ॥

स श्रीमांश्च महापद्मः पोदनादिपुरं गतः ।
तत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां महास्तंभसहस्रकम् ॥ ५ ॥

सहस्रकूटसन्नाम मन्दिरं शर्ममन्दिरम् ।
दृष्ट्वा सन्तुष्टचेतस्को लसद्धर्मानुरागतः ॥ ६ ॥

ईदृशं श्रीजिनागारं मत्पुरे सौख्यकारणम् ।
कारयामि जगत्सारं संविचार्येति मानसे ॥ ७ ॥
महास्तंभसहस्रस्य कर्त्तव्यः संग्रहो ध्रुवम् ।
इत्युच्चैः प्रेषयामास पत्रकं स्वपुरं प्रति ॥ ८ ॥
वाचितं वाचकेनाशु भ्रान्त्या स्तंभसहस्रकम् ।
ग्राह्यं चेति तदाकर्ण्य तत्रस्थैर्वेगतो जनैः ॥ ९ ॥
गृहीत्वा स्तंभशब्देन महाच्छागसहस्रकम् ।
पोषितं बहुयत्नेन हा कष्टं मूढचेष्टितम् ॥ १० ॥
ततो राज्ञा समागत्य महापद्मेन धीमता ।
प्रोक्तं भो यन्मयादिष्टं तन्मे दर्शयथ ध्रुवम् ॥ ११ ॥
दर्शिताश्च जनैश्छागा-स्ततो रुष्टेन भूभुजा ।
आज्ञाता मारणे लोका-स्ततस्तैरिति जल्पितम् ॥ १२ ॥
किं कुर्मो भो महीनाथ वयं प्रेषणकारिणा ।
वाचकेन यदादिष्टं तदस्माभिर्विनिर्मितम् ॥ १३ ॥
तदा तेन प्रकोपेन महापद्मेन भूभुजा ।
वाचको दण्डितो गाढं प्रमादो न सुखायते ॥ १४ ॥
एवमन्यैर्न कर्त्तव्यः प्रमादः साधुभिर्जनैः ।
ज्ञानध्यानादिसत्कार्ये जैनतत्वविचक्षणैः ॥ १५ ॥
इत्थं श्रीजिनभाषितं शुभतरं ज्ञात्वा सुशास्त्रं बुधै-
स्त्यक्त्वा मोहविधायकं भयकरं त्रेधा प्रमादं सदा ।
धर्म्ये कर्मणि शर्मकोटिजनके संज्ञातदानादिके
भक्त्या श्रीजिनपूजने शुभतरे कार्या मतिः श्रेयसे ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे व्यंजनार्थहीनाख्यानं समाप्तम् ।

१६–हीनाधिकाक्षराख्यानम् ।

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं केवलज्ञानलोचनम् ।
हीनाधिकाक्षराख्यानं प्रवक्ष्ये भव्यरञ्जनम् ॥ १ ॥
सुराष्ट्रविषये श्रीम-दुर्जयन्तमहागिरौ ।
श्रीमच्चन्द्रगुहामध्ये जैनतत्वाब्धिचन्द्रमाः ॥ २ ॥
धरसेनो महाचार्यो ज्ञात्वा स्तोकं स्वजीवितम् ।
अविच्छित्तिनिमित्तं च शास्त्रस्योच्चैर्विचक्षणः ॥ ३ ॥
आन्ध्रदेशे सुविख्याते वेनातटपुरे परे ।
जिनयात्रासमायात-महाचार्यान्प्रति द्रुतम् ॥ ४ ॥
प्राज्ञौ कृतार्थतां प्राप्तौ नूतनौ द्वौ स्थिरौ मुनी ।
सिद्धान्तोद्धरणे योग्यौ प्रेषणीयौ मदन्तिके ॥ ५ ॥
दत्वा लेखमिति व्यक्तं स्वकीयं ब्रह्मचारिणम् ।
प्रेषयामास पूतात्मा जैनधर्मधुरन्धरः ॥ ६ ॥
तं लेखं तैः समालोक्य मुनीन्द्रैस्तुष्टमानसैः ।
तथाभूतौ मुनी भक्तौ प्रोल्लसद्धर्मरागिणौ ॥ ७ ॥
पुष्पदन्ताख्यभूतादि-बलिसंज्ञौ गुणोज्वलौ ।
प्रेषितौ परया भक्त्या सिद्धान्तोद्धरणे क्षमौ ॥ ८ ॥
तयोरागमने पूर्वं सूरिः पश्चिमसन्निशि ।
स्वप्ने शुभ्रतरौ दिव्यौ नूतनौ वृषभोत्तमौ ॥ ९ ॥
पतन्तौ पादयोः स्वस्य दृष्ट्वा सद्भक्तिनिर्भरौ ।
धरसेनो महाचार्यः प्रोल्लसत्प्रमदान्वितः ॥ १० ॥

सर्वसन्देहसन्दोह-ध्वंसिनी श्रुतदेवता ।
जयत्वत्र सतां नित्यं वदन्नित्थं समुत्थितः ॥ ११ ॥
प्रभाते तौ समायातौ द्वौ मुनी भक्तिपूर्वकम् ।
नत्वा तत्पादपद्मं च संस्तुतिं चक्रतुर्मुदा ॥ १२ ॥
दिनत्रयं गुरुः सोपि तयोः कृत्वा यथोचितम्
हीनाधिकाक्षरे पूर्वं विद्ये साधयितुं तदा ॥ १३ ॥
परीक्षार्थं सुधीस्ताभ्यां ददाति स्म विचक्षणः ।
तौ समादाय तौ मंत्रौ गिरौ रैवतके शुभे ॥ १४ ॥
श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य शुभे सिद्धशिलातले ।
मुनी साधयितुं धीरौ प्रवृत्तौ शुद्धमानसौ ॥ १५ ॥
हीनाक्षरेण संयुक्तां विद्यां साधयतो मुनेः ।
काणादेवी समायाता परस्योद्दन्तुरा मुनेः ॥ १६ ॥
देवतानां विरूपत्वं नेदृशं भवति ध्रुवम् ।
परस्परं विचार्येति मंत्रव्याकरणेन च ॥ १७ ॥
न्यूनाधिकाक्षरं ज्ञात्वा कृत्वा मंत्रविशुद्धिताम् ।
तयोः साधयतो युक्त्या श्रुतदेव्यौ समागतौ ॥ १८ ॥
ततस्तौ द्वौ समागत्य गुरोः पार्श्वे सुभक्तितः ।
देवतादर्शनस्योच्चैः प्रोचतुश्चारुवृत्तकम् ॥ १९ ॥
तत्समाकर्ण्य योगीन्द्रो धरसेनो गुणोज्वलः ।
तुष्टस्तौ पाठयामास जैनसिद्धान्तसञ्चयम् ॥ २० ॥
पठित्वा च मुनीन्द्रौ तौ गुरोः सेवाविधायिनौ ॥
जातौ सिद्धान्तकर्त्तारौ जैनधर्मधुरन्धरौ ॥ २१ ॥

एतैर्यथा मुनीन्द्रैस्तु शास्त्रोद्धारो कृतो भुवि ।
तथा ह्यन्यैर्महाभव्यैः कार्योसौ धर्मवत्सलैः ॥ २२ ॥
स श्रीमान्धरसेननामसुगुरुः श्रीजैनसिद्धान्तस–
द्वार्द्धीदुर्धरपुष्पदन्तसुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः ।
एते सन्मुनयो जगत्त्रयहिताः स्वर्गामरैरर्चिताः
कुर्युर्मे जिनधर्मकर्मणि मतिः स्वर्गापवर्गप्रदे ॥ २३ ॥

इति महामुनीनामाख्यानं समाप्तम् ।

१७–सुव्रतमुनेराख्यानम् ।

श्रीजिनं सर्व देवेन्द्र-समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वा सुव्रतयोगीन्द्र-वृत्तं वक्ष्ये हतामयम् ॥ १ ॥
सुराष्ट्रविषये रम्ये द्वारावत्यां महापुरि ।
हरिवंशे समुत्पन्नः कृष्णनामान्तिमो हरिः ॥ २ ॥
सत्यभामादिसद्राज्ञी-समूहे प्राणवल्लभः ।
त्रिखण्डेशो महीनाथ-सहस्रैः परिसेवितः ॥ ३ ॥
एकदासौ महाराजः श्रीमन्नेमिजिनेशिनः ।
समवादिसृतिं गच्छन्वन्दनार्थं सुखप्रदाम् ॥ ४ ॥
मार्गे सुव्रतनामानं मुनीन्द्रं सुतपोनिधिम् ।
व्याधिक्षीणाङ्गमालोक्य सुधीर्धर्मानुरागतः ॥ ५ ॥
जीवकाख्यमहावैद्य-प्रोक्तशुद्धौषधान्वितान् ।
भक्त्या सर्वगृहेषूच्चैः कारयामास मोदकान् ॥ ६ ॥

तन्मोदकशुभाहारैः सर्वत्र स मुनीश्वरः ।
संजातो विगतव्याधि-श्चारुचारित्रमण्डितः ॥ ७ ॥
तेन श्रीवासुदेवेन लसदौषधिदानतः ।
श्रीमत्तीर्थकरस्योच्चैः पूतं गोत्रमुपार्जितम् ॥ ८ ॥
महापात्रप्रदानेन देहिनां शर्मकारिणा ।
सतां सद्भक्तियुक्तानां किं न जायेत भूतले ॥ ९ ॥
तथैकदा मुनिः सोपि निर्व्याधिर्भूभुजा मुदा ।
दृष्टः पृष्टो मुने स्वामि-न्नस्ति देहे समाधिता ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह निस्पृहः स्वशरीरके ।
कायोशुचिर्भवेद्भूप क्षणान्नानाप्रकारभाक् ॥ ११ ॥
तत्समाकर्ण्य चक्रेशो मुनेर्वाक्यं सुनिर्मलम् ।
नत्वा तं त्रिजगत्पूज्यं चक्रे चित्ते प्रशंसनम् ॥ १२ ॥
जीवाख्यः स वैद्योपि तन्निशम्य स्वमानसे ।
अहो मे मुनिनानेन गुणो नैव प्रवर्णितः ॥ १३ ॥
निन्दां चेति चकारासौ मृत्वार्त्तध्यानयोगतः ।
नर्मदा सुनदीतीरे महान्मर्कटकोभवत् ॥ १४ ॥
मूढप्राणी न जानाति मुनीनां वृत्तलक्षणम् ।
कृत्वा निन्दां जगद्वन्द्ये स्वयं याति कुयोनिताम् ॥ १५ ॥
एकदा वानरः सोपि तत्र वृक्षतले मुनिम् ।
पर्यंकस्थं पतच्छाखा-भिन्नोरस्कं सुनिश्चलम् ॥ १६ ॥
समालोक्य स्वपुण्येन भूत्वा जातिस्मरो द्रुतम् ।
क्रोधभावं परित्यज्य भूरिशाखामृगैः सह ॥ १७ ॥

अन्यशाखाप्रवल्लीभि-स्तां समाकृष्य यत्नतः ।
शाखां दूरे विधायोच्चैः पूर्वसंस्कारतो मुदा ॥ १८ ॥
महौषधं समानीय व्रणे तस्य महामुनेः ।
ददौ धर्मानुरागेण सारपुण्यं गृहीतवान् ॥ १९ ॥
जन्म जन्म यदभ्यस्तं प्राणिना शर्मकारणम् ।
तेनाभ्यासेन तेनोच्चै-स्तदेव क्रियते पुनः ॥ २० ॥
ततस्तेन मुनीन्द्रेण स्वावधिज्ञानचक्षुषा ।
प्रोक्त्वा तत्पूर्ववृत्तान्तं शीघ्रं सम्बोधितो हि सः ॥ २१ ॥
तदासौ मर्कटो धीमान्मुनेर्वाक्यप्रसादतः ।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ २२ ॥
सम्यक्त्वाणुव्रतान्युच्चै-र्गृहीत्वा भूरिभक्तितः ।
प्रतिपाल्य सुधीः सप्त-दिनैः संन्यासपूर्वकम् ॥ २३ ॥
मृत्वा सौधर्मकल्पे च देवो जातो महर्द्धिकः ।
जैनधर्मरतो जन्तुः किं न प्राप्नोति सत्सुखम् ॥ २४ ॥
मर्कटोपि सुरो जातो जैनधर्मप्रसादतः ।
तस्माद्धर्माद्गुरोश्चापि किं परं शर्मकारणम् ॥ २५ ॥
स जयतु जिनधर्मो यत्प्रसादाज्जनोयं
भवति सुरनरेन्द्रश्रीशिवश्रीपतिश्च ।
तदिह विदिततत्त्वैः श्रीजिनेन्द्रोक्तधर्मे
परमपदसुखाप्त्यै सारयत्नो विधेयः ॥ २६ ॥

इतिकथाकोशे श्रीसुव्रतमुनेराख्यानं समाप्तम् ।

१८–हरिषेणाख्यानम् ।

नत्वा श्रीमज्जिनं भक्त्या केवलज्ञानलोचनम् ।
कथ्यते हरिषेणस्य कथाशयवशाश्रिता ॥ १ ॥
अंगदेशे सुविख्याते कांपिल्यनगरे वरे ।
राजा सिंहध्वजस्तस्य राज्ञी वप्रा गुणोज्वला ॥ २ ॥
तस्याः श्रीहरिषेणाख्यो-भवत्पुत्रो विचक्षणः ।
भटाग्रणीः सतां मान्यो दाता भोक्ता सुलक्षणः ॥ ३ ॥
सा वप्रा श्राविका श्रीम-ज्जिनपादाब्जषट्पदी ।
नन्दीश्वरमहापूजां कारयत्येव भक्तितः ॥ ४ ॥
तथा प्रभोर्द्वितीया च राज्ञी लक्ष्मीमती प्रिया ।
सैकदा भूपतिं प्राह कुदृष्टिः स्वमदोद्धता ॥ ५ ॥
भो प्रभो पत्तने पूर्वं मदीयो ब्रह्मणो रथः ।
भ्रमत्वद्य तदाकर्ण्य राज्ञा प्रोक्तं भवत्विति ॥ ६ ॥
तच्छ्रुत्वा सा सती वप्रा राज्ञी सद्धर्मवत्सला ।
पूर्वं मे रथयात्रायां जातायां दत्तसम्पादि ॥ ७ ॥
भोजनादौ प्रवृत्तिर्मे प्रतिज्ञामिति मानसे ।
करोति स्म सतां नित्यं शरणं धर्म एव हि ॥ ८ ॥
भोजनार्थं समागत्य हरिषेणः सुतोत्तमः ।
दृष्ट्वा तां मातरं पृष्ट्वा कारणं निर्गतो गृहात् ॥ ९ ॥
विद्युचौरस्य संप्राप्तः पल्लिकामतिनिर्भयः ।
तं विलोक्य शुकः प्राह दुष्टात्मा तस्करान्प्रति ॥ १० ॥

अहो राजसुतो याति युष्माभिर्ह्रियते ध्रुवम् ।
दुष्टानां संगतिं प्राप्तः प्राणी वक्ति कुतो हितम् ॥ ११ ॥
ततो निर्गत्य वेगेन हरिषेणो विचक्षणः ।
संप्राप्तस्तापसस्याशु शतमन्योश्च पल्लिकाम् ॥ १२ ॥
तत्रापि तं समालोक्य शुकश्चान्यः शुभाशयः ।
यत्राकृतिर्गुणास्तत्र संवसन्ति स्वमानसे ॥ १३ ॥
इत्याकलय्य संप्राह राजपुत्रोयमद्भुतः ।
यात्युच्चैर्गौरवं यूयं शीघ्रं संकुरुतास्य भो ॥ १४ ॥
तच्छ्रुत्वा हरिषेणेन प्रोक्त्वा पूर्वकोदितम् ।
पृष्टः कीरो द्वितीयस्तु कथं भो गौरवं मम ॥ १५ ॥
भवान्कारयतीहोच्चै-स्तदाकर्ण्य शुको जगौ ।
श्रृणु त्वं राजपुत्राद्य वक्ष्येहं कारणं तव ॥ १६ ॥
माताप्येका पिताप्येको मम तस्य च पक्षिणः ।
अहं मुनीभिरानीतः स च नीतो गवाशनैः ॥ १७ ॥
गवाशनानां स गिरः श्रृणोति
अहं च राजन्मुनिपुङ्गवानाम् ।
प्रत्यक्षमेतद्भवता हि दृष्टं
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ॥ १८ ॥
अथासौ तापसः पूर्वं शतमन्युश्चवर्तते ।
चम्पायां भूपती राज्ञी नागवत्यभिधा सती ॥ १९॥
जनादिमेजयः पुत्रः पुत्री च मदनावली ।
तस्या निमित्तिकेनोक्त-श्चोदशः शर्मकारणम् ॥ २० ॥
षट्खण्डाधिपतेरेषा भावि स्त्रीरत्नमुत्तमम् ।
काले कल्पशते चापि नान्यथा ज्ञानिनो वचः ॥ २१ ॥

अथोड्रविषये राजा कलादिकलनामकः ।
तमादेशं समाकर्ण्य याचयामास तां सतीम् ॥ २२ ॥
अलब्ध्वा च समागत्य महाकोपेन वेगतः ।
चम्पां वेष्टितवान्गाढं कामान्धः कुरुते न किम् ॥ २३ ॥
नित्यं युद्धे सति क्रूरे गृहीत्वा मदनावलीम् ।
सुरंगद्वारतो नाग-वती नष्टा प्रवेगतः ॥ २४ ॥
पल्लिकायां समागत्य शतमन्योश्च वृत्तकम् ।
प्रोक्त्वा तत्र स्थिता याव-त्तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥ २५ ॥
पूर्वं च हरिषेणस्यं तस्यां रागः प्रवर्तते ।
कन्यायां नितरां तस्मा-त्तापसैर्मुग्धमानसैः ॥ २६ ॥
निर्घाटितेन तेनोक्तं हरिषेणेन धीमता ।
यदीमां कन्यकां पूतां विवाहविधिना ध्रुवम् ॥ २७ ॥
अहं परिणयिष्यामि तदा सद्भक्तिपूर्वकम् ।
स्वदेशे कारयिष्यामि योजने योजने शुभान् ॥ २८ ॥
श्रीमज्जिनालयान्पूतान्पवित्रीकृतभूतलान् ।
स्वर्मोक्षगामिनां चित्ते जैनभक्तिर्निरन्तरम् ॥ २९ ॥
सिन्धुदेशेथ विख्याते नाम्ना सिन्धुतटे पुरे ।
राजा सिन्धुनदो राज्ञी सिन्धुमत्यभिधा तयोः ॥ ३० ॥
सिन्धुदेव्यादिपुत्रीणां शतं रूपगुणान्वितम् ।
नैमित्तिकेन चादिष्टं चाक्रिणस्तदपि ध्रुवम् ॥ ३१ ॥
सिन्धुनद्यां तथा सर्व-कन्यास्नानं निरूपितम् ।
सहैव हरिषेणेन रागोत्पत्तिश्च जल्पिता ॥ ३२ ॥

तत्रासौ हरिषेणश्च जित्वा देशमहागजम् ।
ताः कन्याः परिणीयोच्चै-श्चित्रशालां सुखस्थितः ॥ ३३ ॥
तदा वेगवतीनाम्ना विद्याधर्य्या निशि द्रुतम् ।
सुप्तो नीतस्ततस्तेन प्रोत्थितेन नभस्तले ॥ ३४ ॥
दृष्ट्वा तारावलीं कोपा-त्तां हन्तुं खेचरीं स्वयम् ।
बद्धामुष्टिस्तदा कृत्वा प्राञ्जलिं सापि संजगौ ॥ ३५ ॥
शृणु स्वामिन्नगाद्रौ हि सूर्योदरमहापुरे ।
राजा श्रीन्द्रधनुर्धीमान् राज्ञी बुद्धिमती तयोः ॥ ३६ ॥
सुपुत्री जयचन्द्राख्या पुरुषद्वेषकारिणी ।
आदेशश्चेति संजात-स्तस्याः कन्याशतप्रियः ॥ ३७ ॥
भावी प्राणप्रियस्तस्मान्मया ते रूपपट्टकम् ।
तस्याः संदर्शितं सापि त्वय्यासक्ता बभूव च ॥ ३८ ॥
तत्समीपं ततो देव नीयते त्वं सुपुण्यभाक् ।
इत्याकर्ण्य प्रहर्षेण प्राप्तोसौ खेचराचलम् ॥ ३९ ॥
तद्विवाहे परिप्राप्ते गंगाधरमहीधरौ ।
कन्यामैथुनिकौ युद्धं कर्त्तुकामौ समागतौ ॥ ४० ॥
तत्संग्रामे सुरत्नानि संनिधानानि सद्भटः ।
लब्ध्वा श्रीहरिषेणोसौ भूत्वा षट्खण्डनायकः ॥ ४१ ॥
मदनादिवलीं भूत्या परिणीय निजं गृहम् ।
गत्वा मनुस्तथा जैन-रथयात्रां विधाय च ॥ ४२ ॥
सुधीः संकारयामास श्रीमज्जैनालयांस्तथा ।
अहो पुण्यवतां पुंसां किं शुभं यन्न जायते ॥ ४३ ॥

स जयतु जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो
यदुदितवरधर्मे शर्मभागी जनः स्यात् ।
गुणगणमणिखानिः स्वर्गमोक्षप्रयोनिः
सकलभुवनचन्द्रः केवलज्ञानसान्द्रः ॥ ४४ ॥

इति कथाकोशे हरिषेणचक्रवर्त्तिन आख्यानं समाप्तम् ।

९९–परगुणग्रहणाख्यानम् ।

नमस्कृत्य जिनं देवं सुरासुरसमर्चितम् ।
वक्ष्येहं परजन्तूनां गुणग्रहणसत्कथाम् ॥ १ ॥
धर्मानुरागतः स्वर्गे सौधर्मेण च धीमता ।
प्रोक्तं स्वस्य सभामध्ये कुर्वता गुणिनां कथाम् ॥ २ ॥
यस्त्यक्त्वा पर दोषौघान्स्वल्पं चान्यगुणं मुदा ।
सुधीर्विस्तारयत्युच्चै-रुत्तमः स जगत्त्रये ॥ ३ ॥
तत्समाकर्ण्य चैकेन पृष्टः स तु सुधाशिना ।
किं कोपि विद्यते देव तथाभूतस्तु भूतले ॥ ४ ॥
सौधर्मेन्द्रस्ततः प्राह द्वारावत्यां गुणोज्वलः ।
वासुदेवोन्तिमोप्यस्ति कृष्णनामा महाप्रभुः ॥ ५ ॥
ततः स वेगतो देवः समागत्य महीतलम् ।
श्रीमन्नेमिजिनाधीश-वन्दनार्थं प्रगच्छतः ॥ ६ ॥
तस्य त्रिखण्डभूपस्य परीक्षार्थं स्वमायया ।
मार्गे दुर्गन्धताक्रान्तं मृतकुक्कररूपकम् ॥ ७ ॥

धृत्वा स्थितस्तदङ्गोत्थ-महादुर्गन्धतो द्रुतम् ।
सर्वसेनाजनो नष्टस्तदा सोपि सुरः पुनः ॥ ८ ॥
द्वितीयविप्ररूपेण समागत्य प्रपञ्चतः ।
वासुदेवाग्रतश्चक्रे कुक्कुरस्थप्रदूषणम् ॥ ९ ॥
तदा श्रीवासुदेवेन प्रोक्तं भो कुक्कुरानने ।
कीदृशी स्फटिकाकारा दृश्यते दन्तसन्ततिः ॥ १० ॥
तच्छ्रुत्वा मानसे तुष्टो भूत्वासौ प्रकटः सुरः ।
प्रोक्त्वा सर्वं तमभ्यर्च्य त्रिखंण्डेशं दिवं गतः ॥ ११ ॥

एवं सुभव्यैर्जिनभक्तियुक्तै—
स्त्यक्त्वात्र दोषान्परलोकजातान् ।
नित्यं तु साधुप्रगुणो हि भक्त्या
ग्राह्यो गुणज्ञैर्वरशर्मसिद्ध्यै ॥ १२ ॥

इति कथाकोशे परगुणग्रहणाख्यानं समाप्तम् ।

१००—दुर्लभमानवपर्यायदृष्टान्ताः ।

विशुद्धं केवलज्ञानं नत्वा श्रीमज्जिनेश्वरम् ।
दृष्टान्तैर्दशभिर्वच्मि मनुष्यत्वं सुदुर्लभम् ॥ १ ॥

यथा—

चोल्लय पासय धण्णं जूवा रदणाणि सुमिण चक्कं वा ।
कुम्मं जुग परमाणु दस दिट्ठंता मणुयलंभे ॥

पूर्वं चोल्लकदृष्टान्तं श्रृण्वन्तु सुधियो जनाः ।
श्रीमन्नेमिजिनाधीशे मुक्तिप्राप्ते जगद्धिते ॥ २ ॥

विनीतविषयेऽयोध्यां नगर्यां ब्रह्मदत्तवाक् ।
षट्खण्डाधिपतिर्जातश्चक्रिणामन्तिमो महान् ॥ ३ ॥
सहस्रभटनामाभू-त्तत्सामन्तो गुणोज्वलः ।
तस्य कान्ता सुमित्राख्या वसुदेवस्तयोः सुतः ॥ ४ ॥
मृते तस्मिन्सहस्रादि-भटे सामन्तके ततः ।
वसुदेवः सुतः सोपि मूर्खः सेवादिकर्मसु ॥ ५ ॥
प्राप्तो नैव पितुः स्थानं निधानं भूरिसम्पदाम् ।
विना सेवादिभिः कस्मान्प्राप्यते राजमानिता ॥ ६ ॥
तदा सुमित्रया सोपि स्थित्वा जीर्णे कुटीरके ।
जनन्या पोषितो यत्ना-द्वसुदेवो निजाशया ॥ ७ ॥
कट्यां बध्वा शुभं भारं ताम्बूलादिकमोदकम् ।
शीघ्रं च गमनेनोच्चैः स श्रमं कारितस्तया ॥ ८ ॥
इत्यसौ शिक्षतस्तस्य चक्रेशस्य कुलेशिनः ।
अङ्गरक्षणसेवायां संस्थितो नवयौवनः ॥ ९ ॥
एकदा चक्रवर्त्ती च महाटव्यां प्रवेगतः ।
दुष्टाश्वेन समानीतः क्षुत्पिपासादिपीडितः ॥ १० ॥
तत्रासौ वसुदेवेन तेन संशीघ्रगामिना ।
दत्वा भक्ष्यादिकं वस्तु चक्रवर्ती सुखीकृतः ॥ ११ ॥
प्रस्तावे स्तोकमप्युच्चै-र्दत्तं शर्मप्रदं भवेत् ।
क्षीयमाने यथा दीपे तैलं संवर्द्धते शिखा ॥ १२ ॥
ततो हृष्टेन तैनेव कस्त्वं पृष्टो जगौ च सः ।
सहस्रभटपुत्रोहं तत्समाकर्ण्य चक्रिणा ॥ १३ ॥

तस्मै व्याघ्रुटितो दत्वा स्वकीयं रत्नकंकणम् ।
अयोध्यायां समागत्य भणितस्तलरक्षकः ॥ १४ ॥
मदीयं कंकणं नष्टं त्वं गवेषय वेगतः ।
तच्छ्रुत्वा कोट्टपालश्च द्रुतं शालास्थितं तदा ॥ १५ ॥
कंकणस्य मुदा वार्त्तां प्रकुर्वन्तं विलोक्य तम् ।
वसुदेवं समानीय दर्शयामास चक्रिणः ॥ १६ ॥
तं दृष्ट्वा चक्रभृत्प्राह याचय त्वं स्ववाञ्छितम् ।
तेनोक्तं देव जानाति माता मे च ततो गृहम् ॥ १७ ॥
गत्वा तां मातरं पृष्ट्वा सुमित्रां गुणशालिनिम् ।
पुनश्चागत्य भूपालो वसुदेवेन याचितः ॥ १८ ॥
दीयते भो महीनाथ युष्माभिः सुविचक्षणैः ।
प्रमोदजनकं चारु मह्यं चोल्लकभोजनम् ॥ १९ ॥
ब्रह्मदत्तो नृपः प्राह कीदृशं तच्च भोजनम् ।
तच्छ्रुत्वा वसुदेवोपि जगाद शृणु भूपते ॥ २० ॥
पूर्वं भवद्गृहे देव प्रोल्लसद्गौरवेण च ।
स्नानभोजनसद्भूषा-मनोवाञ्छितसद्धनम् ॥ २१ ॥
लब्ध्वा पश्चात्तवप्राण-वल्लभान्तःपुरे तथा ।
महामुकुटबद्धादि-परिवारगृहेषु च ॥ २२ ॥
क्रमादेवं परिप्राप्य पुनस्तेन क्रमेण वै ।
सर्वं सम्प्राप्यते भूप मया श्रीमत्सुवाक्यतः ॥ २३ ॥
तदाश्चर्यं न भो भव्याः कदाचित्प्राप्यतेखिलम् ।
मनुष्यत्वं पुनर्नष्टं प्राप्यते नैव भूतले ॥ २४ ॥

संज्ञात्वेति बुधैस्त्यक्त्वा दुर्मार्गं दुःखकारणम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्भक्ति-र्विधेया शर्मकारणम् ॥ २५ ॥

१-इति चोल्लकदृष्टान्तः ।

अथ पाशक दृष्टान्तः कथ्यते मगधाभिधे ।
देशे पुरे शतद्वारे शतद्वाराख्यभूपतिः ॥ २६ ॥
तेन द्वारशतं राज्ञा कारितं स्वपुरे परे ।
एकादश सहस्राणि स्तंभानां द्वारकं प्रति ॥ २७ ॥
स्तंभे स्तंभे श्रयः प्रोक्तास्तथा षण्णवतिर्बुधैः ।
एकैकस्यां तथा श्र्यां च द्यूतकारकदम्बकाः ॥ २८ ॥
पाशकाभ्यां च ते सर्वे रमन्ते द्यूतकारकाः ।
एकदा शिवशर्माख्य-ब्राह्मणेन प्रयाचिताः ॥ २९ ॥
सर्वत्रैको यदा दावः पतत्येव तदा ध्रुवम् ।
जितं द्रव्यं प्रदातव्यं युष्माभिर्मह्यमित्यलम् ॥ ३० ॥
एवमस्त्विति तैः प्रोक्ते तस्मिन्नेव दिने तदा ।
एकदा यश्च सर्वत्र संपपात विधेर्वशात् ॥ ३१ ॥
तत्सर्वं विप्रकः सोपि मुदा द्रव्यं गृहीतवान् ।
पुनः सोपि तथा द्रव्यं सर्वं प्राप्नोति कर्मतः ॥ ३२ ॥
नैव शीघ्रं मनुष्यत्वं नष्टं सम्प्राप्यते क्षितौ ।
ज्ञात्वा चित्ते कथाभावं सद्भिः कार्या शुभे मतिः ॥ ३३ ॥
तत्र पुण्यं जिनेन्द्राणां भक्त्या पादद्वयार्चनैः ।
पात्रदानैः व्रतैः शीलैः सोपवासैर्मतं बुधैः ॥ ३४ ॥

२-इति पाशकदृष्टान्तः ।

धान्यदृष्टान्तकं वक्ष्ये संक्षेपेण सतां हितम् ।
जम्बूद्वीपप्रमाणं च योजनैकं सहस्रतः ॥ ३५ ॥
गंभीरा सर्षपैर्गर्त्ता पूरिता सा दिने दिने ।
एकैकसर्षपेणोच्चैः क्षीयते कालयोगतः ॥ ३६ ॥
नष्टं नैव मनुष्यत्वं प्राप्यते चाल्पपुण्यकैः ।
तस्मात्पुण्यं जिनेन्द्रोक्तं संश्रयन्तु बुधोत्तमाः ॥ ३८ ॥
तथान्यो धान्यदृष्टान्तो विनीतविषये शुभे ।
अयोध्यापत्तने राजा प्रजापालभिधानभाक् ॥ ३८ ॥
राजगेहात्तथा शत्रु-जितशत्रुर्महीपतिः ।
अयोध्यापुरमुद्दिश्य गृहीतुं संचचाल च ॥ ३९ ॥
तत्समाकर्ण्य भूपालः प्रजापालः प्रजां प्रतिः ।
जगौ सर्वजनैः सर्व-धान्यमेकत्र मिश्रितम् ॥ ४० ॥
संख्यां कृत्वा समानीय कोष्ठागारे मम द्रुतम् ।
रक्षणीयं प्रयत्नेन तैर्जनैस्तु तथा कृतम् ॥ ४१ ॥
ततस्तस्मिन्समागत्य जितशत्रौ मदोद्धते ।
असमर्थत्वमासाद्य पश्चाद्व्याघुटिते सति ॥ ४२ ॥
प्रजालोकैर्निजं धान्यं याचितः स महीपतिः ।
प्रजापालस्ततः प्राह परिज्ञाय निजं निजम् ॥ ४३ ॥
युष्माभिर्गृह्यते धान्यं राजानो विकटाशया ।
क्वचित्तत्संभवत्येव केनोपायेन पुण्यतः ॥ ४४ ॥
न नष्टं प्राप्यते शीघ्रं मनुष्यत्वं सुदुर्लभम् ।
मत्वेति परमप्रीत्या सन्तः कुर्वन्तु सच्छुभम् ॥ ४५ ॥

३-इति धान्यदृष्टान्तः

द्यूतदृष्टान्तमावच्मि शतद्वारपुरे तथा ।
द्वाराः पञ्चशतान्येव द्वारे द्वारे मनोहरे ॥ ४६ ॥
शालाः पञ्चशतान्युच्चैः शालां शालां प्रति ध्रुवम् ।
द्यूतकारसहस्त्रार्द्धं संम्प्रोक्त सुविचक्षणैः ॥ ४७ ॥
एकस्तत्र चर्यीनामा द्यूतकारः प्रवर्तते ।
द्यूतकाराश्च ते सर्वे जित्वा सर्वकपर्दकान् ॥ ४८ ॥
गताः सर्वदिशास्त्वाशु स्वेच्छया स चयी पुनः ।
तेषां च द्यूतकाराणां कदाचित्कर्मयोगतः ॥ ४९ ॥
मेलापकं करोत्येव न पुनर्नष्टतामितम् ।
प्राप्यते सुमनुष्यत्वं जन्तुभिस्तुच्छपुण्यकैः ॥ ५० ॥
अन्यस्मिन्द्यूतदृष्टान्ते तस्मिन्नेव पुरेभवत् ।
नाम्ना निर्लक्षणो द्यूत-कारः स्वप्नेपि पापतः ॥ ५१ ॥
संप्राप्नोति जयं नैव कदाचिच्छुभयोगतः ।
जित्वा कपर्दकान्सर्वान्ददौ कार्पटिकादिषु ॥ ५२ ॥
ते सर्वे तान्समादाय प्राप्ताः सर्वदिशासुखम् ।
कदाचित्कर्मयोगेन सर्वे कार्पटिकादयः ॥ ५३ ॥
भवन्त्येकत्र नैवात्र नृत्वं सम्प्राप्यते गतम् ।
कर्तव्या च ततो भव्यै-र्धर्मसेवा शुभश्रिये ॥ ५४ ॥

४-इति द्यूतदृष्टान्तः ।

रत्नदृष्टान्तमावच्मि सतां सम्बोधहेतवे ।
श्रीमद्भरतचक्रेशो द्वितीयः सगरो महान् ॥ ५५ ॥

तृतीयो मघवा चक्री तुर्यः सनत्कुमारवाक् ।
शान्तिनाथस्तथा कुन्थु-ररश्चक्री च सप्तमः ॥ ५६ ॥
सुभौमाख्यो महापद्मो हरिषेणो गुणोज्वलः ।
चक्री श्रीजयसेनाख्यो ब्रह्मदत्तोन्तिमो मतः ॥ ५७ ॥
एतेषां चक्रिणां चारु-चूडामणिसमूहकः ।
देवैः सर्वो गृहीतस्तु यथा ते चक्रवर्त्तिनः ॥ ५८ ॥
प्रोल्लसन्मणयस्तेपि पृथ्वीकायाश्च ते क्षितौ ।
तेपि देवा कदाप्यत्र मिलन्त्येकत्र नैव च ॥ ५९ ॥
तथा नष्टं मनुष्यत्वं विपुण्यैः प्राप्यते न हि ।
संविचार्य बुधैस्तस्माद्विधेयो जैनसद्वृषः ॥ ६० ॥

५–इति रत्नदृष्टान्तः ।

तथा स्वप्नप्रदृष्टान्तो-वन्तिदेशे मनोहरे ।
उज्जयिन्यां महापुर्यां हल्लाख्यः काचवाहकः ॥ ६१ ॥
तदा काष्ठान्यटव्यास्तु समानयति सोन्यदा ।
उद्याने काष्ठभारं च धृत्वा भूरिश्रमाश्रितः ॥ ६२ ॥
सुप्तः स्वप्नेऽभवत्सर्व-भूमिचक्राधिपो महान् ।
भार्ययोत्थापितः पश्चा-द्वाहति स्म स्वभारकम् ॥ ६३ ॥
यथा स्वप्नोत्थितः सोपि नैव चक्री कदाचन ।
तथा नष्टं मनुष्यत्वं प्राप्यते न विपुण्यकैः ॥ ६४ ॥

६–इति स्वप्नदृष्टान्तः ।

वक्ष्येहं चक्रदृष्टान्तं स्तंभा द्वाविंशति दृढाः ।
स्तंभे स्तंभेभवच्चक्रं चक्रे चक्रे बुधैर्मतम् ॥ ६५ ॥

आराणां च सहस्रं स्या-दारे चारे प्ररन्ध्रकम् ।
चक्राणां विपरीतत्वा-त्क्रमणे सुभटैस्तदा ॥ ६६ ॥
स्तंभानामुपरिस्था च राधा संविध्यते शुभात् ।
काकंदीपत्तने राजा-भवद्द्रुपदनामकः ॥ ६७ ॥
तत्पुत्रीं द्रौपदीनाम्नीं रूपसौभाग्यशालिनीम् ।
अर्जुनेन महीभर्त्रा स्वयंवरविधौ मुदा ॥ ६८ ॥
राधावेधं विधायोच्चै-र्गृहीता द्रौपदी सती ।
पुण्योदयेन जन्तूनां किं न स्याच्छर्मनिर्मलम् ॥ ६९ ॥
तदुच्चैर्घटते सर्वं नैव नष्टा नृजन्मता ।
विना प्रव्यक्तपुण्येन तस्मात्तत्क्रियते बुधैः ॥ ७० ॥

७-इति चक्रदृष्टान्तः ।

कूर्मदृष्टान्तकं प्राहुर्भव्यानां पूर्वसूरयः ।
स्वयंभूरमणे ख्याते समुद्रे सुमहत्यपि ॥ ७१ ॥
छादिते चर्मणा तस्मिन्कूर्मो जन्तुर्महानभूत् ।
परिभ्रमञ्जले तत्र सोपि वर्षसहस्रकम् ॥ ७२ ॥
सूक्ष्मचर्मप्ररन्ध्रेण सूर्यं दृष्ट्वा कदाचन ।
पश्चादागत्य तं सूर्यं तस्मिन्नेव प्ररन्ध्रके ॥ ७३ ॥
दर्शयन्स्वकुटुम्बस्य स्वयं पश्यति भास्करम् ।
प्राप्यते न मनुष्यत्वं यत्प्रमादेन हारितम् ॥ ७४ ॥

८-इति कूर्मदृष्टान्तः ।

शृण्वन्तु युगदृष्टान्तं सज्जनाश्चारुचेतसः ।
प्रमाणं योजनानां हि लक्षद्वयसमायते ॥ ७५ ॥

पूर्वक्षारसमुद्रे च युगच्छिद्राद्विनिर्गता ।
कदाचित्समिला तत्र पतिता काष्ठनिर्मिता ॥ ७६ ॥
तथा पश्चिमवारीशौ युगं भ्रमति नित्यशः ।
तस्मिन्नेव युगच्छिद्रे कथंचित्कालयोगतः ॥ ७७ ॥
याति सा समिला चापि नैव नष्टं नृजन्म वै ।
प्राप्यते वेगतो भव्या-स्ततः कुर्वन्तु सच्छुभम् ॥ ७८ ॥

९-इति युगदृष्टान्तः ।

परमाणुप्रदृष्टान्तः कथ्यते दशमो मया ।
सर्व चक्रेशिनां दण्ड-रत्नं हस्तचतुष्टयम् ॥ ७९ ॥
काले तस्य प्रदण्डस्य सर्वत्र परमाणवः ।
रूपान्तरं परिप्राप्य कदाचिच्च पुनस्तथा ॥ ८० ॥
दण्डरत्नत्वमायान्ति नृत्वं न प्राप्यते गतम् ।
ज्ञात्वेति पण्डितैः कार्यं शर्मकोटि प्रदं शुभम् ॥ ८१ ॥

१०-इति परमाणुदृष्टान्तः ।

भयशतैरिह दुर्लभतामितं
परमसार नृजन्म जगद्धितम् ।
बुधजनाः सुविचार्य शुभाश्रिये
जिनवृषं प्रभजन्तु जगद्धितम् ॥ ८२ ॥

इति कथाकोशे मनुष्यभवदुर्लभत्ववर्णने दश दृष्टान्ताः समाप्ताः ।

१०१-भावानुरागरक्ताख्यानम् ।

जिनपादद्वयं नत्वा सर्वसौख्यप्रदायकम् ।
भावानुरागरक्तस्य प्रवक्ष्येहं कथानकम् ॥ १ ॥
अवंतिविषये चारू-ज्जयिन्यां भूपतिर्महान् ।
धर्मपालः प्रिया तस्य धर्मश्रीर्धर्मवत्सला ॥ २ ॥
श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यः सुभद्रा श्रेष्ठिनी तयोः ।
नागदत्तोभवत्पुत्रो जिनपादाब्जषट्पदः ॥ ३ ॥
तथा समुद्रदत्तस्य श्रेष्ठिनो रूपमण्डिता ।
पुत्री समुद्रदत्तायां प्रियंगुश्रीर्बभूव हि ॥ ४ ॥
तेन श्रीनागदत्तेन सा सती सुमहोत्सवैः ।
दानपूजाकुलाचारैः परिणीता गुणोज्वला ॥ ५ ॥
तस्या मैथुनिकः कोपि नागसेनो दुराशयः ।
तदा वैरं वहंश्चित्ते संस्थितः स्वगृहे कुधीः ॥ ६ ॥
एकदोपोषितः स श्री-नागदत्तो विचक्षणः ।
धर्मानुरागसंयुक्तः श्रीमज्जैनालये मुदा ॥ ७ ॥
कायोत्सर्गे स्थितो धीमांस्तं विलोक्य कुचेतसा ।
नागसेनेन हारं स्वं धृत्वा तत्पादयोस्तले ॥ ८ ॥
अयं चौरो भवेदित्थं पूत्कारः पापिना कृतः ।
दुष्टात्मा निन्दितं कर्म किं करोति न कोपतः ॥ ९ ॥
तत्समाकर्ण्य दृष्ट्वा च तलारेण प्रवेगतः ।
राज्ञः प्रोक्तं क्रुधा तेन मार्यतामिति जल्पितम् ॥ १० ॥
नीतोसौ मारणार्थं च नागदत्तस्तलारकै : ।
यः खड्गस्तद्गले मुक्त-स्तदा तत्पुण्ययोगतः ॥ ११ ॥

संजातः प्रोल्लसत्कान्ति-र्हीरो वा द्युमणिद्युतिः ।
देववृन्दैर्नभोभागात्पुष्पवृष्टिः कृता स्तुतिः ॥ १२ ॥

अहो धर्मानुरागेण साधूनां साधुकारिताम् ।
के के भव्या न कुर्वन्ति येत्र सद्दृष्टयो भुवि ॥ १३ ॥

तद्दर्शनान्महास्फीतौ जैनधर्मस्थशर्मिणः ।
धर्मपालमहीनाथ-नागदत्तौ सुभक्तितः ॥ १४ ॥

दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं मुनी जातौ विचक्षणौ ।
अन्ये चापि महाभव्या जैनधर्मे रतास्तराम् ॥ १५ ॥

सकलभुवनभव्यैः सेवितः श्रीजिनेन्द्र –
स्तदुदितवरधर्मो निर्मलः शर्महेतुः ।
विशदतरसुखश्रीः प्राप्यते यत्प्रसादा–
त्स भवतु मम शान्त्यै कर्मणां शान्तिकर्ता ॥ १६ ॥

इति कथाकोशे भावानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

१०२–प्रेमानुरागरक्ताख्यानम् ।

संप्रणम्य जिनाधीशं प्रोल्लसद्धर्मनायकम् ।
प्रेमानुरागरक्तस्य रचयामि कथानकम् ॥१ ॥

विनीतविषये रम्ये साकेतापत्तनेभवत् ।
राजा सुवर्णवर्माख्यः सुवर्णश्रीप्रियाप्रियः ॥ २ ॥

श्रेष्ठी सुमित्रनामा च सम्पदासारसंभृतः ।
प्रेमानुरागरक्तोसौ जैनधर्मे विचक्षणः ॥ ३ ॥

एकदा पूर्वरात्रौ च स्वगृहे शुद्धमानसः ।
कायोत्सर्गेण मेरुर्वा संस्थितो निश्चलस्तराम् ॥ ४ ॥
देवेनैकेन चागत्य भार्यावित्तादिकं तदा ।
हृत्वा परीक्षितः सोपि चलितो न स्वयोगतः ॥ ५ ॥
ततो देवः समालोक्य स्थिरत्वं श्रेष्ठिनो महत् ।
कृत्वा तस्य सुमित्रस्य स्तुतिं शर्मशतंप्रदाम् ॥ ६ ॥
स्वयं च प्रकटीभूय विद्यां गगनगामिनीम् ।
दत्त्वासौ शांकरीं भक्त्या स्वर्गलोकं ययौ मुदा ॥ ७ ॥
तं प्रभावं विलोक्योच्चैः सर्वे भव्यजनास्तदा ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे संजाता भक्तिनिर्भराः ॥ ८ ॥
केचिच्च मुनयः केचि-च्छ्रावकव्रतमण्डिताः ।
केचित्सम्यक्त्वरत्नेन राजिता धर्मवत्सलाः ॥ ९ ॥
जिनपतेः पदपद्मयुगं मुदा
परमसौख्यकरं भवतारणम् ।
यजनसंस्तवनैर्जपनादिकै—
रिह भजन्तु ततः सुजनाः श्रिये ॥ १० ॥

इति कथाकोशे प्रेमानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

१०२–मज्जनरागाख्यानम् ।

सर्वदेवेन्द्रनागेन्द्र-समर्चितपदद्वयम् ।
नत्वा जिनं प्रवक्ष्येहं वृत्तमज्जनरागजम् ॥ १ ॥

उज्जयिन्यां महीनाथः सुधीः सागरदत्तवाक् ।
जिनदत्तवसुमित्रौ सार्थवाहौ गुणोज्वलौ ॥ २ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मे महामज्जनरागिणौ ।
दानपूजाव्रताद्यैश्च मण्डितौ श्रावकोत्तमौ ॥ ३ ॥
उत्तरापथमुद्दिश्य वाणिज्यार्थं विनिर्गतौ ।
अवसीरमहाभूध्र-मालादिवरभूध्रयोः ॥ ४ ॥
मध्येटव्यां गृहीते च सर्वसार्थे कुतस्करैः ।
ततोटवीं प्रविष्टौ तौ दिग्विमूढौ बभूवतुः ॥ ५ ॥
अपश्यन्तौ नरं कंचि-च्चारुमार्गोपदेशकम् ।
मज्जनरागरक्तौ द्वौ जैनधर्मे विचक्षणौ ॥ ६ ॥
संन्यासेन स्थितौ जैनं स्मरन्तौ चरणद्वयम् ।
अहो भव्या भवन्त्युच्चैः सौख्ये दुःखे च सद्धियः ॥ ७ ॥
तथान्यः सोमशर्माख्यो ब्राह्मणः कोपि तद्वने ।
दिग्विमूढो भ्रमन्कष्टं तयोः पार्श्वं समागतः ॥ ८ ॥
देवोर्हन्दोषनिर्मुक्तः केवलज्ञानलोचनः ।
तत्प्रणीतो भवेद्धर्मो दशलाक्षणिकः सुधीः ॥ ९ ॥
गुरुर्भार्यादिदुर्गन्ध-वर्जितः शीलसंयुतः ।
ज्ञानध्यानतपोलक्ष्म्या मण्डितो भवतारकः ॥ १० ॥
जीवोप्यनादिसंसिद्धो भव्याभव्यप्रभेदभाक् ।
कर्माश्रितस्तु संसारी तन्मुक्तो मुक्तिनायकः ॥ ११ ॥
इत्यादिधर्मसद्भावं श्रुत्वा पार्श्वे तयोर्द्विजः ।
त्यक्त्वा मिथ्यात्वदुर्मार्गं श्रित्वा श्रीजैनशासनम् ॥ १२ ॥

संन्यासेन सुधीः सोपि स्थित्वा चित्ते जिनं स्मरन् ।
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यै-र्भक्त्या नित्यं समर्चितम् ॥ १३ ॥
जित्वोपसर्गकं भूरि कीटकाद्यैर्विनिर्मितम् ।
भूत्वा महर्द्धिको देवः कल्पे सौधर्मसंज्ञके ॥ १४ ॥
अत्र श्रीश्रेणिकस्योच्चै-र्भूपतेस्तनुजोभवत् ।
अभयाख्यो महाधीरो मुक्तिगामी जगद्धितः ॥ १५ ॥
जिनदत्तवसुमित्रौ मृत्वा तौ द्वौ समाधिना ।
देवौ तत्रैव सौधर्मे संजातौ सुमहर्द्धिकौ ॥ १६ ॥
यद्धर्मं त्रिजगद्धितं शुभकरं श्रित्वा सुकष्टेप्यलं
भव्या भूरि सुखं प्रकष्टविमुखं संप्राप्नुवन्ति स्वयम् ।
स श्रीमान्सुसुरेन्द्रचक्रिखचराधीशैः सदाभ्यर्चितं
दद्यान्मे भवतां च निर्मलसुखं सत्केवली श्रीजिनः ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे मज्जनरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

१०४—धर्मानुरागाख्यानम् ।

विशुद्धकेवलज्ञान-लोकालोकप्रकाशकम् ।
नमस्कृत्य जिनं वच्मि कथां धर्मानुरागजाम् ॥ १ ॥
अवन्तिविषये ख्याते प्रोज्जयिन्यां महापुरि ।
राजाभूद्धनवर्माख्यो धनश्रीकामिनीपतिः ॥ २ ॥
तयोः पुत्रः समुत्पन्नो लकुचो भूरिगर्ववान् ।
शत्रुसन्दोहमानाग्नि-शमनैकघनाघनः ॥ ३ ॥

एकदा कालमेघाख्य-म्लेच्छराजेन पीडिते ।
तद्देशेसौ कुमारश्च लकुचो बहुकोपतः ॥ ४ ॥
गत्वा स्वयं रणे धृत्वा तं रिपुं कालमेघकम् ।
समानीय द्रुतं दत्वा स्वपित्रे धनवर्मणे ॥ ५ ॥
कामचारं वरं प्राप्य ततः स्वपुरयोषिताम् ।
शीलभंगं चकारोच्चैः कामिनां सुमतिः कुतः ॥ ६ ॥
श्रेष्ठिनः पुंगलस्यापि नागधर्मास्ति कामिनी ।
भूरिरूपश्रिया युक्ता तस्यामासक्तकोभवत् ॥ ७ ॥
पुंगलोपि तदा श्रेष्ठी प्रज्वलन्कोपवह्निना ।
तं हन्तुमसमर्थः सन्तिष्ठते स्वगृहे ततः ॥ ८ ॥
उद्याने क्रीडितुं गत्वा कदाचिल्लकुचो मुदा ।
पूर्वपुण्यप्रयोगेन दृष्ट्वा तत्र मुनीश्वरम् ॥ ९ ॥
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं शीघ्रं वैराग्यमाश्रितः ।
पुंगलेन तदा ज्ञात्वा गत्वा तत्र प्रकोपतः ॥ १० ॥
वैराल्लोहशलाकाभिः सन्धिस्थानेषु कीलितम् ।
तच्छरीरं तदा सोपि जैनधर्मानुरागभाक् ॥ ११ ॥
जित्वोपसर्गकं स्वामी परलोकं गतो ध्रुवम् ।
विचित्रं भव्यजीवानां चारित्रं भुवनोत्तमम् ॥ १२ ॥
स जयतु मुनिनाथो भूरिकष्टं सुजित्वा
सपदि लकुचनामा प्राप्तवाञ्छर्मसारम् ।
गुणगणमणिरुद्रो बोधसिन्धुः प्रसान्द्रो
जिनपतिहिमरश्मिः प्रोल्लसद्रश्मियोगात् ॥ १३ ॥

इति कथाकोशे धर्मानुरागरक्ताख्यानं समाप्तम् ।

———

१०५-दर्शनाऽपतिताख्यानम् ।

संप्रणम्य जिनाधीशं सर्वदोपविवर्जितम् ।
दर्शनाच्चयवनाख्यानं प्रवक्ष्ये जगदर्शितम् ॥ १ ॥
पाटलीपुत्रसन्नाम्नि पत्तने सुचिरन्तने ।
जिनदत्तोभवच्छ्रेष्ठी परमेष्ठिपदे रतः ॥ २ ॥
तद्भार्या जिनदासी च तयोः पुत्रो गुणोज्वलः ।
जिनदासो विशुद्धात्मा जिनभक्तिसुतत्परः ॥ ३ ॥
एकदा जिनदासोसौ सुवर्णद्वीपतो महान् ।
सद्धनं समुपार्ज्योच्चै-रागच्छति यदाम्बुधौ ॥ ४ ॥
शतयोजनविस्तार-यानपात्रस्थितेन च ।
दुष्टचित्तेन कालाख्य-देवेनेत्थं प्रजल्पितम् ॥ ५ ॥
जिनदास त्वया शीघ्रं कथ्यते चेदिदं वचः ।
नास्ति देवो जिनश्चापि नैव जैनं मतं भुवि ॥ ६ ॥
त्वं मया मुच्यते शीघ्रं मार्यते नान्यथा ध्रुवम् ।
तत्समाकर्ण्य तैः सर्वै-र्जिनदासादिभिर्द्रुतम् ॥ ७ ॥
मस्तकन्यस्तसद्धस्तै-र्वर्द्धमानजिनेश्वरम् ।
नमस्कृत्य महाभक्त्या संप्रोक्तं रे दुराशय ॥ ८ ॥
अस्ति श्रीमज्जिनाधीशः केवलज्ञानभास्करः ।
सर्वोत्तमं मतं तस्य वर्द्धते भुवनार्चितम् ॥ ९ ॥
तथा श्रीजिनदासोसौ सर्वेषामग्रतस्तदा ।
ब्रह्मदत्तेशिनः पञ्च-नमस्कारकथां जगौ ॥ १० ॥
तदोत्तरकुरुस्थेन निजासनसुकम्पनात् ।
अनावृत्ताख्ययक्षेण समागत्य प्रवेगतः ॥ ११ ॥

कोपाच्चक्रेण पापात्मा ताडितो मुकुटे कुधीः ।
कालदेवः कुदेवोसौ पातितो वडवानले ॥ १२ ॥
लक्ष्मदिव्या तदागत्य सर्वे ते जैनधर्मिणः ।
अर्घं दत्वा महाभक्त्या पूजिताः परमादरात् ॥ १३ ॥
ये भव्याः सारसम्यक्त्वं पालयन्ति विचक्षणाः ।
तेषां पादार्चनं भक्त्या के न कुर्वन्ति भूतले ॥ १४ ॥
ततस्ते जिनदासाद्या जिनभक्तिपरायणाः ।
समागत्य निजं गेहं संस्थिताः पुण्ययोगतः ॥ १५ ॥
जिनदासेन पृष्टश्च सावधिज्ञानलोचनः ।
मुनिः प्राह विशुद्धात्मा सर्वं तद्वैरकारणम् ॥ १६ ॥
त्रिभुवनैकहितं शिवकारणं
शुचितरं प्रभजन्तु सुदर्शनम् ।
परमसौख्यकृते सुबुधोत्तमः
किमिह चान्यमहाश्रमकारणैः ॥ १७ ॥

इति कथाकोशे दर्शनाऽपतिताख्यानं समाप्तम् ।

१०६—अत्यक्तसम्यक्त्वाख्यानम् ।

नमस्कृत्य जिनं देवं देवदेवेन्द्रवन्दितम् ।
सम्यक्त्वामुक्तकाख्यानं द्वितीयं रचयाम्यहम् ॥ १ ॥
लाटदेशे सुविख्याते गलगोद्रहपत्तने ।
श्रेष्ठी श्रीजिनदत्तोभू-ज्जिनदत्तास्य कामिनी ॥ २ ॥

तयोर्जिनमतिः पुत्री रूपसौभाग्यशालिनी ।
संजाता पूर्वपुण्येन भवेद्रूपादिसम्पदा ॥ ३ ॥
द्वितीयस्तु तथा श्रेष्ठी नागदत्तो विधर्मकः ।
नागदत्ताभवत्कान्ता रुद्रदत्तः सुतस्तयोः ॥ ४ ॥
याचिता नागदत्तेन रुद्रदत्ताय सा सती ।
न दत्ता जिनदत्तेन तस्मै मिथ्यादृशे सुता ॥ ५ ॥
ततस्तौ नागदत्ताख्य-रुद्रदत्तौ प्रपञ्चतः ।
मुनेः समाधिगुप्तस्य पार्श्वे भूत्वान्हिकौ तदा ॥ ६ ॥
परिणीय लसद्रूपां जिनमत्यभिधां च ताम् ।
पुनर्माहेश्वरौ जातौ दुर्दृशां सुमतिः कुतः ॥ ७ ॥
रुद्रदत्तस्ततो वक्ति भो प्रिये त्वमपि द्रुतम् ।
धर्मं माहेश्वरं सारं मदीयं च गृहाण वै ॥ ८ ॥
जिनेन्द्रचरणाम्भोज-षट्पदी वदति प्रिया ।
जिनमत्यभिधा सापि न युक्तं त्रिजगद्धितम् ॥ ९ ॥
त्यक्तुं मे जैनसद्धर्मं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ।
तं शर्मदं गृहाण त्वं त्यक्त्वा मिथ्यामतं प्रभो ॥ १० ॥
स्वस्वधर्मप्रवादेन तयोर्नित्यं प्रवर्त्तते ।
कलहस्तु गृहे युक्तं कुतः सौख्यं विधर्मतः ॥ ११ ॥
धर्मं निजं निजं व्यक्तं कुर्वतोश्च तयोस्ततः ।
काले यात्येकदा तत्र पत्तने कर्मयोगतः ॥ १२ ॥
भिल्लैः प्रज्वालिते क्रुद्धै-रग्निना दुष्टमानसैः ।
जाते कोलाहले कष्टं प्राणिनां प्राणसंकटे ॥ १३ ॥

तदा श्रीजिनमत्या च भणितो रुद्रदत्तकः ।
यस्य देवः करोत्युच्चैः सर्वशान्तिं क्षणादिह ॥ १४ ॥
तस्यावाभ्यां प्रकर्त्तव्यो धर्मः शर्मकरो ध्रुवम् ।
एवमस्त्विति संप्रोक्त्वा जनान्कृत्वा च साक्षिणः ॥ १५ ॥
ततोर्घं रुद्रदत्तोसौ ददौ रुद्राय मूढधीः ।
नैव कश्चिद्विशेषोभू-द्वह्निज्वालाविजृंभिते ॥ १६ ॥
ब्रह्मादिभ्योपि दत्तार्घे नैव जातो विशेषकः ।
दुर्द्देभ्यो दुष्टचित्तेभ्यो नैव शान्तिः कदाचन ॥ १७ ॥
जिनमत्यभिधा सापि ततः सद्धर्मवत्सला ।
दत्वार्हदादिपञ्चाना-मर्घं श्रीपरमेष्ठिनाम् ॥ १८ ॥
पादपद्मद्वयेभ्यश्च प्रोल्लसद्भक्तिनिर्भरा ।
पतिपुत्रवधूवर्गं धृत्वा स्वान्ते सुनिश्चला ॥ १९ ॥
कायोत्सर्गे स्थिता चित्ते कृत्वा पञ्च नमस्कृतिम् ।
तत्क्षणादेव संजाता वह्निशान्तिः जगद्धिता ॥ २० ॥
तं दृष्ट्वातिशयं सर्वे रुद्रदत्तादयो मुदा ।
नत्वा श्रीमज्जिनं देवं संजाताः श्रावकोत्तमाः ॥ २१ ॥
अहो श्रीजिनधर्मस्य महिमा भुवनोत्तमः
वर्ण्यते केन भूलोके स्वर्गमोक्षसुखप्रदः ॥ २२ ॥
यथा श्रीजिनमत्याख्या चक्रे सम्यक्त्वरक्षणम् ।
तथान्यैर्भव्यमुख्यैश्च तत्कार्यं सच्छुभश्रिये ॥ २३ ॥
श्रीमज्जैनपदाम्बुजेषु नितरां भृङ्गी पवित्राशया
सद्दृष्टिर्जिनशब्दपूर्वकमतिः शर्मप्रदा सा सती ।

नानावस्त्रसुवर्णरत्ननिकरैर्देवादिभिः पूजिता
सद्दृष्टिर्जिनभक्तिनिश्चलमतिः कैः कैर्न संपूज्यते ॥ २४ ॥

इति कथाकोशे अत्यक्तदर्शनाख्यानं समाप्तम् ।

१०७–सम्यक्त्वप्रभावाख्यानम् ।

श्रीजिनं त्रिजगद्देवं नमस्कृत्य सुरार्चितम् ।
ब्रुवे सम्यक्त्वमाहात्म्यं चेलिनीश्रेणिकाश्रितम् ॥ १ ॥
देशोत्र मगधे ख्याते पुरे राजगृहे शुभे ।
राजा प्रश्रेणिको राज्ञी सुप्रभा गुणमण्डिता ॥ २ ॥
पुत्रः श्रीश्रेणिको जात-स्तयोः पुत्रशिरोमणिः ।
धीरो वीरोतिगंभीरो दाता भोक्ता भटाग्रणीः ॥ ३ ॥
एकदा नागधर्मेण राज्ञा प्रत्यन्तवासिना ।
दुष्टाश्वः प्रेषितः पूर्व-वैरिणा तस्य भूपतेः ॥ ४ ॥
दुष्टस्तुरंगमः सोपि प्रेरितो नैव गच्छति ।
खंचितो याति वेगेन दुष्टानामीदृशी गतिः ॥ ५ ॥
बाह्यालीं निर्गतो राजा तेनाश्वेनैकदा मुदा ।
प्रश्रेणिको महाटव्यां नीतो दुष्टेन कष्टतः ॥ ६ ॥
तत्र पल्लीपतिर्ख्यातो यमदण्डो यमाकृतिः ।
विद्युन्मतिः प्रिया तस्य पुत्री च तिलकावती ॥ ७ ॥
तां विलोक्य जगच्चेतो-रंजितां तिलकावतीम् ।
प्रश्रेणिकस्तदासक्तो नृपो याचितवांस्तदा ॥ ८ ॥

पुत्राय तिलकावत्याः स्वराज्यं भो महीपते ।
दातव्यं च त्वया प्रोक्त्वा यमदण्डेन तेन वै ॥ ९ ॥
तस्मै तां स्वसुतां दत्वा तिलकादिवतीं सतीम् ।
यत्नेन प्रेपितो भूपः पश्चाद्राजगृहं पुरम् ॥ १० ॥
ततः कैश्चिद्दिनैः सौख्यं भुंजानस्य महीपतेः ।
पुत्रश्चिलातपुत्राख्य-स्तस्यां जातो महाभटः ॥ ११ ॥
एकदा च नरेन्द्रेण संविचार्येति मानसे ।
राजा मद्भूरिपुत्राणां मध्ये कोत्र भविष्यति ॥ १२ ॥
पृष्टो नैमित्तिको प्राह शृणु त्वं भो नरेश्वर ।
यः सिंहासनमासीनो भेरीं सन्ताडयन्मुदा ॥ १३ ॥
पायसं कुक्कुराणां च ददत्संभोक्ष्यते स्वयम् ।
अग्निदाहो तथा हस्ति-च्छत्रसिंहासनं शुभम् ॥ १४ ॥
शीघ्रं निस्सारयत्येव स ते राज्यश्रियः सुखम् ।
भोक्ता भविष्याति व्यक्तं सन्देहो न महामते ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा तत्परीक्षार्थं प्रश्रेणिकमहीभुजा ।
भोजनं सर्वपुत्रेभ्यो दत्वा मुक्ताश्च कुक्कुराः ॥ १६ ॥
तदा सर्वे कुमारास्ते नष्टाः शीघ्रं भयाकुलाः ।
श्रेणिकस्तु सुधीश्चारु सिंहासनमधिष्ठितः ॥ १७ ॥
निजान्ते भाजनान्युच्चै-र्धृत्वा सर्वाणि दूरतः ।
एकैकं भाजनं दत्वा कुक्कुराणां स्वयं पुनः ॥ १८ ॥
भुंक्ते स्म पायसं भेरीं ताडयंश्च भटोत्तमः ।
वह्निदाहे तथा हस्ति-च्छत्रसिहासनं द्रुतम् ॥ १९ ॥

सुधीर्निस्सारयामास बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
संभविष्यति राजायं ततः प्रश्रेणिकः प्रभुः ॥ २० ॥
ज्ञात्वा चित्ते प्रयत्नार्थे प्रपञ्चेन विचक्षणः ।
कुक्कुरोच्छिष्टकं दोषं दत्वा तं तनयं शुभम् ॥ २१ ॥
पुरान्निस्सारयामास श्रेणिकं दोपवर्जितम् ।
भवन्ति भूतले नित्यं भूपाला गूढमंत्रकाः ॥ २२ ॥
ततः श्रीश्रेणिको धीमान्प्राप्तो मध्याह्निकेहनि ।
नन्दग्रामं तथा विप्रै-राज्यमान्यैर्मदोद्धतैः ॥ २३ ॥
तस्मान्निर्घाटितश्चापि परिव्राजकसन्मठे ।
कृत्वा तद्भोजनं तस्य गृहीत्वा विष्णुधर्मकम् ॥ २४ ॥
दक्षिणाभिमुखं पश्चा-च्चचालाथ कथान्तरम् ।
काञ्चीपुरे महाराजो वसुपालो विचक्षणः ॥ २५ ॥
वसुमत्यभिधा राज्ञी तयोः पुत्री बभूव च ।
सद्रूपयौवनोपेता वसुमित्रा गुणोज्वला ॥ २६ ॥
सोमशर्मा द्विजो मंत्री सोमश्रीब्राह्मणीप्रियः ।
तयोरभयमत्याख्या पुत्री चातिविचक्षणा ॥ २७ ॥
स मंत्री सोमशर्मा च गत्वा गंगादितीर्थकम् ।
पश्चाद्गेहं समागच्छन्मार्गे तेनैव वीक्षितः ॥ २८ ॥
प्रोक्तं च श्रेणिकेनेति विप्ररूपप्रधारिणा ।
अहो माम तव स्कन्धमारोहामि गुणोज्वल ॥ २९ ॥
मम स्कन्धं समारोह त्वकं चापि द्रुतं यतः ।
गम्यते तच्छ्रुतेस्तेन चिन्तितं ग्रहिलोस्त्ययम् ॥ ३० ॥

तथा मार्गे बृहद्ग्रामः श्रेणिकेन ह्रसो मतः ।
लघुग्रामो महानुक्तो यत्र भुक्तं सुभोजनम् ॥ ३१ ॥
धृतं वृक्षतले छत्रं मार्गे तत्संवृतं पुनः ।
पादत्राणं जले पादे धृतं हस्ते महापथि ॥ ३२ ॥
वद्धा नारी विमुक्ता वा कुट्यते चेति जल्पितम् ।
मृतोयं मृतकश्चापि जीवितो गच्छतीति वा ॥ ३३ ॥
शालिक्षेत्रं समालोक्य कुटुम्बिजनकेन च ।
एतत्किं भाक्षितं किं वा भक्ष्यते भो वद द्विज ॥ ३४ ॥
इत्यादिचेष्टितं मार्गे तं प्रकुर्वन्तमद्भुतम् ।
श्रेणिकं स द्विजो धृत्वा काञ्चीपुरबहिस्तदा ॥ ३५ ॥
स्वयं स्वगृहमायातो-भयमत्या प्रजल्पितः ।
पुत्र्या भो तात चैकाकी गतस्त्वं च समागतः ॥ ३६ ॥
तच्छ्रुत्वा सोमशर्मासौ जगौ भो पुत्रि मे पथि ।
आगच्छतो बटुश्चैको रूपवान्ग्रहिलो महान् ॥ ३७ ॥
मिलितः पुरबाह्ये स तिष्ठत्यत्र महामते ।
तत्समाकर्ण्य सा पुत्री संजगाद विचक्षणा ॥ ३८ ॥
कीदृशो ग्रहिलो सोपि भो पितश्च तदा द्विजः ।
सोमशर्मा जगौ सर्वं स्कन्धारोहणादिकम् ॥ ३९ ॥
श्रुत्वा तच्चेष्टितं कन्या तद्व्याख्यानं विधाय च ।
स्तोकं तैलं खलं तस्य प्रेषयामास मज्जने ॥ ४० ॥
याचिते भाजने चापि तदासौ कर्दमे सुधीः ।
गर्त्ताद्वयं विधायोच्चै-र्धृत्वा ते भाजने ददौ ॥ ४१ ॥

ततस्तया समाहूतः सोपि कर्दममार्गके ।
परीक्षार्थं जलं स्तोकं दत्तं तस्मै विदेशिने ॥ ४२ ॥
तेन तज्जलमादाय कर्दमं वंशकंछया ।
दूरीकृत्य सुधूर्त्तेन पादौ प्रक्षालितौ सुखम् ॥ ४३ ॥
तथा चक्रप्रवाले च प्रोतं सूत्रं स्वबुद्धितः ।
तच्चातुरीं समालोक्य ततोभयमती मुदा ॥ ४४ ॥
तं वरं श्रेणिकं चारु-विवाहविधिना द्रुतम् ।
स्वीचक्रे कृतपुण्यानां मांगल्यं च पदे पदे ॥ ४५ ॥
अथ कश्चिद् द्विजो धीमान्महाटव्यां दिगुप्सितः ।
जिनदत्ताभिधानस्य पार्श्वे श्रुत्वा जिनेशिनाम् ॥ ४६ ॥
धर्मं शर्माकरं योन्यः सोमशर्माभिधानकः ।
संन्यासेन मृतः प्राप्य स्वर्गं सौधर्मसंज्ञकम् ॥ ४७ ॥
तस्मादागत्य पुण्येन तत्र कांचीपुरे शुभे ।
श्रेणिकाभयमत्योश्च पुत्रोभयकुमारवाक् ॥ ४८ ॥
संजातः सुगुणोपेतश्चरमाङ्गो महाभटः ।
भाविमुक्तिवधूकान्तो वर्ण्यते केन भूतले ॥ ४९ ॥
अथ काञ्चीपुराधीशो वसुपालो गुणोज्वलः ।
गत्वा विजययात्रार्थं दृष्ट्वा तत्रैकमद्भुतम् ॥ ५० ॥
एकस्तंभसमुत्पन्नं प्रासादं श्रीजिनेशिनाम् ।
काञ्च्यां सम्प्रेषयामास लेखं श्रीसोमशर्मणः ॥ ५१ ॥
एकस्तंभोत्थितं चारु शर्मदं जिनमन्दिरम् ।
कार्यं त्वया प्रवेगेन तदासौ सोमशर्मवाक् ॥ ५२ ॥

तद्विज्ञानमजानंश्च चित्तेभूद्व्याकुलो महान् ।
पृष्ट्वा तत्कारणं तेन श्रेणिकेन महाधिया ॥ ९३ ॥
प्रासादः श्रीजिनेन्द्राणां कारितः सुमनोहरः ।
सद्विज्ञानं विना पुण्यैः प्राप्यते नैव भूतले ॥ ९४ ॥
आगतेन ततो राज्ञा दृष्ट्वा तं श्रीजिनालयम् ।
सन्तुष्टेन निजा पुत्री वसुमित्रा महोत्सवैः ॥ ९५ ॥
दत्ता श्रीवसुपालेन श्रेणिकाय गुणोज्वला ।
अतो राजगृहे जातं वक्ष्ये चान्यत्कथानकम् ॥ ९६ ॥
प्रश्रेणिको महाराजः सुधीर्वैराग्यमाश्रितः ।
दत्वा चिलातपुत्राय राज्यं जातो मुनीश्वरः ॥ ९७ ॥
ततश्चिलातपुत्रे च सर्वान्यायरते द्रुतम् ।
प्रधानैः श्रेणिकस्योच्चै-र्लेखः संप्रेषितस्तदा ॥ ९८ ॥
तं दृष्ट्वा श्रेणिकश्चापि प्रोक्त्वा भार्याद्वयं प्रति ।
पुरे राजगृहे ख्याते चारुपाण्डुकुटीं मुदा ॥ ९९ ॥
आगच्छेस्त्वमिति व्यक्तं स्वयं चागत्य वेगतः ।
पुराच्चिलातपुत्रं तं तस्मान्निर्घाट्य कण्टकम् ॥ ६० ॥
तत्र राज्ये महाप्राज्ये संस्थितो निजलीलया ।
भवेद्राज्यं समर्थस्य भूपतेर्नैव दुर्मतेः ॥ ६१ ॥
अथाभयकुमारेण पृष्टा माता क्व मे पिता ।
तच्छ्रुत्वाभयमत्याख्या जगौ पुत्र शृणु त्वकम् ॥ ६२ ॥
देशेत्र मगधे राज-गृहे पाण्डुकुटीतले ।
महाराज्यं प्रकुर्वाणः पिता ते तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ६३ ॥

एतदाकर्ण्य पुत्रोसौ ततोभयकुमारवाक् ।
एकाकी कौतुकाच्छीघ्रं नन्दग्रामं समागतः ॥ ६४ ॥
नन्दग्रामे तदा पूर्व-निष्कासनमहाक्रुधा ।
निग्रहं कर्त्तुकामेन श्रेणिकेन महीभुजा ॥ ६५ ॥
आदेशः प्रेषितश्चेति यथा भो ब्राह्मणोत्तमाः ।
मृष्टतोयभृतं यूयं वटकूपं मनोहरम् ॥ ६६ ॥
शीघ्रं प्रेषयथात्रैव युष्माकं निग्रहोन्यथा ।
अस्माभिः क्रियते व्यक्तं तत्समाकर्ण्य ते द्विजाः ॥ ६७ ॥
संजाता व्याकुलाश्चित्ते ततोभयकुमारवाक् ।
पृष्ट्वा तत्कारणं सर्वं तेषां बुद्धिं ददौ सुधीः ॥ ६८ ॥
ततस्तद्वचनादेव ब्राह्मणैस्तुष्टमानसैः ।
श्रेणिकस्य महीभर्त्तु-र्विज्ञप्तिः प्रेषिता द्रुतम् ॥ ६९ ॥
अस्माभिर्भणितश्चापि कूपो नागच्छति ध्रुवम् ।
रुष्ट्वा पुरस्य बाह्येसौ संस्थितो भो महीपतेः ॥ ७० ॥
पुरुषस्य भवेत्स्त्री च-वशीकरणमुत्तमम् ।
तस्माद्देव भवद्ग्राम-स्थितोदुंबरकूपिका ॥ ७१ ॥
भवद्भिः प्रेष्यते चात्र यतस्तस्यास्तु पृष्ठतः ।
समागच्छति कूपोसौ तच्छ्रुत्वा श्रेणिक प्रभुः ॥ ७२ ॥
मौनं कृत्वा स्थितो युक्तं न धूर्तो गृह्यते सुखम् ।
तथान्यदा गजो राज्ञा संख्यार्थं प्रेषितस्ततः ॥ ७३ ॥
जले नावा स पाषाणै-स्तोलितो तेन धीमता ।
आदेशस्तु पुनस्तस्य समायातो महीपतेः ॥ ७४ ॥

कूपः पूर्वदिशिस्थोसौ कार्यो पश्चिमदिक्तटे ।
ग्रामस्तेन कृतः पूर्व-दिशिस्थो धूर्त्तचेतसा ॥ ७५ ॥
मेपको प्रेपितश्चापि दुर्बलो न महान्न च ।
यथा तथा प्रयत्नेन रक्षणीयो मम ध्रुवम् ॥ ७६ ॥
तदा तद्वचनेनोच्चै-र्ब्राह्मणैः सोपि मेपकः ।
चारयित्वा तृणं भूरि स्थापितो वृकसंन्निधौ ॥ ७७ ॥
याचितं गर्गरीसंस्थं कूष्माण्डं श्रेणिकेन च ।
संवर्द्धर्च्य गर्गरीमध्ये प्रेपितं तैश्च तद्द्रुतम् ॥ ७८ ॥
याचितायां रजोरज्वां प्रतिच्छन्दं प्रयाचितम् ।
इत्यादिके कृते राजा महाश्चर्यं गतस्ततः ॥ ७९ ॥
लेखं सम्प्रेपयामास श्रेणिकस्तुष्टमानसः ।
सोपि वैदेशिकश्चात्र प्रेपणीयो मदन्तिके ॥ ८० ॥
न रात्रौ न दिने नैव मार्गे चोन्मार्गके न च ।
श्रुत्वेत्यामंत्रणं सोपि तदाभयकुमारवाक् ॥ ८१ ॥
सन्ध्यायां शकटैकस्मिन्भागे स्थित्वाविचक्षणः ।
समागत्य पुरं राज-गृहं भूपसभावनौ ॥ ८२ ॥
सिंहासने प्रपञ्चेन स्थितं त्यक्त्वा नरं द्रुतम् ।
अंगरक्षकमध्यस्थं जनानंदप्रवीक्षणैः ॥ ८३ ॥
ज्ञात्वा श्रीश्रेणिकं भूपं ननाम विनयान्वितः ।
तदा श्रीश्रेणिकेनोच्चैः परमानन्दनिर्भरात् ॥ ८४ ॥
समालिंग्य प्रवेगेन स पुत्रः कुलदीपकः ।
महोत्सवशतैश्चापि पत्तने प्रकटाकृतः ॥ ८५ ॥

ततः काञ्चीपुरात्तेन राज्ञाहूता स्वमन्दिरम् ।
अभयादिमती सापि वसुमित्रा च कामिनी ॥ ८६ ॥
एवं पुत्रादिसंयुक्तः श्रेणिकोसौ महीपतिः ।
यावत्संतिष्ठति सौख्यं तावद्वक्ष्ये कथान्तरम् ॥ ८७ ॥
सिन्धुदेशे सुविख्याते विशालापत्तने शुभे ।
राजाभूच्चेटको धीमान्सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥ ८८ ॥
तस्य राज्ञी सुभद्राख्या सती सद्रूपमण्डिता ।
तयोः सारगुणोपेता बभूवुः सप्त पुत्रिकाः ॥ ८९ ॥
तासामाद्याभवत्पुत्री पवित्रा प्रियकारिणी ।
तत्पुण्यं वर्ण्यते केन यत्पुत्रस्तीर्थकृद्गुणी ॥ ९० ॥
मृगावती द्वितीया च तृतीया सुप्रभा मता ।
प्रभावती चतुर्थी च चेलिनी पंचमी सुता ॥ ९१ ॥
ज्येष्ठा षष्ठी तथाऽवद्या चन्दना सप्तमी सती ।
यस्या नानोपसर्गेपि स्वशीले निश्चला मतिः ॥ ९२ ॥
स चेटको महाराजो पुत्रीस्नेहेन वीक्षितुम् ।
रूपाणि सर्वपुत्रीणां कारयामास पट्टके ॥ ९३ ॥
तस्मिन्निर्मापिते पट्टे चित्रकारेण धीमता ।
पश्यन् रूपाणि भूपोसौ चेलिन्या रूपकोरुके ॥ ९४ ॥
दृष्ट्वा विन्दुं तदा चित्र-काराय कुपितो महान् ।
ततो नत्वा नृपं प्राह चित्रकारो विचक्षणः ॥ ९५ ॥
देव द्वित्रिचतुर्वारान्सप्त वारान्मयापि च ।
प्रमृष्टोयं पतत्येव विन्दुरस्मिंश्च रूपके ॥ ९६ ॥

ईदृशं लाञ्छनं तत्र संभविष्यति मानसे ।
संविचार्येति भो भूप ततोसौ स्फोटितो न हि ॥ ९७ ॥
तच्छ्रुत्वा चेटको भूपः परमानन्दनिर्भरः ।
ददौ तस्मिन्महादानं सतां हर्षो न निष्फलः ॥ ९८ ॥
तदासौ नृपतिः श्रीमान्प्रीत्या देवार्चनक्षणे ।
तत्पट्टकं प्रसार्योच्चै-र्जिनबिम्बप्रसन्निधौ ॥ ९९ ॥
पूजां श्रीमज्जिनेन्द्राणां सर्वकल्याणदायिनीम् ।
करोत्येव महाभक्त्या भव्यचेतोनुरंजिनीम् ॥ १०० ॥
एकदा चेटकः सोपि केनचित्कारणेन च ।
स्वसैन्येन समागत्य राजा राजगृहं पुरम् ॥ १०१ ॥
बाह्योद्याने स्थितः स्नान-धौतवस्त्रपुरस्सरम् ।
श्रीमज्जिनान्समभ्यर्च्य तत्र स्थापितपट्टके ॥ १०२ ॥
क्षिप्तवान्कुसुमादिं च तद्दृष्ट्वा श्रेणिकः प्रभुः ।
तत्पार्श्ववर्त्तिनः प्राह किमेतदिति ते जगुः ॥ १०३ ॥
राज्ञोस्य पुत्रिकाः सप्त लिखिताश्चात्र पट्टके ।
तासु पुत्र्यश्चतस्रस्तु परिणीता गुणोज्वलाः ॥ १०४ ॥
द्वे कन्ये चेलिनी ज्येष्ठे संजाते नवयौवने ।
चन्दना सप्तमी बाला तिस्रः सन्ति गृहे पितुः ॥ १०५ ॥
तच्छ्रुत्वा श्रेणिको राजा तयोरासक्तमानसः ।
भूत्वा स्वमंत्रिणो वार्त्तां जगौ कन्याद्वयेच्छया ॥ १०६ ॥
ततस्ते मंत्रिणश्चापि नत्वाभयकुमारकम् ।
प्राहुश्चेटकभूपस्य कन्यायुग्मं मनोहरम् ॥ १०७ ॥

पित्रा ते याचितः सोपि न दत्ते गतयौवनात् ।
ध्रुवं कार्यमिदं चापि कर्त्तव्यं क्रियतेत्र किम् ॥ १०८ ॥
श्रुत्वाभयकुमारोसौ मंत्रिवाक्यं विचक्षणः ।
नैव चिन्तासमर्थोहं सर्वकार्यविधायकः ॥ १०९ ॥
इत्युक्त्वा स्वपितुर्दिव्यं रूपमालिख्य पट्टके ।
स्वयं वणिग्वरो भूत्वा वाणिज्येन प्रवेगतः ॥ ११० ॥
विशालाख्यां पुरीं गत्वा महोपायेन पट्टकम् ।
कन्ययोः सम्प्रदर्श्योच्चै-स्त च्चित्तं श्रेणिकोपरि ॥ १११ ॥
कृत्वा सुरंगिकां मार्गे गृहीत्वा ते सुकन्यके ।
संचचाल तदा सा च चेलिनी धूर्त्तमानसा ॥ ११२ ॥
त्यक्त्वाभरणवाक्येन ज्येष्ठां सद्रूपशालिनीम् ।
स्वयं तेन समं प्राप्य पुरं राजगृहं मुदा ॥ ११३ ॥
श्रेणिकस्य महीभर्त्तु-र्महोत्सवशतैर्द्रुतम् ।
राज्ञी शिरोमणिर्जाता स्वपुण्यात्प्राणवल्लभा ॥ ११४ ॥
अथासौ श्रेणिको राजा विष्णुभक्तोतिमुग्धधीः ।
चेलिनी श्रीजिनेन्द्रोक्त-सारधर्मे रता सती ॥ ११५ ॥
ततस्तयोर्द्वयोर्नित्यं स्वस्वधर्मप्रशंसने ।
विवादः संभवत्येव तथान्यदिवसे प्रभुः ॥ ११६ ॥
श्रेणिकश्चेलिनीं प्राह भो प्रिये कुलयोषिताम् ।
पतिरेव भवेद्देवस्ततो मे वचनाद्ध्रुवम् ॥ ११७ ॥
भोजनं विष्णुभक्तानां सद्गुरूणां प्रदीयते ।
त्वया सद्विनयेनेति तच्छ्रुत्वा चेलिनी सती ॥ ११८ ॥

ददामि भोजनं तेषा-मित्युक्त्वाहूय मण्डपे ।
गौरवात्स्थापयामास सर्वान्भागवतान्मुदा ॥ ११९ ॥
तत्र ते कपटोपेताः शठा ध्यानेन संस्थिताः ।
पृष्टास्तया भवन्तस्तु प्रकुर्वन्ति किमत्र भो ॥ १२० ॥
तदाकर्ण्य जगुस्तेपि त्यक्त्वा देहं मलैर्भृतम् ।
जीवं विष्णुपदं नीत्वा तिष्ठामो देवि सौख्यतः ॥ १२१ ॥
ततस्तया महादेव्या चेलिन्या सोपि मण्डपः ।
प्रज्वालितोग्निना नष्टा शीघ्रं ते वायसा यथा ॥ १२२ ॥
राज्ञा रुष्टेन सा प्रोक्ता भक्तिर्नास्ति यदि ध्रुवम् ।
किं ते मारयितुं युक्तं कष्टादेतांस्तपस्विनः ॥ १२३ ॥
तयोक्तं देव भो त्यक्त्वा कुत्सितं स्ववपुर्द्रुतम् ।
एते विष्णुपदं प्राप्ताः सारसौख्यसमन्वितम् ॥ १२४ ॥
नित्यं तत्रैव तिष्ठन्ति किमत्रागमनेन च ।
इति ज्ञात्वोपकाराय मयेदं निर्मितं प्रभो ॥ १२५ ॥
अस्यैव मम वाक्यस्य निश्चयार्थं महीपते ।
सद्दृष्टान्तकथां वक्ष्ये श्रूयतां परमादरात् ॥ १२६ ॥
वत्सदेशे सुविख्याते कौशाम्बीपत्तने प्रभुः ।
प्रजापालो महाराज्यं करोति स्म स्वलीलया ॥ १२७ ॥
श्रेष्ठीसागरदत्ताख्यो वसुमत्याख्रिया युतः ।
तत्रैव च समुद्रादि-दत्तश्रेष्ठी परोभवत् ॥ १२८ ॥
भार्या समुद्रदत्ताख्या श्रेष्ठिनश्च तयोर्द्वयोः ।
महास्नेहवशादुच्चै-र्वाचा बन्धोभवद्ध्रुवम् ॥ १२९ ॥

आवयोः पुत्रपुत्र्यौ यौ संजायेते परस्परम् ।
तयोर्विवाहः कर्त्तव्यो यतः प्रीतिर्भवेत्सदा ॥ १३० ॥
ततः सागरदत्तस्य वसुमत्यां सुतोजानि ।
वसुमित्राभिधः केन कर्मणासौ वशीकृतः ॥ १३१ ॥
रात्रौ दिव्यनरो भूत्वा दिने सर्पो भयानकः ।
तिष्ठति स्म गृहे चेति विचित्रा संसृतेः स्थितिः ॥ १३२ ॥
तथा समुद्रदत्तस्य नागदत्ता सुताभवत् ।
तस्यां समुद्रदत्तायां रूपलावण्यमण्डिता ॥ १३३ ॥
तेनासौ वसुमित्रेण परिणीता गुणोज्वला ।
नैव वाचा चलत्वं च सतां कष्टशतैरपि ॥ १३४ ॥
ततश्च वसुमित्रोसौ निशायां निजलीलया ।
धृत्वा पिट्टारके नित्यं कष्टं सर्पशरीरकम् ॥ १३५ ॥
भूत्वा दिव्यनरो नाग-दत्तया सह सर्वदा ।
भुंक्ते भोगान्मनोभीष्टान्विचिंत्रं कर्मचेष्टितम् ॥ १३६ ॥
एकदा यौवनाक्रान्तां नागदत्तां विलोक्य च ।
जगौ समुद्रदत्ता सा पुत्रीस्नेहेन दुःखिता ॥ १३७ ॥
हा विधेश्चेष्टितं कष्टं कीदृशी मे सुतोत्तमा ।
वरश्च कीदृशो जातो भीतिकारी भुजंगमः ॥ १३८ ॥
तच्छ्रुत्वा नागदत्ता सा भो मातर्मा विसूरय ।
समुद्धीर्येति वृत्तान्तं स्वभर्त्तुः संजगाद च ॥ १३९ ॥
तदाकर्ण्य समुद्रादि-दत्ता गत्वा सुतागृहम् ।
रात्रौ पिट्टारके मुक्त्वा सर्पदेहं तदा द्रुतम् ॥ १४० ॥

धृत्वा मनुष्यसद्रूपं निर्गच्छन्तं विलोक्य तम् ।
सा प्रच्छन्नं तदा भस्मी-चक्रे पिट्टारकं सती ॥ १४१ ॥
सन्दाहिते तथा तस्मिन्वसुमित्रो गुणोज्वलः ।
भुंजानो विविधान्भोगान्सदासौ पुरुषः स्थितः ॥ १४२ ॥
तथैते देव तिष्ठन्ति विष्णुलोके निरन्तरम् ।
एतदर्थं मयारब्धो देहदाहस्तपस्विनाम् ॥ १४३ ॥
तन्निशम्य महीनाथः श्रेणिकश्चेलिनीवचः ।
समर्थो नोत्तरं दातुं कोपान्मौनेन संस्थितः ॥ १४४ ॥
अथैकदा नराधीशो गतः पापर्द्धिहेतवे ।
तत्रातापेन योगस्थं यशोधरमहामुनिम् ॥ १४५ ॥
समालोक्य महाकोपान्ममेमं विघ्नकारिणम् ।
मारयामीति संचिन्त्य मुक्तवान्दुष्टकुक्कुरान् ॥ १४६ ॥
गत्वा पञ्चशतान्युच्चैः कुक्कुरास्तेपि निष्ठुराः ।
यशोधरमुनेस्तस्य तपो माहात्म्यतो द्रुतम् ॥ १४७ ॥
कृत्वा प्रदक्षिणां पाद-मूले तस्थुः सुभक्तितः ।
क्रोधान्धेन पुनस्तेन बाणा मुक्ताः सुदारुणाः ॥ १४८ ॥
शरास्तेपि बभूवुश्च पुष्पमालाः सुनिर्मलाः ।
प्रभावो मुनिनाथस्य महान्केनात्र वर्ण्यते ॥ १४९ ॥
तस्मिन्काले महीपालः सप्तमं नरकं प्रति ।
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायु-र्बन्धं चक्रे कुकष्टदम् ॥ १५० ॥
ततः प्रभावमालोक्य मुनेः पादाम्बुजद्वयम् ।
प्रणम्य परया भक्त्या त्यक्त्वा दुष्टाशयं नृपः ॥ १५१ ॥

पुण्येन पूर्णयोगस्य यशोधरमहामुनेः ।
वाक्यात्तत्वं जिनेन्द्रोक्तं सुरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥ १५२ ॥
संश्रुत्वोपशमं सार-सम्यक्त्वं स गृहीतवान् ।
तदायुश्चतुरशीति-गुणं वर्षसहस्रकम् ॥ १५३ ॥
संचक्रे प्रथमे शीघ्रं नरके प्रस्तरादिमे ।
किं न स्याद्भव्यमुख्यानां शुभं सद्दर्शनागमे ॥ १५४ ॥
ततः पादान्तिके चित्र-गुप्तनाममहामुनेः ।
क्षायोपशमकं प्राप्य सम्यक्त्वं भक्तिनिर्भरः ॥ १५५ ॥
वर्द्धमानजिनेन्द्रस्य पादमूले जगद्गुरोः ।
गृहीत्वा शुद्धसम्यक्त्वं क्षायिकं मुक्तिदायकम् ॥ १५६ ॥
स्वीचक्रे तीर्थकृन्नाम-त्रैलोक्येशैः समर्चितम् ।
तस्माच्छ्रीश्रेणिको राजा तीर्थेशः संभविष्यति ॥ १५७ ॥
ततः सम्यक्त्वसद्रत्नं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ।
अन्यैश्चापि महाभव्यैः पालनीयं जगद्धितम् ॥ १५८ ॥
यद्देवेन्द्रनरेन्द्रशर्मजनकं दुःखौघनिर्नाशकं
सम्यक्त्वं शिवसौख्यबीजमतुलं विद्वज्जनैः सेवितम् ।
तच्छ्रीमज्जिनदेवभाषितमहातत्वार्थसारे रुचिः
प्रोक्तं श्रीश्रुतसागरैर्मुनिवरैर्भव्याः श्रयन्तु श्रिये ॥१५९॥

इति कथाकोशे शुद्धसम्यक्त्वप्राप्तमहामण्डलेश्वर-
श्रीश्रेणिकमहाराजाख्यानं समाप्तम् ।

१०८-रात्रिभुक्तित्यागफलाख्यानम् ।

प्रणम्योच्चैर्जिनं देवं भारतीं सद्गुरुं क्रमात् ।
रात्रिभुक्तिपरित्याग-फलं वक्ष्ये गुणोज्वलम् ॥ १ ॥
निशाभुक्तिं त्यजन्त्येव ये भव्या धर्महेतवे ।
तेषां सतां महासौख्यं भवेल्लोकद्वये सदा ॥ २ ॥
कीर्त्तिः कान्तिर्महाशान्तिः सम्पदा विविधाः सदा ।
दीर्घायुः स्यात्सुखोपेतं रात्रिभोजनवर्जनात् ॥ ३ ॥
दारिद्र्यपीडिता नित्य-मन्धाः पुत्रादिवर्जिताः ।
महारोगशतक्रान्ताः स्युर्नरा निशिभोजनात् ॥ ४ ॥
पतत्कीटपतंगादे-र्भक्षणान्निशिभोजनम् ।
त्याज्यं पापप्रदं सद्भि-र्मांसव्रतविशुद्धये ॥ ५ ॥
दिवसस्य मुखे चान्ते मुक्त्वा द्वे द्वे सुधार्मिकैः ।
घटिके भोजनं कार्यं श्रावकाचारचञ्चुभिः ॥ ६ ॥

उक्तंच श्रीसमन्तभद्रपादैः—

अह्नोमुखेऽवसाने च यो द्वे द्वे घटिके त्यजेत् ।
निशाभोजनदोषज्ञोऽश्नात्यसौ पुण्यभाजनम् ॥

ताम्बूलं सुजलं किञ्चि-दौषधं दोषवर्जितम् ।
मुक्त्वा कष्टेपि सन्त्याज्यं रात्रौ सद्भिः फलादिकम् ॥ ७ ॥
ये त्यजन्ति सदाहारं रात्रौ भव्याश्चतुर्विधम् ।
स्यात्षण्मासोपवासोत्थं तेषां संवत्सरे शुभम् ॥ ८ ॥
अथ श्रीजिनसूत्रोक्तां तद्दृष्टान्तकथां ब्रुवे ।
श्रीमत्प्रीतिंकरस्योच्चैः संक्षेपेण सतां श्रिये ॥ ९ ॥

इहैव भरतक्षेत्रे देशे मगधसंज्ञके।
नाना सत्संपदाकारि-जिनधर्मविराजिते ॥ १० ॥
सुप्रतिष्ठपुरे जातो जयसेनो महीपतिः।
धार्मिको न्यायशास्त्रज्ञो स्वप्रजापालने स्थितः ॥ ११ ॥
श्रेष्ठी कुबेरदत्ताख्यो जिनपादाब्जयो रतः।
तत्प्रिया धनमित्राख्या संजाता धर्मवत्सला ॥ १२ ॥
एकदा तौ महाभक्त्या दत्वान्नं प्राशुकं शुभम्।
नाम्ना सागरसेनाय मुनये ज्ञानचक्षुषे ॥ १३ ॥
भो स्वामिन्नावयोः पुत्रो भविष्यति न वा सुधीः।
नोचेद्दीक्षां गृहीष्यावो जैनीं पापप्रणाशिनीम् ॥ १४ ॥
तस्य पादौ प्रणम्येति प्रश्नं संचक्रतुस्ततः।
मुनिः प्राह महाभाग्यो युवयोस्तनुजो महान् ॥ १५ ॥
चरमाङ्गधरो भव्यो भव्यसन्दोहतारकः।
भविष्यतीति भो श्रेष्ठिन्भवद्वंशशिरोमणिः ॥ १६ ॥
श्रुत्वा तौ मुनिनाथोक्तं परमानन्दमापतुः।
न भवेत्कस्य वानन्दः सद्गुरोर्वचनामृतात् ॥ १७ ॥
ततस्तयोर्जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम्।
कल्याणदायिनीं पूजां पात्रदानं सुखप्रदम् ॥ १८ ॥
कुर्वतोः सुखतः कैश्चिन्मासैर्जातः सुतोत्तमः।
तदानन्दः स्वबन्धूना-मभूत्प्राप्ते निधौ यथा ॥ १९ ॥
तद्दर्शनात्समुत्पन्ना सर्वेषां प्रीतिरद्भुता।
प्रोक्तः प्रीतिंकरो नाम्ना तातायैः स महामुदा ॥ २० ॥

ततोसौ स्वगुणैः सार्द्धं प्राप्तानेकमहोत्सवः ।
वृद्धिं सम्प्राप्तवानुच्चै-र्द्वितीयेन्दुरिवामलः ॥ २१ ॥
रूपेण जितकन्दर्पः सौभाग्यजितभूतलः ।
चरमाङ्गधरत्वाच्च तद्बलं केन वर्ण्यते ॥ २२ ॥
जातेथ पञ्चमे वर्षे स तस्मै गुरवे मुदा ।
पित्रा समर्पितो भक्त्या पठनार्थं महोत्सवैः ॥ २३ ॥
कैश्चित्संवत्सरैः सोपि नानाशास्त्रमहार्णवम् ।
समुत्तीर्णः सुधीः स्थित्वा गुरुसेवातरण्डके ॥ २४ ॥
ततोसौ प्राप्तसद्विद्यो महाशास्त्रोपदेशनम् ।
श्रावकाणां करोति स्म धर्मसंवृद्धिहेतवे ॥ २५ ॥
तथाभूतं तमालोक्य स राजा जयसेनवाक् ।
पूजयामास सत्प्रीत्या कुमारं कनकादिभिः ॥ २६ ॥
एकदासौ पितुर्गेहे कुमारः प्रौढयौवनः ।
सत्यां सुसम्पदायां च यावन्नोपार्जयाम्यहम् ॥ २७ ॥
महद्धनं स्वयं तावन्न कुर्वे पाणिपीडनम् ।
संचिन्त्येति महामानो गत्वा द्वीपान्तरं मुदा ॥ २८ ॥
नाना रत्नादिकं द्रव्यं समादाय विभूतिभिः ।
सुखेन गृहमायातः पुण्येन सुलभाः श्रियः ॥ २९ ॥
ततस्तस्मै सुपुण्याय स भूपः परमादरात् ।
पृथिवीसुन्दरीं नाम्ना स्वपुत्रीं पुण्यशालिनीम् ॥ ३० ॥
अर्द्धराज्यं निजं प्राज्यं जयकोलाहलस्वनैः ।
द्वीपान्तरात्समायातां कन्यामन्या वसुन्धराम् ॥ ३१ ॥

अन्याश्चापि वणिक्पुत्रीः कल्याणविधिना ददौ ।
प्रीतिंकरकुमाराय विभूत्या गुणशालिने ॥ ३२ ॥
तथा राज्यादिसम्प्राप्ते-र्ज्ञातव्यं कारणं महत् ।
श्रीमत्महापुराणे च विस्तरेण बुधोत्तमैः ॥ ३३ ॥
अथ प्रीतिंकरो धीमान्प्राप्य राज्यादिसम्पदाः ।
स्वपुण्येन समानीता भुंजानः सुतरां सुखम् ॥ ३४ ॥
ददत्पात्राय सद्दानं नित्यं सप्तगुणान्वितः ।
महासौख्याकरं प्रीत्या नवपुण्यैर्विराजितम् ॥ ३५ ॥
पूजां श्रीमज्जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ।
कुर्वन्विध्वस्तदुर्लेश्यां स्वर्मोक्षसुखकारिणीम् ॥ ३६ ॥
जिनप्रासादबिम्बादि-सप्तक्षेत्राणि तर्पयन् ।
शमशस्यप्रदान्युच्चैः स्ववित्तामृतवृष्टिभिः ॥ ३७ ॥
तन्वन्परोपकारं च यथायोग्यं विचक्षणः ।
निजशीलसमायुक्तो विद्वद्गोष्ठीषु तत्परः ॥ ३८ ॥
इत्यादिश्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मसेवासमग्रधीः ।
संस्थितः सुखतो नित्यं स्वप्रजाः प्रतिपालयन् ॥ ३९ ॥
चिरं यावत्तदा तस्मिन्संन्यासविधिना सुखम् ।
मुनौ सागरसेनाख्ये प्राप्ते लोकान्तरं शुभम् ॥ ४० ॥
ततो मनोहरोद्याने चारणौ शर्मकारिणौ ।
ऋजुमत्याख्यमत्यन्त-विपुलौ मुनिसत्तमौ ॥ ४१ ॥
समागत्य स्थितौ सौख्यं तदाकर्ण्य सुपुण्यवान् ।
गत्वा तत्र महाभूत्या भव्यसंघसमन्वितः ॥ ४२ ॥

जलाद्यैरष्टभिर्द्रव्यैः समभ्यर्च्य तयोः क्रमात् ।
भक्त्या प्रणम्य योगीन्द्रौ तौ तपोरत्नसागरौ ॥ ४३ ॥
सद्धर्मं पृष्टवानुच्चै-र्विनयानम्रमस्तकः ।
ततो ज्येष्ठमुनिः प्राह गंभीरमधुरध्वनिः ॥ ४४ ॥
श्रृणु त्वं भो महाभव्य धर्मो हि द्विविधो मतः ।
मुनिश्रावकभेदेन जिनेन्द्राणां जगद्धितः ॥ ४५ ॥
महाधर्मो मुनीन्द्राणां पूर्वः स्वपरतारकः ।
उत्तमादिक्षमादिश्च दशलाक्षणिको भवेत् ॥ ४६ ॥
श्रावकाणां तथा धर्मं श्रृणु प्रीतिंकर ब्रुवे ।
स्वर्गादिशर्मदं पूत-मपवर्गस्य कारणम् ॥ ४७ ॥
तत्राद्यं सारसम्यक्त्वं पालनीयं बुधोत्तमैः ।
अष्टाङ्गादिप्रभेदोक्त-मुक्तिबीजं सुखप्रदम् ॥ ४८ ॥
मिथ्यात्वं दूरतस्त्याज्यं कान्तिवर्द्धीधनैः सदा ।
येन बद्धो भवेज्जीवो भवभ्रमणदुःखभाक् ॥ ४९ ॥
तत्त्वं जानीहि मिथ्यात्वं विपरीतं जिनेशिनाम् ।
तत्वेभ्यो यन्महाभव्य नानादुःखशतप्रदम् ॥ ५० ॥
तथा श्रीमज्जिनेन्द्रोक्त-शास्त्राणां श्रवणेन च ।
मतिर्दर्पणवत्कार्या सदा शुद्धा विचक्षणैः ॥ ५१ ॥
मद्यमांसमधु त्याज्यं सहोदुम्बरपञ्चकम् ।
यद्भक्षणाद्भवेत्प्राणी दुर्गतेर्दुःखभाजनम् ॥ ५२ ॥
अणुव्रतानि पञ्चैव सार्द्धं त्रैधा गुणव्रतैः ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि पालनीयानि पण्डितैः ॥ ५३ ॥

रात्रिभोजनचर्मस्थ-हिंगुतोयघृतादिकम् ।
संत्याज्यं सुधिया नित्यं मांसव्रतविशुद्धये ॥ ५४ ॥
व्यसनानि तथा सप्त हेयान्युच्चैः सतां सदा ।
कुलजातिधनस्फीति-क्षयकारीणि देहिनाम् ॥ ५५ ॥
कन्दमूलं ससन्धानं नवनीतं च वर्जयेत् ।
महायत्नो विधेयो हि जलानां गालने बुधैः ॥ ५६ ॥
नित्यं पात्राय सद्दानं देयं भक्त्या सुभाक्तिकैः ।
आहारादिचतुर्भेदं नानाशर्मशतप्रदम् ॥ ५७ ॥
पात्रं तु त्रिविधं ज्ञेयं मुनिश्रावकदृष्टिभाक् ।
तेषां दानं फलत्युच्चैः सत्सुखं वटबीजवत् ॥ ५८ ॥
कार्या श्रीमज्जिनेन्द्राणां पूजा स्वर्मोक्षदायिनी ।
तोयाद्यैः श्रावकैर्नित्य-मभिषेकपुरस्सरा ॥ ५९ ॥
सत्तोयेक्षुरसाद्यैर्ये कृत्वा भक्त्या सुचिन्तनम् ।
अर्चयन्ति जिनाकारां-स्ते लभन्ते सुरार्चनम् ॥ ६० ॥
जिनसद्माकृतीनां च विधिः स्याच्छर्मणां निधिः ।
तत्प्रतिष्ठा तयोर्यात्रा दुर्गतिच्छेदकारिणी ॥ ६१ ॥
इत्यादिधर्मसद्भावं समाश्रित्य सुखार्थिभिः ।
अन्ते सल्लेखना साध्या जिनपादाब्जचिन्तनैः ॥ ६२ ॥
श्रुत्वेति मुनिनाथोक्तं द्विधा धर्मं सुखप्रदम् ।
भव्यास्ते तं समादाय जाता धर्मे तरां रताः ॥ ६३ ॥
पुनः प्रीतिंकरो भक्त्या नत्वा तं मुनिपुङ्गवम् ।
ब्रूहि भो करुणासिन्धो पूर्वजन्मेति सोवदत् ॥ ६४ ॥

तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह संज्ञानमयलोचनः ।
सुप्रतिष्ठपुरेत्रैव सद्वने मुनिसत्तमः ॥ ६५ ॥
पुरा सागरसेनाख्यः समायातस्तपोनिधिः ।
तं वन्दितुं समागत्य सर्वे राजादयो मुदा ॥ ६६ ॥
भेरीमृदंगकंसाल-महानादेन भक्तितः ।
समभ्यर्च्य मुनेः पादौ स्तुत्वा नत्वा पुरं ययुः ॥ ६७ ॥
तदा वादित्रसन्नादं श्रुत्वा कोयं जनो मृतः ।
पत्तनेत्र परिक्षिप्त्वा तं पौराः स्वगृहं गताः ॥ ६८ ॥
अहं तं भक्षयिष्यामि संचिन्त्येति स्वमानसे ।
जम्बुको मृतकासक्तः समायातोति पापधीः ॥ ६९ ॥
तमागच्छन्तमालोक्य स मुनिर्ज्ञानवीक्षणः ।
भव्योयं व्रतमादाय मुक्तिमाशु गमिष्यति ॥ ७० ॥
इति ज्ञात्वा सुकारुण्या-दवोचद्दे शृगालक ।
त्वं पापादीदृशो जातो मुक्त्वा धर्मं जिनेशिनाम् ॥ ७१ ॥
अद्यापि मृतकासक्तो धिग्धिक्ते मूढ चेष्टितम् ।
मुञ्च मुञ्च महापापं यावन्नरकभूमिषु ॥ ७२ ॥
पतितोसि न पापेन तावत्त्वं कुरु रे शुभम् ।
स गोमायुस्तदाकर्ण्य मुनेर्वाक्यं महाहितम् ॥ ७३ ॥
चित्तं मे स्वामिना ज्ञातं शान्तो भूत्वेति संस्थितः ।
पुनर्जगाद योगीन्द्रो मत्वा तस्य प्रशान्तताम् ॥ ७४ ॥
व्रतेन्योस्मिन्समर्थोसि नैव त्वं मांसलम्पटः ।
ग्रहाणेदं व्रतं सारं रात्रिभोजनवर्जनम् ॥ ७५ ॥

नित्यं सौख्यप्रदं पूतं सतां चेतोनुरंजनम् ।
श्रुत्वेति जम्बुकः सोपि साधुवाक्यं जगद्धितम् ॥ ७६ ॥
त्रिः परीत्य मुनिं भक्त्या तस्मादादाय तद्व्रतम् ।
मद्यमांसादिकं पश्चा-त्त्यक्तवान्पुण्यवांस्तराम् ॥ ७७ ॥
ततः कालं नयत्येवं कश्चिच्छुद्धाशनेन च ।
यावत्संतोषभावेन नित्यं पादौ मुनेः स्मरन् ॥ ७८ ॥
एकदा तपसा क्षीणः शुष्काहारं स जम्बुकः ।
भुक्त्वा महातृषाक्रान्त-स्तोयपानाय कूपकम् ॥ ७९ ॥
संप्रविश्य सुधीः सन्ध्या-काले सोपानमार्गतः ।
दृष्ट्वा कूपे तमो गाढं सूर्योस्तं गतवानिति ॥ ८० ॥
मत्वा तथां तृषाक्रान्तो वहिरागत्य भास्करम् ।
दृष्ट्वा पुनः प्रविश्यैवं कांश्चिद्वारान्गतागतम् ॥ ८१ ॥
कृत्वा तत्र रविं नीत्वा तमस्तं स्वव्रते दृढः ।
रात्रौ तृष्णाग्निसन्तप्तो विशुद्धपरिणामभाक् ॥ ८२ ॥
स्मरन्निजगुरुं पूतं संसारांभोधितारणम् ।
मृत्वा तेनात्र पुण्येन त्वं जातोसि विचक्षणः ॥ ८३ ॥
पुत्रः श्रीमत्कुवेरादि-दत्ताख्यधनमित्रयोः ।
नाम्ना प्रीतिंकरो धीमा-न्नानासम्पद्विराजितः ॥ ८४ ॥
चरमाङ्गधरो धीरो रूपलावण्यमण्डितः ।
तस्माद्भो भव्य कर्त्तव्यं कष्टेपि व्रतरक्षणम् ॥ ८५ ॥
तच्छ्रुत्वा वहवो भव्या मुनीन्द्रोक्तं सुशर्मदम् ।
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते संसक्ता भक्तितस्तराम् ॥ ८६ ॥

तथा प्रीतिंकरः सोपि स्वभवान्तरमद्भुतम् ।
श्रुत्वा संवेगमासाद्य स्तुत्वा धर्मं जिनेशिनाम् ॥ ८७ ॥
प्रीत्या प्रणम्य तौ साधू निजात्मपरतारकौ ।
संस्मरन्व्रतमाहात्म्यं सुधीः स्वगृहमागतः ॥ ८८ ॥
ततस्त्रिविधवैराग्यं प्राप्य प्रीतिंकरो महान् ।
संसारमस्थिरं ज्ञात्वा भोगान्दुःखप्रदान्भुवि ॥ ८९ ॥
शरीरं मलसन्दोहं महापूति परिक्षयि ।
सम्पदां चपलां मत्वा चंचलामिव मोहिनीम् ॥ ९० ॥
पुत्रमित्रकलत्रादि-सर्वं बुद्ध्वात्मनः पृथक् ।
त्यक्त्वा मोहमहाजालं भवभ्रमणकारणम् ॥ ९१ ॥
श्रीमज्जिनेचन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ।
कृत्वा पूजां लसद्भक्त्या सर्वकल्याणदायिनीम् ॥ ९२ ॥
दत्वा दानं यथायोग्यं स्वलक्ष्मीं स्वसुताय च ।
दत्वा प्रियंकराख्याय विधिना न्यायतत्ववित् ॥ ९३ ॥
बन्धूनापृच्छ्य सद्वाक्यैः कैश्चिद्बन्धुजनैः सह ।
गत्वा राजगृहं प्राप्य वर्द्धमानजिनेशिनः ॥ ९४ ॥
पार्श्वे शक्रादिभिः सेव्यं भक्त्या नत्वा तमद्भुतम् ।
दीक्षां जैनीं जगत्पूज्यां संजग्राह शिवप्रदाम् ॥ ९५ ॥
महत्तपस्ततः कृत्वा रत्नत्रयविशुद्धिभाक् ।
शुक्लध्यानाग्निना दग्ध्वा घातिकर्मचतुष्टयम् ॥ ९६ ॥
केवलज्ञानमुत्पाद्य लोकालोकप्रकाशकम् ।
इन्द्रनागेचन्द्रार्क-खेचरेन्द्रनरार्चितः ॥ ९७ ॥

जैनधर्मामृतैर्वाक्यै-र्जगत्तापप्रहारिभिः ।
भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गे कृत्वा शर्मप्रभागिनः ॥ ९८ ॥
शेषकर्माणि निर्मूल्य भूत्वा सोष्टमहागुणी ।
मुक्तिं प्रीतिंकरः स्वामी सम्प्राप्तो मेस्तु शान्तये ॥ ९९ ॥
इति प्रीतिंकरस्वामि-सच्चरित्रं जगद्धितम् ।
अस्माकं भवतां भव्या भूयात्संज्ञानहेतवे ॥ १०० ॥
जिनपतिकथितं सद्धर्मलेशं श्रितोपि
प्रवरनरभवं सम्प्राप्य गोमायुरुच्चैः ।
विपुलतरसुखानि प्राप्तवान्मुक्तिलक्ष्मीं
तदिह कुरुत भव्याः सारजैनेन्द्रधर्मम् ॥ १०१ ॥

इति कथाकोशे रात्रिभुक्तित्यागफलप्राप्तप्रीतिंकर-स्वामिन आख्यानं समाप्तम् ।

१०९—पात्रदानाख्यानम् ।

श्रीमत्तीर्थकरान्नत्वा वृषभादीन् जगद्गुरून् ।
सतां तान्प्रियकारिण्याः पात्रदानकथां ब्रुवे ॥ १ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रा-स्यात्संभवा पूतभारती ।
भवत्वाशु महाज्ञान-सिन्धोः पाराय मे सती ॥ २ ॥
स सम्यग्दर्शनज्ञान-वृत्तरत्नपरिग्रहान् ।
निर्ग्रन्थान्भक्तितो वन्दे भुक्तिमुक्तिप्रदान् मुनीन् ॥ ३ ॥
आहारौषधसच्छास्त्रा-भयदानप्रभेदतः ।
प्राहुश्चत्वारि दानानि चतुराः पूर्वसूरयः ॥ ४ ॥

इतिदानादिसिद्धानि पवित्राणि जगत्त्रये ।
पात्रेषु योजितान्युच्चैः फलन्ति विपुलं फलम् ॥ ५ ॥
वटबीजं यथा चोप्तं युक्त्या सन्मृष्टभूमिषु ।
सुच्छायं फलति व्यक्तं पात्रदानं तथा सुखम् ॥ ६ ॥
एकवाप्या यथा नीरं नाना स्वादुप्रदं भवेत् ।
तरुभेदे तथा पात्र-भेदे दानं फलप्रदम् ॥ ७ ॥
पात्रं जिनाश्रयी चापि वरं नान्ये सहस्रशः ।
एककल्पतरुः सेव्यः श्रेयसे न परद्रुमाः ॥ ८ ॥
उत्कृष्टं मुनिनाथश्च मध्यमं श्रावकस्तथा ।
ज्ञेयं पात्रं जघन्यं तु सद्दृष्टिर्जिनभक्तिभाक् ॥ ९ ॥
इति त्रिविधपात्रेभ्यो दत्वा दानं सुधार्मिकैः ।
प्राप्यते किल यत्सौख्यं कथं व्यावर्ण्यते मया ॥ १० ॥
सुकान्तिकीर्तिमारोग्यं रूपसौभाग्यमद्भुतम् ।
पुण्यं सौख्यतरोर्बीजं कुलं गोत्रं च निर्मलम् ॥ ११ ॥
धनधान्यसुवर्णादि-यानजं पानकं तथा ।
पुत्रपौत्रादिसद्गेहं नानाभोगप्रसम्पदा ॥ १२ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचक्र्यादि-पदं शर्मप्रदं सताम् ।
संगमं सुजनानां च कल्याणानि दिने दिने ॥ १३ ॥
लभन्ते विमलं सौख्यं प्राणिनः पात्रदानतः ।
क्रमेण शिवसंगं च यथासौ नाभिनन्दनः ॥ १४ ॥
ज्ञात्वेति पात्रदानोत्थं फलं विपुलशर्मदम् ।
सद्भिः सत्पात्रदानेषु मतिः कार्या सदा मुदा ॥ १५ ॥

ये भव्याः पात्रदानेन फलं प्राप्ताः पुरा परम् ।
तेषां नामान्यपि ज्ञातुं कः क्षमः श्रीजिनं विना ॥ १६ ॥

तथा सूरिवरैः प्रोक्ता प्रसिद्धा दानिनो भुवि ।
तेषां कथाप्रबन्धेऽस्मिन्सन्नामानि प्रवच्म्यहम् ॥ १७ ॥

श्रीषेणेन महीशेन श्रीमद्वृषभसेनया ।
कौण्डेशेन वराहेण प्राप्ता ख्यातिः सुदानतः ॥ १८ ॥

उक्तंच—

श्रीषेणवृषभसेने कौण्डेशः शूकरश्च दृष्टान्ताः ।
वैयावृत्तस्यैते चतुर्विकल्पस्य मन्तव्याः ॥

श्रीषेणेन सुपात्राय दानमाहारसंज्ञकम् ।
औषधं मुनये दत्तं श्रीमद्वृषभसेनया ॥ १९ ॥

कौण्डेशेन पुरा शास्त्र-मभयं शूकरेण च ।
तेषां कथाः प्रकथ्यन्ते संक्षेपेण यथाक्रमम् ॥ २० ॥

पूर्वमाहारसद्दानं दत्वा श्रीषेणभूपतिः ।
शान्तीशः शान्तिकृज्जातः क्रमतस्तत्कथां ब्रुवे ॥ २१ ॥

जयश्रीशान्तिनाथस्त्वं भुक्तिमुक्तिप्रदो नृणाम् ।
तच्चरित्रं जगच्चित्रं संश्रितं शान्तयेस्तु नः ॥ २२ ॥

सन्तः श्रृण्वन्तु संक्षेपा-त्तच्चरित्रं जगद्धितम् ।
श्रुतेन येन भव्यानां भवन्ति सुखकोटयः ॥ २३ ॥

अथ जम्बूमति द्वीपे क्षेत्रे भरतसंज्ञके ।
पवित्रे श्रीजिनेन्द्रोक्त-धर्मणा शर्मकारिणा ॥ २४ ॥

मलयाख्यमहादेशे रत्नसंचयसत्पुरे ।
श्रीषेणो नामतो राजा प्रजानां हितकारकः ॥ २५ ॥
संजातः पुण्यतो धीरो दाता भोक्ता विचारवान् ।
निष्कण्टकः सदाचार-मण्डितोतीव धार्मिकः ॥ २६ ॥
तस्य राज्ञी महासाध्वी संजाता सिंहनन्दिता ।
अनन्दिता द्वितीया च रूपलावण्यमण्डिता ॥ २७ ॥
तयोः क्रमेण संजातौ पुत्रौ चन्द्रार्कसन्निभौ ।
इन्द्रोपेन्द्रादिसेनान्तौ शूरौ वीरौ बलान्वितौ ॥ २८ ॥
इत्यादिपरिवारेण स श्रीषेणः समन्वितः ।
स्वप्रजाः पालयन्नित्यं पुण्यवान्सुखतः स्थितः ॥ २९ ॥
तत्रैव सात्यकिर्नाम्ना ब्राह्मणोतिमहान्सुधीः ।
ब्राह्मणी तस्य जंघाख्या सत्यभामा सुता तयोः ॥ ३० ॥
तथा विप्रो बलग्रामे वेदवेदाङ्गपारगः ।
अग्नीलाब्राह्मणीनाथो नामतो धरणीजटः ॥ ३१ ॥
इन्द्रभूत्यग्निभूती च तयोः पुत्रौ मनःप्रियौ ।
दासीपुत्रश्च संजातः कपिलस्तस्य सूक्ष्मधीः ॥ ३२ ॥
तद्वेदाध्ययने सोपि कपिलो गूढवृत्तितः ।
वेदवेदाङ्गपारज्ञो जातो बुद्धिबलात्तराम् ॥ ३३ ॥
ग्रन्थार्थतो महाविद्वान् जातो दासीसुतोपि च ।
किं करोति नरो लोके बुद्धिः कर्मानुसारिणी ॥ ३४ ॥
तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणाः सर्वे कुपिता धरणीजटे ।
कृतं त्वया महायोग्यं यद्दासेरः सुपाठितः ॥ ३५ ॥

इतिक्रोधयुतं वाक्यं तेषां श्रुत्वा महाभिया ।
धरणीजटविप्रेण स:स्वगेहाद्बहिष्कृत: ॥ ३६ ॥
कपिलोपि विनिर्गत्य तद्ग्रामादचलाभिधात् ।
विप्ररूपं समादाय शीघ्रं रत्नपुरं ययौ ॥ ३७ ॥
असौ सात्यकिविप्रो हि तं वीक्ष्य कपिलं तदा ।
विप्रवेषेण संयुक्तं वेदवेदाङ्गपारगम् ॥ ३८ ॥
ज्ञात्वा योग्यं महाभ्रान्त्या विभूत्या निजपुत्रिकाम् ।
जम्बूभार्यासमुत्पन्नां तां ददौ सत्यभामिकाम् ॥ ३९ ॥
तस्मै सोपि समादाय तां सतीं सुखत: स्थित: ।
राज्ञा संपूजितो भूत्वा कुर्वन्ख्यातिं मनोहराम् ॥ ४० ॥
एवं वर्षाणि जातानि कानिचित्सत्यभामिका ।
दुश्चरित्रं विलोक्यैव स्वपते: ऋतुयोगके ॥ ४१ ॥
कस्य पुत्रोयमत्यन्त-पापात्मेति ससंशयम् ।
मानसे दु:खिता यावत्संस्थिता प्रीतिवर्जिता ॥ ४२ ॥
धरणीजटविप्रश्च पापाद्दारिद्र्यपीडित: ।
रत्नसंचयमायात: श्रुत्वा कपिलवैभवम् ॥ ४३ ॥
तं ब्राह्मणं समालोक्य दूरत: कपिलो रुषा ।
सन्तप्तो मानसे चापि वेगत: परया मुदा ॥ ४४ ॥
अभ्युत्थानादिकं कृत्वा वन्दित्वा च पुन: पुन: ।
विशिष्टासनमारोप्य मातुर्मे सुसहोदर: ॥ ४५ ॥
ब्रूत भो स्वामिनो यूयं सर्वे तिष्ठन्ति सौख्यत: ।
इति पृष्ट्वा सुखस्नान-भोजनैश्चित्तरंजनै: ॥ ४६ ॥

वस्त्रादिभिः समाराध्य सर्वेषामग्रतस्तदा ।
ममायं जनकः सर्व-विप्राणामग्रणीः सुधीः ॥ ४७ ॥
आचारवान्विचारज्ञः सर्वशास्त्रविचक्षणः ।
स्वमातुर्भेदसंभीतो माययैवं जगाद च ॥ ४८ ॥
सोपि दारिद्र्ययुक्तत्वा-त्तं पुत्रं प्रतिपद्य च ।
पापं श्रितस्तदा विप्रो धिग्दारिद्र्यमशर्मकम् ॥ ४९ ॥
एवं दिनेषु जातेषु केषुचिद्गूढवृत्तितः ।
स विप्रो भक्तितः पृष्टो दत्वा सारधनं तया ॥ ५० ॥
स्वनाथपितृकः सत्य-भामया ब्रूहि भो सुधीः ।
एकान्ते किं सुतस्तेयं सत्यं सत्यवताम्वर ॥ ५१ ॥
तदीयदुष्टचारित्रा-त्प्रतीतिर्मे न वर्त्तते ।
इत्याकर्ण्य द्विजः सोपि यातुमिच्छुर्निजं गृहम् ॥ ५२ ॥
चित्ते वहन्महाद्वेषं लब्धसम्पूर्णवित्तकः ।
प्रोक्त्वा तद्वृत्तकं सर्वं वेगतः स्वगृहं गतः ॥ ५३ ॥
दुष्टात्मना स्वनाथेना-निच्छन्ती सहवासताम् ।
सत्यभामाकुलाचार-मानिनी शरणं गता ॥ ५४ ॥
तं भूपतिं तदा तेन रक्षिता स्वसुतेव सा ।
कपिलोपि समायातः शोकादन्यायकं ब्रुवन् ॥ ५५ ॥
तत्कुशीलं विचार्याशु भूभुजा दुष्टमानसः ।
निर्घाटितः स्वदेशात्स लम्पटः कपटद्विजः ॥ ५६ ॥
शिष्टानां पालनं दुष्ट-निग्रहं ये महीभुजः ।
कुर्वन्ति तेन्यथा सर्वे प्रजानां धनहारिणः ॥ ५७ ॥

एकदा पुण्ययोगेन स श्रीषेणमहीपतिः ।
तपो रत्नाकरौ पूतौ पवित्रीकृतभूतलौ ॥ ५८ ॥

प्रतीक्ष्यादित्यगत्याख्या-रिंजयाख्यौ महामुनी ।
चारणौ गृहमायातौ भक्त्या ताभ्यां प्रहर्षतः ॥ ५९ ॥

दत्वान्नं विधिना प्राप पञ्चाश्चर्याणि शुद्धधीः ।
सत्यं सुपात्रदानेन किं शुभं यन्न जायते ॥ ६० ॥

रत्नवृष्टिस्तथा पुष्प-वृष्टिर्गीर्वाणदुन्दुभिः ।
त्रिधा वायुर्मरुत्साधु-कारश्चाश्चर्यपञ्चकम् ॥ ६१ ॥

ततो राज्यं विधायोच्चैः स राजा पुण्यपाकतः ।
धातकीखण्डपूर्वार्द्धे-स्थितोदकुरुभूतले ॥ ६२ ॥

काले मृत्वा समुत्पन्नो भोगभूभूरिभोगभाक् ।
किं न स्यात्साधुसंगेन सौख्यं स्यान्मुक्तिजं यतः ॥ ६३ ॥

ते द्वे राज्यौ तथा सा च सत्यभामा महासती ।
तत्रैवोदक्कुरूद्भोग-भूमौ राज्ञा समं तदा ॥ ६४ ॥

तिस्रो मृत्वा समुत्पन्ना-स्तत्सुदानानुमोदनात् ।
दशधा कल्पवृक्षाणां महाभोगानुरंजिताः ॥ ६५ ॥

उक्तंच—

मद्यातोद्यविभूषास्रग्-ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः ।
भोजनामत्रवस्त्राङ्गा दशधा कल्पपादपाः ॥

न रोगो नैव शोकश्च न चिन्ता न दरिद्रता ।
नाल्पमृत्युर्न वैरं च न सर्पा यत्र पापिनः ॥ ६६ ॥

शीतोष्णादिकबाधा न नैव युद्धं न दुर्जनः ।
यत्र कस्यापि सेवा न मानभंगो न कस्यचित् ॥ ६७ ॥
यत्रार्यपरिणामेन सर्वे तिष्ठन्ति सौख्यतः ।
जन्मादिमृत्युपर्यन्तं पात्रदानेन देहिनः ॥ ६८ ॥
यत्रोद्भवाः स्वभावोत्थ-मार्द्दवेन सुदानिनः ।
प्रान्ते देवगतिं यान्ति शेषपुण्यप्रभावतः ॥ ६९ ॥
तत्र सौख्यं चिरं भुक्त्वा स्वपंचेन्द्रियतर्पणम् ।
स श्रीषेणो महीपाल-स्तद्दानप्रथमोदयात् ॥ ७० ॥
कैश्चिद्भवान्तरैः पूतै-र्महाभ्युदयकारकैः ।
क्षेत्रेऽस्मिन्भारते सिद्धे हस्तिनाख्यपुरोत्तमे ॥ ७१ ॥
विश्वसेनमहीभर्त्तु-रैराराज्याः सुतो महान् ।
शान्तीशः तीर्थकृज्जातः पञ्चकल्याणशर्मभाक् ॥ ७२ ॥
येत्र भव्याः करिष्यन्ति पात्रदानं सुभक्तितः ।
तेषां नूनं भविष्यन्ति लोकद्वयमहाश्रियः ॥ ७३ ॥
इति ज्ञात्वा बुधैर्नित्यं स्वशक्त्या बहुभक्तितः ।
देयं पात्राय सद्दानं स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥ ७४ ॥
सद्रत्नत्रयमण्डितोतिविमलः श्रीमूलसंघे महान्
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः श्रीकुन्दकुन्दान्वये ।
तच्छिष्येण सुपात्रभोजनमहादानक्षणे शर्मणे
भूयाच्छान्तिविभोः कथा विरचिता श्रीनेमिदत्तेन वः ॥७५॥

इति कथाकोशे पात्राहारदानफलप्राप्त-श्रीश्रीषेण-महाराजाख्यानं समाप्तम् ।

———

११०–औषधदानफलाख्यानम् ।

नत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां भारत्याः सद्गुरोः क्रमान् ।
कथामौषधदानस्य वक्ष्ये त्रैलोक्यपूजितान् ॥ १ ॥
दीर्घायुः स्वस्थता चित्ते कुष्ठादिव्याधिसंक्षयः ।
नीरोगता सदानन्दो भवेदौषधदानतः ॥ २ ॥
सौभाग्यं धनधान्यं च रूपलावण्यसम्पदा ।
तेजोवलं सुखं चैव क्रमेण स्वर्गमोक्षयोः ॥ ३ ॥
ततः पात्राय सद्देयं दययान्यत्र च क्वचित् ।
दानमौषधसंज्ञं तु हितार्थैर्दोषवार्जितम् ॥ ४ ॥
दानस्यास्य फलं प्राप्तं यदनेकैर्महात्माभिः ।
तत्फलं शक्यते केन वर्णयितुं जगत्त्रये ॥ ५ ॥
फलमौषधदानस्य प्राप्तं वृषभसेनया ।
तदहं जिनसूत्रेण वक्ष्ये संक्षेपतः श्रिये ॥ ६ ॥
अथेह भरतक्षेत्रे जिनजन्मपवित्रिते ।
नाम्ना जनपदे देशे सम्पदा सारसंभृते ॥ ७ ॥
कावेरीपत्तने राजा प्रजानां हितकारकः ।
उग्रसेनोभवन्नाम्ना राजविद्याविराजितः ॥ ८ ॥
श्रेष्ठी धनपतिस्तत्र जिनपादार्चने मतिः ।
तस्य भार्या महासाध्वी धनश्रीः श्रीरिवापरा ॥ ९ ॥
तयोः पूर्वार्जितैः पुण्यैः रूपलावण्यमण्डिता ।
पुत्री वृषभसेनाख्या जाता कीर्तिवदुज्ज्वला ॥ १० ॥

तस्य रूपवती धात्री नित्यं स्नानादिकं मुदा ।
करोति बहुयत्नेन पुण्यात्किं वा न जायते ॥ ११ ॥
श्रीमद्वृषभसेनायाः स्नानवारिभरेण च ।
जातायां तत्र गर्त्तायां कुक्कुरं रोगपीडितम् ॥ १२ ॥
एकदा सा समालोक्य धात्रिका पतितोत्थितम् ।
गतरोमहाजालं तत्क्षणाजातविस्मया ॥ १३ ॥
पुत्रीस्नानजलं व्यक्तं कारणं रोगसंक्षये ।
इत्यालोच्य समादाय तज्जलं रोगनाशकम् ॥ १४ ॥
शीघ्रं तेन जलेनैव परीक्षार्थं महादरात् ।
निजमातुर्महच्चक्षु-र्व्याधिना संकदर्थिते ॥ १५ ॥
द्वादशवर्षपर्यन्तं तस्याः कुथितलोचने ।
प्रक्षाल्य निर्मलीकृत्य विलोक्यात्यन्तसुन्दरे ॥ १६ ॥
ततस्तेनाम्बुना सर्व-रोगसन्तानहारिणा ।
ख्याता रूपवती जाता सर्वव्याधिविनाशने ॥ १७ ॥
अक्षिजं कुक्षिजं रोगं शिरोजं गरलोद्भवम् ।
क्षयं नयति सा तत्र सर्वकुष्ठादिकं घनम् ॥ १८ ॥
अथैकदोग्रसेनेन स्वमंत्री रणपिङ्गलः ।
मेघपिङ्गलराजस्यो-परि संप्रेषितो द्रुतम् ॥ १९ ॥
ततोसौ बहुसैन्येन तद्देशं संप्रविष्टवान् ।
जातो महाज्वरी तत्र विषोदकनिषेवणात् ॥ २० ॥
पश्चात्स्वगृहमायातो रूपवत्या जलेन सः ।
प्राणीव गुरुवाक्येन कृतो रोगविवर्जितः ॥ २१ ॥

उग्रसेनोपि भूभर्ता कोपानलकदर्थितः ।
मेघपिङ्गलराजस्य बन्धनार्थं गतो जवात् ॥ २२ ॥
तथासौ विषनीरोत्थ-महाज्वरवितर्जितः ।
व्याघुट्यैव समायातः ससैन्यो मानवर्जितः ॥ २३ ॥
रणपिङ्गलतो ज्ञात्वा तज्जलं रोगनाशनम् ।
राजा याचितवांस्तूर्णं स्वरोगक्षयहेतवे ॥ २४ ॥
तदा धनश्रिया प्रोक्तं श्रेष्ठिनं प्रति भीतया ।
स्वामिन्कथं सुतास्नान-जलं भूपतिमस्तके ॥ २५ ॥
क्षेप्यते तत्समाकर्ण्य जगौ श्रेष्ठी गरिष्ठधीः ।
यदि पृच्छति राजासौ तदास्माभिः प्रकथ्यते ॥ २६ ॥
सत्यं जलस्वरूपं हि न दोषः स्यादिति ध्रुवम् ।
ब्रुवन्ति न कदा सन्तः प्राणत्यागेप्यसत्यकम् ॥ २७ ॥
एवं मंत्रे कृते तेन जलेनैव महीपतिः ।
उग्रसेनः कृतो धात्र्या तया रोगविवर्जितः ॥ २८ ॥
नीरोगेण ततो राज्ञा पृष्टा रूपवती स्फुटम् ।
सर्वं जगाद तत्तोय-स्वरूपं शर्मकारणम् ॥ २९ ॥
ततो राज्ञा समाहूतः श्रेष्ठी धनपतिः सुधीः ।
तत्कालं स समायातो दुर्लङ्घ्यं राजशासनम् ॥ ३० ॥
दत्वा तस्मै महामानं राज्ञा श्रेष्ठी स याचितः ।
श्रीमद्वृषभसेनां तां परिणेतुं गुणोज्वलाम् ॥ ३१ ॥
श्रुत्वासौ भूपतेर्वाक्यं जगौ श्रेष्ठी सुनिश्चलः ।
राजन्देवेन्द्रचन्द्रार्क-नरेन्द्रैः खचरैः कृताम् ॥ ३२ ॥

पूजामाष्टाह्निकीं पूतां स्वर्गमोक्षसुखप्रदाम् ।
जिनेन्द्रप्रतिमानां च स्नपनं पूजनं तथा ॥ ३३ ॥
करोषि यदि सद्भक्त्या पंजरस्थान्विमुञ्चसि ।
पक्षिणश्च तथा कारा-गारान्मुञ्चसि सत्वरम् ॥ ३४ ॥
मनुष्यांश्च तदा तुभ्यं ददामि मम पुत्रिकाम् ।
रूपसौभाग्यसत्पुण्य-मण्डितां कुलदीपिकाम् ॥ ३५ ॥
उग्रसेनस्तदा सर्वं कृत्वा राजा महामुदा ।
परिणीय महाभूत्या तस्य पुत्रीं सुखप्रदाम् ॥ ३६ ॥
कृत्वा पट्टमहाराज्ञीं वल्लभां तां तथैव च ।
अन्यत्कार्यं परित्यज्य नित्यं क्रीडां करोति सः ॥ ३७ ॥
तदा वृषभसेना च प्राप्य राज्ञीपदं महत् ।
दिव्यान्भोगान्प्रभुंजाना पूर्वपुण्यप्रसादतः ॥ ३८ ॥
पूजयन्ती जगत्पूज्या-ञ्जिनान्स्वर्गापवर्गदान् ।
दिव्यैरष्टमहाद्रव्यैः स्नपनादिभिरुत्तमैः ॥ ३९ ॥
मानयन्ती महासाधून्मानैर्दानैश्चतुर्विधैः ।
पालयन्ती व्रतं शीलं स्वोचितं सारशर्मदम् ॥ ४० ॥
कुर्वती परया प्रीत्या सम्मानं च सधर्मिणाम् ।
निजोन्नतेः फलं तद्धिं यद्भक्तिः स्यात्सधर्मिणाम् ॥ ४१ ॥
इत्यादिकं जगत्पूज्यं जिनधर्मं सुखप्रदम् ।
संकुर्वाणा लसद्भक्त्या सा सती सुखतः स्थिता ॥ ४२ ॥
अथ तत्र महाराजो वाराणस्याः सुदुष्टधीः ।
नामतः पृथिवीचन्द्रः कारागारे स तिष्ठति ॥ ४३ ॥

स तद्विवाहकालेऽपि दुष्टत्वान्नैव मोचितः ।
जन्तोरतीव दुष्टस्य क्व भवेद्बन्धनक्षयः ॥ ४४ ॥
पृथिवीचन्द्रकस्यास्य राज्ञो राज्ञी प्रवर्त्तते ।
या नारायणदत्ताख्या तया मंत्रं सुमंत्रिभिः ॥ ४५ ॥
कृत्वोच्चैः पृथिवीचन्द्र-मोचनार्थं सुकारिताः ।
नाम्ना वृषभसेनायाः शाला दानस्य सर्वतः ॥ ४६ ॥
वाराणस्यां महावस्तु-रसषट्कसमन्विताः ।
तासु वै भोजनं कृत्वा यथेष्टं ब्राह्मणादयः ॥ ४७ ॥
कावेरीपत्तने तुष्टा आगच्छन्ति निरन्तरम् ।
तेभ्यस्तां वार्त्तिकां श्रुत्वा रुष्टा रूपवती तदा ॥ ४८ ॥
कथं वृषभसेने त्वं वाराणस्यां क्षुधाहराः ।
मामनापृच्छ्य सद्दान-शालाः कारयसीति च ॥ ४९ ॥
सावोचत्तत्समाकर्ण्य प्रोक्तं वृषभसेनया ।
नाकारिता मया मात-र्मन्नाम्ना किन्तु केन वै ॥ ५० ॥
केनचित्कारणेनैव कारिताः सन्ति ताः शुभे ।
तासां शुद्धिं कुरु त्वं च तवानन्दो भविष्यति ॥ ५१ ॥
ज्ञात्वा चरैस्ततो धात्र्या सर्वं च कथितं मुदा ।
श्रीमद्वृषभसेनाग्रे तद्दानस्यैव कारणम् ॥ ५२ ॥
तथा च भूपतेः प्रोक्त्वा कारागारात्तदा द्रुतम् ।
स राजा पृथिवीचन्द्रो मोचितः प्रीतितस्तराम् ॥ ५३ ॥
ततः पृथिवीचन्द्रेण फलकेत्यन्तसुन्दरे ।
राज्ञो वृषभसेनायाः शुभे रूपे च कारिते ॥ ५४ ॥

यथोरधो निजं रूपं सप्रणामं च कारितम् ।
पश्चात्तयोः प्रणम्योच्चैः फलकस्तेन दर्शितः ॥ ५५ ॥
उक्तं वृषभसेनाया-स्त्वं भो देवि ममाम्बिका ।
त्वत्प्रसादेन मे जातं जन्मेति सफलं भुवि ॥ ५६ ॥
ततः सन्तोषमासाद्य राज्ञा सम्मानपूर्वकम् ।
भणितश्चोग्रसेनेन वाराणस्याः स भूपतिः ॥ ५७ ॥
गन्तव्यं भो त्वया मेघ-पिङ्गलस्योपरि द्रुतम् ।
श्रुत्वेति पृथिवीचन्द्रो तं नत्वा स्वपुरीं गतः ॥ ५८ ॥
मेघपिङ्गलराजासौ तदाकर्ण्य विचार्य च ।
ममायं पृथिवीचन्द्रो मर्मभेदीति निश्चितम् ॥ ५९ ॥
समागत्योग्रसेनस्य सामन्तोजनि भक्तितः ।
पुण्येन मित्रतामेति शत्रुः स्वैरं न संशयः ॥ ६० ॥
अथैकदोग्रसेनेन प्रतिज्ञेयं कृता मुदा ।
ममास्थानस्थितस्योच्चै-रागमिष्यति यद्ध्रुवम् ॥ ६१ ॥
तस्याहं प्राभृतंस्यार्द्धं मेघपिङ्गलकाय च ।
अर्धं वृषभसेनायै दास्यामीति तथा सति ॥ ६२ ॥
रत्नकम्बलयोर्युग्म-मेकदैव समागतम् ।
एकैकं तं ददौ राजा ताभ्यां कृत्वा समानकम् ॥ ६३ ॥
किं धनं कांचनं वस्त्रं किमायुश्च परिक्षयि ।
परोपकृतये प्रोक्तं पालनीयं वचो बुधैः ॥ ६४ ॥
मेघपिङ्गलभार्या या सैकदा तं सुकम्बलम् ।
प्रयोजनेन प्रावृत्य रूपवत्याः समीपके ॥ ६५ ॥

गता तत्र प्रमादेन परिवर्त्तोभवत्तदा ।
तयोः कम्बलयोः कष्टं प्रमादो न सुखायते ॥ ६६ ॥
तदा वृषभसेनायाः प्रावृत्यैव च कम्बलम् ।
उग्रसेनसभामध्ये स मुग्धो मेघपिङ्गलः ॥ ६७ ॥
सेवार्थी चैकदा यात-स्तं दृष्ट्वा भूपतिस्तदा ।
महाकोपेन सन्तप्तो वैह्निर्वा घृतयोगतः ॥ ६८ ॥
तदा भूपतिमालोक्य सकोपं मेघपिङ्गलः ।
ममायं कुपितो राजा ज्ञात्वेति प्रपलायितः ॥ ६९ ॥
सुदूरं गतवाञ्छीघ्रं महाहयवशीकृतः ।
दुर्जनाद्दुर्भावाद्वा सज्जनो गुणमण्डितः ॥ ७० ॥
उग्रसेनेन कोपाग्नि-सन्तप्तेनाविवेकिना ।
सती वृषभसेना सा समुद्रे पातिता वृथा ॥ ७१ ॥
धिक्कोपत्वं विमूढत्वं याभ्यां जीवो वशीकृतः ।
कदाचिन्नैव जानाति युक्तायुक्तविचारणम् ॥ ७२ ॥
तया श्रीजिनपादाब्ज-भ्रमर्या विहिता दृढम् ।
प्रतिज्ञा यद्यहं घोरा-देतस्मादुपसर्गतः ॥ ७३ ॥
उद्धरिष्यामि तच्चित्रं करिष्यामि महातपः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तं जरामरणनाशनम् ॥ ७४ ॥
तदा तस्या विशुद्धाया महाशीलप्रभावतः ।
जलदेवतया तत्र कृतं सिंहासनादिकम् ॥ ७५ ॥
प्रातिहार्यं महाभक्त्या जगच्चेतोनुरंजनम् ।
अहो भव्या न तच्चित्रं सच्छीलात्किं न जायते ॥ ७६ ॥

महाग्निर्जलतामेति स्थलतामेति सागरः ।
शत्रुश्च मित्रतामेति सुधात्वं याति दुर्विषम् ॥ ७७ ॥
सच्छीलेन यशः पुण्यं निर्मलं सारसम्पदा ।
भवन्ति स्वर्गसौख्यानि क्रमेण परमं पदम् ॥ ७८ ॥
तस्माच्छीलं जिनेन्द्रोक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ।
मनोमर्कटं रुद्ध्वा पालनीयं बुधोत्तमैः ॥ ७९ ॥
तच्छ्रुत्वा शीलमाहात्म्य-मुग्रसेनो महीपतिः ।
पश्चात्तापं तदा कृत्वा तामानेतुं गतः सतीम् ॥ ८० ॥
आगच्छन्त्या महासत्या तया वैराग्यभावतः ।
दृष्टो महामुनिस्तत्र वनमध्ये गुणान्वितः ॥ ८१ ॥
नाम्ना गुणधरो धीरः सावधिज्ञानलोचनः ।
तं प्रणम्य लसद्भक्त्या पृष्टो वृषभसेनया ॥ ८२ ॥
स्वामिन्पुराभवे किं च कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
मया तद्ब्रूहि योगीन्द्र दयारससरित्पते ॥ ८३ ॥
तन्निशम्य मुनिः प्राह शृणु पुत्रि गदाम्यहम् ।
त्वं पूर्वस्मिन्भवेत्रैव जातासि ब्राह्मणात्मजा ॥ ८४ ॥
नागश्रीर्नामतो राज-कीये देवकुले सदा ।
सम्मार्जनं करोष्येव मुनीन्द्रश्चैकदा महान् ॥ ८५ ॥
मुनिदत्तोभिधानेन समागत्य निजेच्छया ।
तत्र निर्वातगर्त्तायां प्राकाराभ्यन्तरे तदा ॥ ८६ ॥
अपराह्णे सपर्यंक-कायोत्सर्गेण संस्थितः ।
त्वया चाज्ञानभावेन रुष्टया भणितो मुनिः ॥ ८७ ॥

कटकान्मे समायातो राजात्रैवागमिष्यति ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ नग्न त्वं करोम्यत्र सुनिर्मलम् ॥ ८८ ॥
सम्मार्जनं तदा स्वामी महाध्यानेन संस्थितः ।
स धीरो मेरुवद्गाढं न चचाल स्वयोगतः ॥ ८९ ॥
ततस्त्वयाविवेकिन्या कतवारैर्महामुनेः ।
तस्योपरि क्रुधा कष्टं पूरयित्वा कृतं सुधीः ॥ ९० ॥
सम्मार्जनं जगत्पूज्यो यो मुनिः परमार्थतः ।
तस्य किं क्रियते कष्टं धिग्विमूढस्य चेष्टितम् ॥ ९१ ॥
प्रभाते चागतेनैव राज्ञा तत्र स्वलीलया ।
क्रीडां प्रकुर्वता वीक्ष्य तं प्रदेशं महाद्भुतम् ॥ ९२ ॥
उच्छ्वाससहितं चैव निःश्वाससहितं तथा ।
उत्खन्य स मुनिस्तेन शीघ्रं निस्सारितो मुदा ॥ ९३ ॥
त्वया तदा तमालोक्य मुनिं प्रशममन्दिरम् ।
आत्मनिन्दां तरां कृत्वा रुचिं धर्मे विधाय च ॥ ९४ ॥
महादरेण तस्यैव मुनिनाथस्य निर्मलम् ।
कृतं चौषधदानं हि महापीडाप्रशान्तये ॥ ९५ ॥
वैयावृत्यं विधायोच्चैः सर्वक्लेशविनाशनम् ।
पुत्रि तेनैव पुण्येन मृत्वेह त्वं गुणान्विता ॥ ९६ ॥
पुत्री धनपतेर्जाता धनश्रीकुक्षिसंभवा ।
सती वृषभसेनाख्या विख्याता भुवनत्रये ॥ ९७ ॥
विशिष्टौषधदानेन संजाता तेतिनिर्मला ।
सर्वौषधर्द्धिः सर्वेषां रोगाणां नाशकारिणी ॥ ९८ ॥

कतवारेण यत्स्वामी पूरितो मुग्धया त्वया ।
तत्पापेनैव लोकेभू-द्वृथा ते च कलंकता ॥ ९९ ॥
तस्मात्पुत्रि न युक्तैव साधुपीडा कदाचन ।
स्वर्गमोक्षफलप्राप्त्यै कर्तव्यं साधुसेवनम् ॥ १०० ॥
इति श्रुत्वा मुनेर्वाक्यं जगत्तापनिवारणम् ।
श्रीमद्वृषभसेना सा सद्वैराग्यपराभवत् ॥ १०१ ॥
ततश्च परलोकाय मोचयित्वा निजं मुदा ।
राजादीनां क्षमां कृत्वा भवक्लेशविनाशिनीम् ॥ १०२ ॥
दीक्षां गुणधराख्यस्य तस्य पार्श्वे सुखप्रदाम् ।
नत्वा मुनेः पदाम्भोजं संजग्राह विचक्षणा ॥ १०३ ॥
यथा वृषभसेना सा संजातौषधदानतः ।
सर्वौषधर्द्धिसम्पन्ना तथा तत्क्रियते बुधैः ॥ १०४ ॥
गुणधरयतिनोक्तं यच्चरित्रं पवित्रं
सकलभुवनसिद्धं तन्निशम्य प्रभव्याः ।
जिनपतिकथितेस्मिन्सारधर्मे बभूवुः
परमरुचिपरास्ते सा सती वः पुनातु ॥ १०५ ॥

इति कथाकोशे सुपात्रौषधदानफलप्राप्त-
श्रीवृषभसेनाख्यानं समाप्तम् ।

१११–शास्त्रदानफलप्राप्ताख्यानम् ।

नत्वा श्रीमज्जिनं देवं संसाराम्बुधितारणम् ।
वक्ष्येहं श्रुतदानस्यो-पाख्यानं सौख्यकारणम् ॥ १ ॥

भारतीं भुवनज्येष्ठां नमामि जिनसंभवाम् ।
अज्ञानपटलानां या सच्छलाका विनाशिनी ॥ २ ॥
मुनीनां जितमोहानां सद्रत्नत्रयशालिनाम् ।
पादपद्मानि सद्मानि पद्मायाः प्रणमाम्यहम् ॥ ३ ॥
इति श्रीजिनवाग्देवी-गुरून्नत्वा प्रकथ्यते ।
शृण्वन्तु सुधियो भव्या ज्ञानदानकथानकम् ॥ ४ ॥
यज्ज्ञानं सर्वजन्तूनां लोचनं परमोत्तमम् ।
तत्पात्राय महाभक्त्या दीयते किमतः परम् ॥ ५ ॥
ज्ञानेन विमला कीर्ति-र्ज्ञानेन परमं सुखम् ।
ज्ञानेन भुक्तिमुक्ती च प्राप्यते तन्निषेवणात् ॥ ६ ॥
सम्यग्ज्ञानं जिनेन्द्रोक्तं विरोधपरिवर्जितम् ।
सर्वथा भक्तितो नित्यं सेव्यं भव्यैः शुभश्रिये ॥ ७ ॥
दानैर्मानैर्जगत्सार-पूजनैः सप्रभावनैः ।
पठनैः पाठनैर्ज्ञान-माराध्य श्रीजिनोदितम् ॥ ८ ॥
वाचनापृच्छनासारा-नुप्रेक्षाम्नायसंयुतैः ।
धर्मोपदेशनैश्चैवं पंचधा ज्ञानभावना ॥ ९ ॥
कर्त्तव्या हि महाभव्यैः केवलज्ञानहेतवे ।
किमत्र वहुनोक्तेन जिनज्ञानं जगद्धितम् ॥ १० ॥
अनेकैर्भव्यमुख्यैश्च ज्ञानदानं कृतं पुरा ।
तेषां नामन्यपि प्राणी वक्तुं लोकेत्र कः क्षमः ॥ ११ ॥
कौण्डेशस्य महीभर्त्तुः प्रसिद्धा भुवनत्रये ।
या कथा ज्ञानदानस्य तामर्हत्सूत्रतो ब्रुवे ॥ १२ ॥

अथेह भरतक्षेत्रे जिनधर्मपवित्रिते ।
जातः कुरुमरिग्रामे गोपो गोविन्दनामभाक् ॥ १३ ॥
तेनैकदा महाटव्यां दृष्टं कोटरमध्यगम् ।
श्रीजैनं पुस्तकं पूतं पवित्रीकृतभूतलम् ॥ १४ ॥
तस्मादादाय सम्पूज्य भक्त्या दत्तं महात्मने ।
पद्मनन्दिमुनीन्द्राय वन्दिताय सुरेशिना ॥ १५ ॥
पूर्वं तेनैव शास्त्रेण तत्राटव्यां जितेन्द्रियाः ।
पूर्वभट्टारकाः केचित्कृत्वा व्याख्यां जगद्धिताम् ॥ १६ ॥
कारयित्वा महापूजां भाक्तिकैः स्वर्गमोक्षदाम् ।
विधाय श्रीजिनेन्द्राणां सद्धर्मे च प्रभावनाम् ॥ १७ ॥
भव्यान्सम्बोध्य सन्मार्गे प्रकाश्य श्रीजिनोदितम् ।
पुनस्तं कोटरे धृत्वा गतास्ते ध्वस्तकल्मषाः ॥ १८ ॥
बाल्यात्प्रभृति तेनैव गोविन्देन शुभप्रदा ।
तस्यैव पुस्तकस्योच्चै-श्चक्रे.पूजा सदा मुदा ॥ १९ ॥
एकदाथ स गोविन्दो यमव्यालेन भक्षितः ।
कः को न वंचितो लोके यमेन प्राणहारिणा ॥ २० ॥
मृत्वा तत्रैव संजातः स निदानेन गोपकः ।
तेन पुण्येन संयुक्तो ग्रामकूटस्य नन्दनः ॥ २१ ॥
सुखेन वर्द्धितो नित्यं जनयन्प्रीतिमद्भुताम् ।
जनानां शुभपुण्येन सुभगो जनरंजनः ॥ २२ ॥
एकदासौ तमालोक्य पद्मनन्दिमुनीश्वरम् ।
जातो जातिस्मरो ज्ञात्वा पूर्वजन्मविचेष्टितम् ॥ २३ ॥

नत्वा तस्य पदाम्भोजं महाधर्मानुरागतः ।
दीक्षां जग्राह पूतात्मा परमानन्दनिर्भरः ॥ २४ ॥
कालेनैव तपस्तप्त्वा स गोविन्दचरो मुनिः ।
ततः प्राणात्यये जातः कौण्डेशो भूमिपस्तराम् ॥ २५ ॥
बालेन विजितारातिः-स्तेजसेव दिवाकरः ।
स्वरूपेणेव कन्दर्पः कान्त्या पूर्णेन्दुसन्निभः ॥ २६ ॥
महाविभवसम्पन्नो महासौभाग्यमण्डितः ।
महासौख्यनिवासोऽभून्महाकीर्त्तिविराजितः ॥ २७ ॥
भुंजानो विविधान्भोगान्पालयन्पुत्रवत्प्रजाः ।
चतुष्प्रकारजैनेन्द्र-धर्मं कुर्वन्सुखं स्थितः ॥ २८ ॥
एवं काले गलत्युच्चैः पूर्वपुण्येन सौख्यतः ।
कदाचित्सोपि संवीक्ष्य कौण्डेशः कारणं महत् ॥ २९ ॥
निस्सारश्चैष संसारो भोगा रोगा इवापरे ।
अस्थिरा सम्पदा सर्वा चञ्चला भाति मोहिनी ॥ ३० ॥
शरीरं पलसन्दोह-संभृतं दुःखराशिदम् ।
बीभत्सु पूतिसंयुक्तं क्षणादेव परिक्षयि ॥ ३१ ॥
इति ज्ञात्वा सुधीश्चित्ते जैनतत्वविदाम्वरः ।
महावैराग्यसंपन्नो राज्यं त्यक्त्वा त्रिधा द्रुतम् ॥ ३२ ॥
कृत्वा पूजां जिनेन्द्राणां शर्मकोटिविधायिनीम् ।
नत्वा गुरुं तपो धृत्वा जिनोक्तं दोषवर्जितम् ॥ ३३ ॥
संजातः पूर्वपुण्येन मुनीन्द्रः श्रुतकेवली ।
अहो भव्या न तच्चित्रं भवेद्ज्ञानेन केवली ॥ ३४ ॥

यथासौ मुनिनाथोभू-च्छ्रुतज्ञानविराजितः ।
ज्ञानदानात्तथा भव्यैः कर्त्तव्यं स्वात्मनो हितम् ॥ ३५ ॥
ये भव्याः श्रीजिनाधीश-ज्ञानसेवां जगद्धिताम् ।
महाभक्त्या प्रकुर्वन्ति स्नपनैः पूजनैस्तथा ॥ ३६ ॥
स्तवनैर्जपनैर्नित्यं पठनैः पाठनैः शुभैः ।
लिखनैर्लेखनैः पात्रै-र्दानैर्मानैर्विशेषतः ॥ ३७ ॥
महाप्रभावनाङ्गैश्च सारसम्यक्त्वहेतुभिः ।
तेषां सुखानि भव्यानां भवन्त्येव सहस्रशः ॥ ३८ ॥
धनं धान्यं कुलं गोत्रं पवित्रं चारुमङ्गलम् ।
कीर्तिः स्वायुर्महाज्ञानं विमलाः सर्वसम्पदाः ॥ ३९ ॥
किमत्र वहुनोक्तेन सर्वे सारमनोरथाः ।
स्वर्गमोक्षप्रसौख्यानि प्राप्यन्ते ज्ञानसेवया ॥ ४० ॥
अष्टादश महादोषै-र्मुक्तो जिननायकः ।
तदुक्तं वचनं नित्यं भावितं भवति श्रिये ॥ ४१ ॥
मयेति कथिता ज्ञान-दानस्यैषा कथा शुभा ।
अस्तु मे भवतां भव्या केवलज्ञानहेतवे ॥ ४२ ॥
गच्छे श्रीमति मूलसंघविमले सारस्वते सच्छुभे ।
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरू रत्नत्रयालंकृतः ।
तच्छिष्येण कथा जिनेन्द्रकथिता श्रीज्ञानदानोद्भवा
भव्यानां भवशान्तये विरचिता भूयात्सदा शर्मदा ॥४३॥

इति कथाकोशे सुपात्रदत्तज्ञानदानफलप्राप्तकौण्डेश-नृपाख्यानं समाप्तम् ।

येषां दर्शनमात्रेण पवित्रजिनसद्मनाम् ।
क्षणात्पापं प्रयात्येव तत्र किं वर्ण्यते परम् ॥ ११ ॥
यत्र श्रीमुनयो नित्यं रत्नत्रयविराजिताः ।
भान्ति सत्तपसा स्वस्था मार्गा वा शिवसद्मनः ॥ १२ ॥
लसत्युच्चैर्जिनेन्द्राणां यत्र धर्मः सुशर्मदः ।
सम्यक्त्वरत्नसंपूतो दानपूजाव्रतान्वितः ॥ १३ ॥
दोषैर्मुक्तो जिनाधीशो देवदेवेन्द्रपूजितः ।
अष्टादशभिरित्यास्था केवलज्ञानशर्मभाक् ॥ १४ ॥
दशलाक्षणिको धर्मो गुरुर्निर्ग्रन्थलक्षणः ।
तत्वे जिनोदिते श्रद्धा सम्यक्त्वं चेति लक्षणम् ॥ १५ ॥
पूजां श्रीमज्जिनेद्राणां स्वर्मोक्षसुखदायिनीम् ।
दानं पात्रे महाभक्त्या नित्यं शर्मशतप्रदम् ॥ १६ ॥
सच्छीलमुपवासं च व्रतानि बहुभेदतः ।
यत्र भव्या विधायेति धर्मं यान्त्येव सद्गतिम् ॥ १७ ॥
तत्रोद्भवे घटग्रामे सम्पदासारसंभृते ।
संजातो देविलो नाम्ना कुंभकारो धनान्वितः ॥ १८ ॥
तत्रैव च घटग्रामे नाम्ना धार्मिलनापितः ।
ताभ्यां पथिकलोकानां वासदानायकारितम् ॥ १९ ॥
एकं देवकुलं तत्र देविलेनैकदा मुदा ।
धर्मार्थं मुनये दत्तो निवासः प्रथमं परः ॥ २० ॥
धर्मिलेन ततस्तत्र परिव्राजकरूकः कुधीः ।
समानीय धृतस्ताभ्यां मुनिस्तस्माद्बहिष्कृतः ॥ २१ ॥

सत्यं दुष्टा दुराचारा ये नराः पापवासिताः ।
तेषां नैव प्रियः साधु-रुलोकानामिवांशुमान् ॥ २२ ॥
ततश्च मुनिनाथोसौ तस्मान्निर्गत्य लीलया ।
वृक्षमूले स्थितो रात्रौ स्वशरीरेपि निस्पृहः ॥ २३ ॥
इन्द्रचन्द्रार्कनागेन्द्र-खेचरेन्द्रैः समर्चितः ।
शीतोष्णदंशमशकैः सहमानः परीषहान् ॥ २४ ॥
प्रभाते तं मुनिं दृष्ट्वा ज्ञात्वा तत्कारणं पुनः ।
देविलः कुंभकारश्च कुपितो धर्मिलाय सः ॥ २५ ॥
युद्धं कृत्वा तदा रौद्रं हत्वा तौ च परस्परम् ।
क्रमेण शूकरव्याघ्रौ संजातौ विन्ध्यपर्वते ॥ २६ ॥
यत्रैवास्ते गुहामध्ये स देविलचरः सुखम् ।
शूकरश्चैकदा तत्र समागत्य स्थितौ मुनी ॥ २७ ॥
द्वौ धीरौ दैवयोगेन पवित्रीकृतभूतलौ ।
समाधिगुप्तित्रिगुप्ती नाम्ना त्रैलोक्यपूजितौ ॥ २८ ॥
वीक्ष्य तौ यतिनौ जाति-स्मरो भूत्वा स शूकरः ।
धर्ममाकर्ण्य जैनेन्द्रं व्रतं किमपि चाग्रहीत् ॥ २९ ॥
तदा मानुष्यमाघ्राय गन्धं तत्रैव चागतः ।
स नापितचरो व्याघ्रो मुनिभक्षणदुष्टधीः ॥ ३० ॥
शूकरोपि गुहाद्वारे तयो रक्षमतिस्तराम् ।
स्थित्वा व्याघ्रेण तेनैव समं युद्धं चकार सः ॥ ३१ ॥
दन्तैर्नखैः करोद्घातैः कृत्वा युद्धं परस्परम् ।
तौ तत्र मरणं प्राप्तौ तिर्यञ्चौ चातिदारुणम् ॥ ३२ ॥

शूकरो मुनिरक्षाभिः प्रायेण शुभयोगतः ।
कल्पे सौधर्मसंज्ञोभू-द्देवो नानर्द्धिको महान् ॥ ३३ ॥
निजदेहप्रभाभारै-र्निष्काशितमहातमाः ।
रूपलावण्यसौभाग्य-सुरंजितजगन्मनाः ॥ ३४ ॥
दिव्याम्बरधरो धीर-स्तिरीटादिविभूषणः ।
स्रग्वी सुकान्तिसंयुक्तो विनिर्जितसुरद्रुमः ॥ ३५ ॥
अणिमादिगुणोपेतः सावधिज्ञानलोचनः ।
पूर्वपुण्यप्रसादेन स देवो दिव्यसौख्यभाक् ॥ ३६ ॥
देवाङ्गनागणैर्युक्तः सुरासुरैः सुसेवितः ।
महाविभवसम्पन्नो महाकल्याणभाजनम् ॥ ३७ ॥
सर्वेन्द्रविलसन्मौलि-कोटिचर्चितपङ्कुवाम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां चरणार्चनकोविदः ३८ ॥
कृत्रिमाकृत्रिमाणां च जिनेन्द्रवरसद्मनाम् ।
जिनेन्द्रप्रतिमानां च साक्षात्तीर्थेशिनां सदा ॥ ३९ ॥
पूजां प्रीत्या प्रकुर्वाणो लसत्संपत्प्रदायिनीम् ।
सत्तीर्थेषु महायात्रां दुर्गतिच्छेदकारिणीम् ॥ ४० ॥
महामुनिषु सद्भक्तिं नित्यं साधर्मिकेषु च ।
सद्वात्सल्यं वितन्वानः स देवः सुखमन्वभूत् ॥ ४१ ॥
इति श्रीजिननाथोक्त-सारधर्मप्रसादतः ।
भव्या भवन्ति सर्वत्र सुखिनो नात्र संशयः ॥ ४२ ॥
त्रैलोके धनधान्यादि-पुत्रपौत्रादिसम्पदाः ।
प्राप्यन्ते भो महाभव्या तासां धर्मो हि कारणम् ॥ ४३ ॥

पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां पात्रदानं व्रतक्रिया ।
प्रौषधादिविधिः प्रोक्तः सद्धर्मोयं सतां श्रिये ॥ ४४ ॥
स व्याघ्रस्तु महापापी मुनिभक्षणमानसः ।
मृत्वा तेनैव पापेन संप्राप्तो नरकं कुधीः ॥ ४५ ॥
ज्ञात्वेति च महाभव्यैः पुण्यपापफलाफलम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मे कार्या मतिः सदा ॥ ४६ ॥
इति सदभयदाने पात्रभेदेन मान्ये
परमसुखनिदाने ध्वस्तपापारिमाने ।
जिनपतिकथितेस्मिन्सारसूत्रे पवित्रे
भवति जगति सिद्धा सत्कथेयं श्रिये च ॥ ४७ ॥

इति कथाकोशेऽभयदानफलप्राप्तशूकरस्याख्यांनं समाप्तम् ।

११३-करकण्डुनृपस्याख्यानम् ।

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं प्रणम्य प्रगदाम्यहम् ।
करकण्डुनरेन्द्रस्य सच्चरित्रं सुखावहम् ॥ १ ॥
यः पुरा श्रीजिनाधीशं व्रतेनैकेन मुग्धधीः ।
गोपालोपि समभ्यर्च्य प्राप्तवान्सुखमुत्तमम् ॥ २ ॥
तच्चरित्रं पुराणज्ञै-र्यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ।
तेषां पादप्रसादेन संक्षेपेण तथोच्यते ॥ ३ ॥
अत्रैव भरतक्षेत्रे देशे कुन्तलसंज्ञके ।
पुरे तेरपुरे नीलमहानीलौ नरेश्वरौ ॥ ४ ॥

श्रेष्ठी श्रीवसुमित्राख्यो जिनपादाब्जषट्पदः ।
श्रेष्ठिनी वसुमत्याख्या तस्याभूद्धर्मवत्सला ॥ ५ ॥
तद्गोपो धनदत्तश्च कदाचिदटवीं गतः ।
सहस्रदलसंयुक्तं कमलं सरसि स्थितम् ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा जग्राह तत्रस्था नागकन्या तदावदत् ।
रे रे गोपाल मे पद्म यद्गृहीतं त्वयाधुना ॥ ७ ॥
सर्वोत्कृष्टाय दातव्यं यदीदं वाञ्छसि प्रियम् ।
ततोसौ नागकन्यायाः प्रतिपद्य वचो ध्रुवम् ॥ ८ ॥
तत्सुपद्म समादाय गत्वा स्वश्रेष्ठिनं प्रति ।
जगौ तद्वृत्तकं सोपि श्रेष्ठी श्रीवसुमित्रवाक् ॥ ९ ॥
प्रणम्य भूपतिं प्राह पद्मवृत्तान्तमद्भुतम् ।
ततः स भूपतिश्चापि श्रेष्ठी गोपादिभिर्युतः ॥ १० ॥
सहस्रकूटनामानं गत्वा श्रीमज्जिनालयम् ।
नत्वा जिनं सुगुप्ताख्यं मुनीन्द्रं च प्रपृष्टवान् ॥ ११ ॥
ब्रूहि भो करुणासिन्धो मुने सद्धर्मतत्ववित् ।
सर्वोत्कृष्टो भवेत्कस्तु तच्छ्रुत्वा मुनिरब्रवीत् ॥ १२ ॥
भो नरेन्द्र जगत्स्वामी जिनो रागादिवर्जितः ।
उत्कृष्टोत्कृष्टमाहात्म्यो वर्तते भुवनार्चितः ॥ १३ ॥
तन्निशम्य मुनेर्वाक्यं सर्वे भूपादयो मुदा ।
जय त्वं जिननाथेति प्रोक्त्वा चक्रुर्नमस्क्रियाम् ॥ १४ ॥
तदा गोपालकः सोपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः ।
भो सर्वोत्कृष्ट ते पद्म गृहाणेदमिति स्फुटम् ॥ १५ ॥

उक्त्वा जिनेन्द्रपादाब्जो-परिक्षिप्त्वा सुपंकजम् ।
गतो मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥ १६ ॥
अत्रान्तरे कथामन्यां प्रवक्ष्ये श्रृणुतादरात् ।
स्रावस्तीपत्तने श्रेष्ठी सुधीः सागरदत्तवाक् ॥ १७ ॥
नागदत्ता कुधीस्तस्य भार्या पापात्प्रलम्पटा ।
सोमशर्मद्विजे कष्टं संजातासक्तमानसा ॥ १८ ॥
भवन्ति योषितः काश्चित्पापिन्यः कुलमन्दिरे ।
कृष्णधूमशिखाकोटि-सन्निभा दुष्टचेतसः ॥ १९ ॥
तदा सागरदत्तोसौ श्रेष्ठी श्रीजिनधर्मवित् ।
ज्ञात्वा तच्चेष्टितं कष्टं सुधीर्वैराग्यमाश्रितः ॥ २० ॥
दीक्षामादाय जैनेन्द्रीं भवभ्रमणनाशिनीम् ।
तपः कृत्वा दिवं गत्वा तस्मादागत्य शुद्धधीः ॥ २१ ॥
अंगदेशेत्र चम्पायां वसुपालमहीपतेः ।
वसुमत्यां सुतो राज्ञां संजातो दन्तिवाहनः ॥ २२ ॥
एवं यावत्सुखं राजा वसुपालः स तिष्ठति ।
तावत्स सोमशर्माख्यो द्विजो भ्रान्त्वा भवावलिम् ॥ २३ ॥
देशे कलिंगसंज्ञे च नर्मदातिलकाह्वयः ।
हस्ती जातः स्वपापेन प्राणी दुर्गतिभाग्भवेत् ॥ २४ ॥
केनचिच्च द्विपः सोपि वसुपालस्य भूपतेः ।
प्रेषितः कर्मयोगेन संस्थितस्तस्य मन्दिरे ॥ २५ ॥
नागदत्ता च सा मृत्वा तामलिप्तपुरे क्रमात् ।
नागदत्ता पुनर्जाता वसुदत्तवणिक्प्रिया ॥ २६ ॥

सा तदा द्वे सुते लेभे धनवत्यभिधां तथा।
धनश्रियं च सद्रूप-मण्डितां गुणशालिनीम् ॥ २७ ॥
नागानन्दपुरे कश्चि-द्धनपालो वणिक्सुतः।
तां धनादिवतीं कन्यां विधिना परिणीतवान् ॥ २८ ॥
वत्सदेशे सुविख्याते कोशाम्बीपत्तने शुभे।
श्रेष्ठिनो वसुमित्रस्य धनश्रीः साभवत्प्रिया ॥ २९ ॥
तत्संसर्गेण सा तत्र धनश्रीः पुण्ययोगतः।
श्रुत्वा धर्मं जिनेन्द्राणां संजाता श्राविकोत्तमा ॥ ३० ॥
कदाचिन्नागदत्ता च पुत्रीस्नेहेन सन्मुदा।
धनश्रियो गृहं प्राप्ता तया पुत्र्या च सद्धिया ॥ ३१ ॥
प्राघूर्णक्रियां कृत्वा सा नीता मुनिसन्निधौ।
हितान्यणुव्रतान्युच्चै-र्ग्राहिता सा पुनस्ततः ॥ ३२ ॥
बृहत्पुत्री समीपं च गता तत्र तया तदा।
बुद्धभक्ता कृताप्येवं लब्ध्वा वारत्रयं पुनः ॥ ३३ ॥
ग्राहिताणुव्रतान्येवं धनवत्या निराकृता।
ततश्चतुर्थवारे च गृहीत्वा तानि भक्तितः ॥ ३४ ॥
धर्मे श्रीमज्जिनेन्द्रोक्ते सारशर्मविधायिनि।
दृढा भूत्वा स्वकालान्ते मृत्वा सत्पुण्यमाश्रिता ॥ ३५ ॥
कोशांब्यां वसुपालाख्य-भूपतेः कुलयोषितः।
वसुमत्याः सुता जाता कुदिने शेषपापतः ॥ ३६ ॥
तदा राजादिभिः कन्या मंजूषायां निधाय सा।
स्वनाममुद्रिकोपेता यमुनायां प्रवाहिता ॥ ३७ ॥

गंगायाः संगमं प्राप्य कुसुमाख्यमहापुरे।
गता पद्महृदे दृष्टा मालाकारेण केनाचित् ॥ ३८ ॥
नाम्ना कुसुमदत्तेन समानीय गृहं स्त्रियै।
दत्ता कुसुममालायै तया सा वहुयत्नतः ॥ ३९ ॥
पद्महृदे यतः प्राप्ता ततः पद्मावतीति सा।
प्रोक्त्वा संपोपिता तत्र संजाता नवयौवना ॥ ४० ॥
एकदा केनचिद्वीक्ष्य तस्या रूपं मनोहरम्।
गत्वा शीघ्रं मुदा दन्ति-वाहनस्य प्रजल्पितम् ॥ ४१ ॥
सोप्यागत्य समालोक्य तद्रूपं चित्तरंजनम्।
मालाकारं प्रतिप्राह ब्रूहि रे सत्यमेव च ॥ ४२ ॥
कस्येयं तनुजा चास्ति तच्छ्रुत्वा सोपि भो प्रभो।
अस्याः पुंत्रीति मंजूषा तदग्रे क्षिप्तवान्द्रुतम् ॥ ४३ ॥
वीक्ष्य तत्रस्थितां राज-मुद्रिकां सुमनोहराम्।
तां सज्जातिं परिज्ञात्वा दन्तिवाहनकोपि सः ॥ ४४ ॥
परिणीय महाभूत्या ततः पद्मावतीं सतीम्।
समानीय गृहं शीघ्रं तया सार्द्धं सुखं स्थितः ॥ ४५ ॥
कियत्यपि गते काले वसुपालो नरेश्वरः।
दृष्ट्वा स्वमस्तके श्वेतं केशं वा यमपाशकम् ॥ ४६ ॥
त्रिधा वैराग्यमासाद्य स्वराज्यं तनुजाय च।
दत्वा तस्मै जिनेन्द्राणां महास्नपनपूर्वकम् ॥ ४७ ॥
गृहीत्वा संयमं सारं मुनिर्भूत्वा विचक्षणः।
कृत्वा तपो जिनेन्द्रोक्तं स्वर्गे संप्राप्तवान्सुखम् ॥ ४८ ॥

राज्यं प्राप्य ततः सोपि दन्तिवाहनभूपतिः ।
भुंजानो विविधान्भोगान्संस्थितो धर्मतत्परः ॥ ४९ ॥
एकदा सा सती पद्मा-वती सुप्ता स्वमन्दिरे ।
स्वप्ने गजादिकं दृष्ट्वा स्वनाथस्य जगौ मुदा ॥ ५० ॥
तेनोक्तं ते सुतो भावी प्रतापी सिंहदर्शनात ।
क्षत्रियाणां भवेन्मुख्यो हे प्रिये गजवीक्षणात् ॥ ५१ ॥
भास्करस्येक्षणाच्चापि प्रजाम्भोजप्रमोदद: ।
इत्याकर्ण्य प्रभोर्वाक्यं सा सन्तुष्टा तरां हृदि ॥ ५२ ॥
तस्तेरपुरे गोपो धनदत्तः स शुद्धधीः ।
शेवालकहृदं प्राप्त-स्तरीतुं निजलीलया ॥ ५३ ॥
तत्र शेवालकेनोच्चे-र्वेष्टितो मरणं श्रितः ।
पुण्यात्पद्मावतीगर्भे समागत्य स्थितस्तदा ॥ ५४ ॥
तन्मृत्युं च परिज्ञाय स श्रेष्ठी वसुमित्रवाक् ।
संस्कार्य मृतकं तच्च स्वयं वैराग्यमाश्रितः ॥ ५५ ॥
नत्वा सुगुप्तनामानं मुनींद्रं भक्तिनिर्भरः ।
तस्माद्दीक्षां समादाय सत्तपोभिर्दिवं गतः ॥ ५६ ॥
अथ चम्पापुरे पद्मा-वत्यास्तस्याः सुमानसे ।
जातो दोह्लकश्चेति सविद्युन्मेघवर्षणः ॥ ५७ ॥
अंकुशं स्वयमादाय धृत्वा रूपं नरस्य च ।
समारुह्य द्विपपृष्ठे कृत्वा राजानमप्यलम् ॥ ५८ ॥
पत्तनाद्बहिरित्युचै-र्भ्रमामि स्वेच्छया सुखम् ।
ज्ञात्वा तन्मानसं चेति दन्तिवाहनभूपतिः ॥ ५९ ॥

स्वमित्रवायुवेगेन खेचरेण महाधिया ।
कारयित्वा तदा मेघा-डम्बरं चपलान्वितम् ॥ ६० ॥
नर्मदातिलकं शीघ्र-मलं कृत्वा महागजम् ।
चटित्वा च तया सार्द्धं पूर्वोक्तविधिना पुरात् ॥ ६१ ॥
निर्गतस्तु महाभूत्या सेवकाद्यैः समन्वितः ।
अहो मनोरथः स्त्रीणां महाश्चर्यविधायकः ॥ ६२ ॥
ततः कर्मोदयात्सोपि करीन्द्रो दुष्टमानसः ।
तदंकुशं समुल्लंघ्य संचचाल प्रवेगतः ॥ ६३ ॥
महाटवीं गजः प्राप्त-स्तदा स नृपतिः सुधीः ।
वृक्षशाखां समादाय शिक्षां वा सद्गुरोर्दृढम् ॥ ६४ ॥
समुत्तीर्य ततश्चम्पा-पुरीं प्राप्तः स्वपुण्यतः ।
भवेत्पुण्यवतां पुंसा-मुपायः संकटेपि च ॥ ६५ ॥
ततोसौ नृपतिर्गेहे हा त्वं पद्मावति प्रिये ।
किं ते जातमिदं कष्टं कुर्वञ्छोकमिति स्फुटम् ॥ ६६ ॥
तदा विद्वज्जनैः श्रीम-ज्जैनतत्वविदाम्वरैः ।
सम्बोधितस्तदा दन्ति-वाहनः सुखतः स्थितः ॥ ६७ ॥
भवेत्सतां शुभं वाक्यं चन्दनादपि शीतलम् ।
अन्तस्तापं निहन्त्युच्चै-र्यत्क्षणात्सर्वदेहिनाम् ॥ ६८ ॥
सोपि हस्ती मदोन्मत्तो देशानुल्लंघ्य भूरिशः ।
गत्वा दक्षिणदेशं च सरः श्रान्तः प्रविष्टवान् ॥ ६९ ॥
तां तडागे गजारूढां विलोक्य जलदेवता ।
समुत्तार्य द्विपाच्छीघ्रं स्थापयामास तत्तटे ॥ ७० ॥

अत्रान्तरे समागत्य रुदन्तीं वीक्ष्य तां जगौ ।
मालाकारस्तु सम्बोध्य भो भगन्येहि मद्गृहम् ॥ ७१ ॥
तच्छ्रुत्वा च तया प्रोक्तं कस्त्वं सोपि भटाख्यकः ।
मालाकारोहमित्युक्त्वा हस्तिनागपुरे द्रुतम् ॥ ७२ ॥
सतीं स्वगृहमानीय स्वसारं प्रतिपद्य ताम् ।
स्थापयामास सामान्यो भवेत्कश्चिच्छुभाशयः ॥ ७३ ॥
तस्मिन्क्वापि गते तस्य भार्यया मारिदत्तया ।
गृहान्निर्घाटिता सा च प्राप्ता घोरं श्मशानके ॥ ७४ ॥
प्रसूता तनुजं तत्र सती सत्पुण्यसंयुतम् ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णं विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥ ७५ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे तत्र तां प्रणम्य प्रभक्तितः ।
मातंगः संजगादेति मातस्त्वं स्वामिनी मम ॥ ७६ ॥
कस्त्वं तयोदिते सोपि जगौ चात्र खगाचले ।
दक्षिणश्रेणिसंस्थेस्मिन्पुरे विद्युत्प्रभे शुभे ॥ ७७ ॥
विद्युत्प्रभः खगाधीशो विद्युल्लेखास्ति कामिनी ।
तयोरहं समुत्पन्नो बालदेवाभिधः सुतः ॥ ७८ ॥
एकदा भार्यया सार्द्धं नाम्ना कनकमालया ।
दक्षिणाभिमुखं गच्छन्व्योमयानस्थितोहकम् ॥ ७९ ॥
मार्गे रामगिरौ दृष्ट्वा विमानस्खलनेन च ।
वीरभट्टारकं तस्यो-पसर्गस्तु मया कृतः ॥ ८० ॥
तदा पद्मावती देवी निजासनसुकम्पनात् ।
समागत्य जिनेन्द्राणां चरणाम्भोजषट्पदी ॥ ८१ ॥
उपसर्गं निवार्योच्चै-र्विद्याच्छेदं मम क्रुधा ।
चक्रे सद्दृष्टयो नैवं सहन्ते साधुपीडनम् ॥ ८२ ॥

विद्याच्छेदे तदा मात-र्दन्ती वा दन्तवर्जितः ।
निर्मदोहं तरां भूत्वा तां नत्वा प्रोक्तवानिति ॥ ८३ ॥
मया चाज्ञानभावेन कृतः साधूपसर्गकः ।
भो मातस्त्वं कृपां कृत्वा विद्यां मे देहि देवते ॥ ८४ ॥
पद्मावती महादेवी शान्ता भूत्वा तदा जगौ ।
हस्तिनागपुराभ्यर्णे श्मशाने भूरिभीतिदे ॥ ८५ ॥
यो बालकः गुणोपेतः संभविष्यति रे खग ।
तस्य रक्षां प्रयत्नेन त्वं करिष्यसि भक्तितः ॥ ८६ ॥
तद्राज्ये ते महाविद्याः सर्वाः सेत्स्यन्ति तच्छ्रुतेः ।
अहं मातंगवेषेण कुर्वन्यत्नं श्मशानके ॥ ८७ ॥
तिष्ठाम्यत्र तदाकर्ण्य राज्ञी पद्मावती च सा ।
सन्तुष्टा मानसे गाढं वर्द्धयैनं त्वमङ्गजम् ॥ ८८ ॥
इत्युक्त्वा तदा तस्य खेचरस्य समर्पयत् ।
सोपि बालं समादाय निधानमिव तुष्टवान् ॥ ८९ ॥
बालेदवखगाधीश-स्तं सुलक्षणसंयुतम् ।
ददौ कनकमालायै स्वस्त्रियै विलसत्प्रभम् ॥ ९० ॥
दृष्ट्वा तत्करयोः कण्डुं करकण्डुरयं सुतः ।
संप्रोक्त्वेति प्रयत्नात्तं पोषयामास सा सती ॥ ९१ ॥
अहो पूर्वप्रपुण्येन जन्तोः कष्टेपि सम्पदा ।
संभवत्येव तद्भव्यैः कार्यं पुण्यं जिनोदितम् ॥ ९२ ॥
पुण्यं सुपात्रसद्दानं पुण्यं श्रीजिनपूजनम् ।
पुण्यं व्रतोपवासाद्यैः संभवेच्छर्मदं सताम् ॥ ९३ ॥

ततः पद्मावती सा च गान्धारीक्षुल्लिकां शुभाम् ।
दृष्ट्वा सुपुण्यतो भक्त्या नत्वा प्रोक्त्वा स्ववृत्तकम् ॥ ९४ ॥
तया सार्द्धं प्रगत्वा च यत्नाल्लब्ध्वा जगाद्धितम् ।
समाधिगुप्तनामानं प्रणम्य मुनिसत्तमम् ॥ ९५ ॥
जगौ स्वामिन्कृपां कृत्वा दीक्षां मे देहि शुद्धधीः ।
तच्छ्रुत्वा स मुनिः प्राह जैनतत्वविदाम्वरः ॥ ९६ ॥
अहो पुत्रि तवेदानीं दीक्षाकालो न विद्यते ।
पूर्वं वारत्रयं चक्रे त्वया सद्व्रतखण्डनम् ॥ ९७ ॥
पश्चाद्व्रतं समाराध्य त्वं जातासि नृपात्मजा ।
दुःखं ते व्रतभङ्गेन जातं वारत्रयं ध्रुवम् ॥ ९८ ॥
तत्कर्मणि प्रशान्ते च पुत्रराज्यं विलोक्य वै ।
तेन सार्द्धं सुपुत्रेण दीक्षा ते संभविष्यति ॥ ९९ ॥
श्रुत्वा समाधिगुप्तस्य मुनेर्वाक्यं सुखप्रदम् ।
नत्वा तं क्षुल्लिकाभ्यर्णे भक्त्या सौख्येन सास्थिता ॥ १०० ॥
इतोसौ बालकस्तेन बालदेवखगेशिना ।
सारसर्वकलासूच्चैः संचक्रे कुशलो महान् ॥ १०१ ॥
एकदा तौ समागत्य करकण्डुखगाधिपौ ।
हस्तिनागपुरस्यैव श्मशाने लीलया स्थितौ ॥ १०२ ॥
तदा तत्र समायातो मुनीन्द्रो जयभद्रवाक् ।
दिव्यज्ञानी लब्धसत्तो मुनिवृन्दसमन्वितः ॥ १०३ ॥
केनचिद्यति ना तत्र दृष्टं नरकपालके ।
मुखे लोचनयोर्जातं वेणुत्रयमनुत्तरम् ॥ १०४ ॥

गुरोः प्रोक्तमहो स्वामिन्निदं किं कौतुकं स च ।
तच्छ्रुत्वा जयभद्राख्यो मुनिः प्राह तपोनिधिः ॥ १०५ ॥
हस्तिनागपुरे योत्र महाराजा भविष्यति ।
अंकुशाच्छत्रदण्डाः स्यु-स्तस्य चैतत्त्रयेण वै ॥ १०६ ॥
विप्रेण केनचित्तत्र समाकर्ण्य मुनेर्वचः ।
वेणुत्रयं समुन्मूल्य गृहीतं सुधनाशया ॥ १०७ ॥
तस्माद्विप्रात्सुधीः सोपि करकण्डुर्गृहीतवान् ।
यस्य यन्मुनिनोद्दिष्टं तस्य तद्भवति ध्रुवम् ॥ १०८ ॥
कियद्दिनेषु तत्रैव हस्तिनागपुरे मृतः ।
बलवाहनभूपस्तु विपुत्रः कर्मयोगतः ॥ १०९ ॥
तत्सज्जनैस्तदा हस्ती प्रेषितो विधिपूर्वकम् ।
स्वराजान्वेषणायोच्चै-स्ततः सोपि महागजः ॥ ११० ॥
करकण्डुं समालोक्य सारपुण्यसमन्वितम् ।
अभिषिच्य प्रयत्नेन धृत्वा तं निजमस्तके ॥ १११ ॥
राजमन्दिरमानीय स्थापयामास विष्टरे ।
ततस्तैः सज्जनैश्चापि प्रोल्लसज्जयघोषणैः ॥ ११२ ॥
महोत्सवशतैः शीघ्रं करकण्डुर्गुणोज्वलः ।
स्वप्रभुर्विहितो भक्त्या किं न स्याज्जिनपूजनात् ॥ ११३ ॥
तत्क्षणे बालदेवस्य खेचरस्य सुपुण्यतः ।
विद्यासिद्धिरभूदुच्चै-स्ततोसौ परया मुदा ॥ ११४ ॥
पद्मावतीं सतीं तस्य मातरं तां समर्प्य च ।
सस्नेहं तं प्रणम्योच्चैः खगाद्रिं खचरोगमत् ॥ ११५ ॥

तदासौ करकण्डुश्च हस्तिनागपुरे प्रभुः ।
सर्वशत्रून्समुन्मूल्य कुर्वन्राज्यं सुखं स्थितः ॥ ११६ ॥
तत्प्रतापं समाकर्ण्य कदाचिद्दन्तिवाहनः ।
दूतं संप्रेषयामास तदन्ते सोपि दूतकः ॥ ११७ ॥
समागत्य प्रभुं नत्वा करकण्डुं जगाद च ।
भो प्रभो मत्प्रभुर्वक्ति दन्तिवाहननामभाक् ॥ ११८ ॥
त्वया राज्यं प्रकर्तव्यं कृत्वा मे सेवनं सदा ।
अन्यथा ते प्रभुत्त्वं च वर्त्तते नैव भूतले ॥ ११९ ॥
तच्छ्रुत्वासौ प्रभुः प्राह करकण्डुर्महाक्रुधा ।
रे रे दूत त्वकं याहि मारयामि न नीतिवित् ॥ १२० ॥
रणांगणे मया कार्यं भावि यत्क्रियते हि तत् ।
इत्युक्त्वा वेगतो दत्वा प्रयाणं स्वबलान्वितः ॥ १२१ ॥
गत्वा चम्पापुरीं बाह्ये संस्थितः सुभटाग्रणीः ।
कार्ये समागते न स्युः सद्भटा मन्दबुद्धयः ॥ १२२ ॥
दन्तिवाहनराजापि स्वसैन्येन विनिर्गतः ।
तदा व्यूहप्रतिव्यूह क्रमेण द्वे बले स्थिते ॥ १२३ ॥
तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञात्वा सर्वं पद्मावती सती ।
गत्वा शीघ्रं स्वभर्तुश्च संजगौ सर्ववृत्तकम् ॥ १२४ ॥
तदा गजात्समुत्तीर्य-समागत्य च सम्मुखम् ।
पिता पुत्रश्च सोप्याशु करकण्डुर्विचक्षणः ॥ १२५ ॥
दृष्ट्वा परस्परं तत्र पितुः पादाम्बुजद्वयम् ।
ननाम विनयोपेतः सुपुत्रो भक्तिनिर्भरः ॥ १२६ ॥

दन्तिवाहनभूपोपि तं समालिंग्य सत्सुतम् ।
विभूत्या तूर्यनिर्घोषैः पुत्राद्यैः प्रविशत्पुरीम् ॥ १२७ ॥
भक्त्या जिनान्समभ्यर्च्य महास्नपनपूर्वकम् ।
तस्था गेहे सुखं धीमान्पूर्वपुण्यप्रसादतः ॥ १२८ ॥
अथान्यदिवसे राजा सोपि श्रीदन्तिवाहनः ।
विभूत्याष्टसहस्रोरु-कन्याभिः परमादरात् ॥ १२९ ॥
विवाहं कारयित्वाशु करकण्डोर्महाधियः ।
राजभारं च तस्यैव समर्प्य गुणशालिनः ॥ १३० ॥
स्वयं पद्मावतीदेव्या सार्द्धं पञ्चेन्द्रियोद्भवान् ।
भुंजानो विविधान्भोगान्मंदिरे सुखतः स्थितः ॥ १३१ ॥
राज्ये स्थित्वा सुधीः सोपि करकण्डुर्महानृपः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां धर्मकर्मपुरस्सरम् ॥ १३२ ॥
स्वप्रजां पुत्रवन्नित्यं पालयन्परया मुदा ।
पूर्वपुण्यप्रसादेन चिरं संतिष्ठते मुदा ॥ १३३ ॥
तदा मंत्रिवरैः प्रोक्तं प्रणम्य परमादरात् ।
श्रूयतां देव यद्भक्तै-रस्माभिः संनिगद्यते ॥ १३४ ॥
साधनीया भवद्भिस्तु चेरमाख्यस्तथा परः ।
पाण्डयश्चोलश्च राजानो गर्वपर्वतमाश्रिताः ॥ १३५ ॥
तच्छ्रुत्वासौ प्रभुस्तेषां प्रेषयामास दूतकम् ।
तेनागतेन संज्ञात्वा तेषां गर्वं च सत्वरम् ॥ १३६ ॥
गत्वा स्वयं क्रुधा युद्ध-स्थाने यावत्स्थितस्तदा ।
तेपि सम्मुखमागत्य चक्रुर्युद्धं सुदारुणम् ॥ १३७ ॥

करकण्डुस्ततो दृष्ट्वा भूपः स्वबलभङ्गकम् ।
महायुद्धं विधायोच्चै-र्धृत्वा शत्रुभूपतीन् ॥ १३८ ॥
कोपात्तन्मुकुटे पादं न्यसंस्तत्र विलोक्य च ।
जिनबिम्बानि हा कष्टं मया किं पापिना कृतम् ॥ १३९ ॥
इत्युक्त्वा तान्प्रति प्राह यूयं जैनाः किमत्र भो ।
तदा तैरोमिति प्रोक्ते करकण्डुश्च भूपतिः ॥ १४० ॥
हा हा मया निकृष्टेन क्रोधान्धेन विनिर्मितः ।
उपसर्गो हि जैनानां महापापविधायकः ॥ १४१ ॥
इत्यात्मनिन्दनं कृत्वा कारयित्वा च तान्क्षमाम् ।
तैः सार्द्धं च समागच्छन्स्वदेशं प्रति संमुदा ॥ १४२ ॥
मार्गे तेरपुराभ्यर्णे संस्थितः सैन्यसंयुतः ।
तदागत्य च भिल्लाभ्यां तं प्रणम्य प्रजल्पितम् ॥ १४३ ॥
अस्मात्तेरपुरादस्ति दक्षिणस्यां दिशि प्रभो ।
गव्यूतिकान्तरे चारु पर्वतस्योपरिस्थितम् ॥ १४४ ॥
धाराशिवपुरं चास्ति सहस्रस्तंभसंभवम् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रदेवस्य भवनं सुमनोहरम् ॥ १४५ ॥
तस्योपरि तथा शैल-मस्तके संप्रवर्त्तते ।
वल्मीकं तच्च सद्धस्ती शुभो भक्त्या दिनं प्रति ॥ १४६ ॥
शुण्डादण्डेन सत्तोयं गृहीत्वा कमलं सुधीः ।
समागत्य परीत्योच्चैः समभ्यर्च्य नमत्यलम् ॥ १४७ ॥
इत्याकर्ण्य प्रहर्षेण ताभ्यां दत्वोचितं द्रुतम् ।
करकण्डुर्महाराजो जिनभक्तिपरायणः ॥ १४८ ॥

गत्वा तत्र समालोक्य जिनेन्द्रभवनं शुभम् ।
समभ्यर्च्य जिनाधीशान्स्वर्गमोक्षसुखप्रदान् ॥ १४९ ॥
स्तुतिं चक्रे च सद्भक्त्या शर्मकोटिविधायिनीम् ।
प्रमादो नैव सद्दृष्टे-र्धर्मकर्मणि सर्वदा ॥ १५० ॥
ततो दृष्ट्वा च वल्मीकं पूजयन्तं महाद्विपम् ।
अत्रास्ति कारणं किंचि-च्चेतासि संविचार्य च ॥ १५१ ॥
तद्वल्मीकं समुन्मूल्य मंजूषां तत्र संस्थिताम् ।
दृष्ट्वोद्घाट्य प्रयत्नेन वीक्ष्य रत्नमयीं च सः ॥ १५२ ॥
श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य प्रतिमां पापनाशिनीम् ।
सन्तुष्टो मानसे चारु-सद्दृष्टिर्धर्मवत्सलः ॥ १५३ ॥
तस्याश्च भवनं चारु कारयित्वा सुभक्तितः ।
सुधीरग्गलदेवाख्यं स्थापयामास तत्र ताम् ॥ १५४ ॥
स मूलप्रतिमाङ्के च ग्रन्थिं दृष्ट्वा महीपतिः ।
शिल्पकर्मिणमा प्राह विरूपं दृश्यते तराम् ॥ १५५ ॥
इमां स्फोटय तच्छ्रुत्वा शिलाकर्मी जगाद च ।
अत्र तोयसिरा देव विद्यते तन्न भिद्यते ॥ १५६ ॥
भिद्यते चेदयं ग्रन्थि-स्तोयपूरो महानहो ।
निर्गच्छति ततस्तस्य महाग्रहवशेन च ॥ १५७ ॥
स्फोटितः शिल्पिनासौ च निर्गतो जलपूरकः ।
तस्मान्निर्गमने जातो राजादीनां च संशयः ॥ १५८ ॥
तदासौ करकण्डुश्च राजा श्रीजिनभक्तिभाक् ।
जलापनयनाग्राहं कृत्वा धर्मानुरागतः ॥ १५९ ॥

दर्भशय्यां समासीनो द्विधा संन्यासपूर्वकम् ।
तत्पुण्यतस्तदा शीघ्रं देवो नागकुमारकः ॥ १६० ॥
प्रत्यक्षीभूय तं प्राह नत्वा सद्विनयान्वितः ।
कालमाहात्म्यतो देव प्रतिमा रत्ननिर्मिता ॥ १६१ ॥
रक्षितुं शक्यते नैव तस्माच्च लयणं मया ।
तोयपूर्णं कृतं सर्वं भवद्भिस्तु ततः प्रभो ॥ १६२ ॥
जलापनयने चात्र कर्त्तव्यो नाग्रहः सुधीः ।
इत्याक्षेपेण देवेन स राजा धार्मिको महान् ॥ १६३ ॥
भक्त्या सद्दर्भशय्यायाः शीघ्रमुत्थापितो वदत् ।
केनेदं लयणं ब्रूहि कारितं सुमनोहरम् ॥ १६४ ॥
तथा वल्मीकमध्ये च प्रतिमा पापनाशिनी ।
स्थापिता केन तच्छ्रुत्वा जगौ नागकुमारकः ॥ ६९ ॥
अत्रैव विजयार्द्धेऽस्ति चोत्तरश्रेणिसंस्थितम् ।
नभस्तिलकमत्युच्चैः संपदाभिर्भृतं पुरम् ॥ १६६ ॥
तत्र चामितवेगाख्य-सुवेगौ खचराधिपौ ।
संजातौ श्रीजिनेन्द्राणां पादपद्मद्वये रतौ ॥ १६७ ॥
ज्येष्ठः परश्च भद्रात्मा तौ द्वौ चैकादिने मुदा ।
आर्यखण्डेऽत्र सद्भक्त्या समायातौ जिनालयान् ॥ १६८ ॥
वन्दितुं च समभ्यर्च्य मलयाख्यगिरौ जिनान् ।
भ्रमन्तौ पर्वते तत्र श्रीमत्पार्श्वजिनाकृतिम् ॥ १६९ ॥
दृष्ट्वा नत्वा समादाय मंजूषायां निधाय च ॥
अत्रैव सद्गिरौ चेमां मंजूषां सारयन्नतः ॥ १७० ॥

संस्थाप्य क्कापि गत्वा च पुनश्चागत्य भक्तितः ।
समुत्थापयतो याव-त्ता-वन्नोत्तिष्ठति त्वसौ ॥ १७१ ॥
ततस्तेरपुरं गत्वा प्रणम्यावधिलोचनम् ॥
मुनीन्द्रं प्राहतुः स्वामिन्कथं नोत्तिष्ठति प्रभो ॥ १७२ ॥
मंजूषिकेति संश्रुत्वा ज्ञानी प्राह मुनीश्वरः ।
अहो खगाधिपौ चेषा मंजूषा शर्मकारिणी ॥ १७३ ॥
लयणस्योपरि व्यक्तं लयणं संभविष्यति ।
वक्त्येवं च पुनर्वक्ति भावि यच्छ्रुणुतादरत् ॥ १७४ ॥
अयं सुवेगनामा च मृत्वार्त्तध्यानतो ध्रुवम् ।
गजो भूत्वा स्वमंजूषा-मिमां संपूजयिष्यति ॥ १७५ ॥
करकण्डुर्यदा राजा तां समुत्पाटयिष्यति ।
तदा द्विपस्तु संन्यासं कृत्वा स्वर्गं प्रयास्यति ॥ १७६ ॥
इत्याकर्ण्य मुनेर्वाक्यं मानसे तौ खगाधिपौ ।
प्रतिमायाः स्थिरत्वस्य संज्ञात्वा कारणं महत् ॥ १७७ ॥
पुनस्तं मुनिमानम्य पृष्टवन्तौ महामुने ।
कारितं लयणं केन शर्मदं भव्यदेहिनाम् ॥ १७८ ॥
तन्निशम्य मुनिः सोपि जगौ संज्ञानविग्रहः ।
इहैव विजयार्द्धे च दक्षिणश्रेणिसंस्थिते ॥ १७९ ॥
रथनूपुरसन्नाम्नि पुरे ख्यातौ खगाधिपौ ।
जातौ नीलमहानीलौ संग्रामे शत्रुभिः क्रुधा ॥ १८० ॥
प्राप्तविद्याधनच्छेदौ ताविहागत्य पर्वते ।
कृत्वा वासं सुखं स्थित्वा कियत्कालं सुधार्मिकौ ॥ १८१ ॥

कारयित्वा जिनेन्द्राणां लयणं सौख्यकारणम् ।
पुण्याद्विधाः समाप्योच्चै-र्विजयार्द्धं गतौ सुखम् ॥ १८२ ॥
ततस्तौ खेचरेन्द्रौ च तपः श्रीमज्जिनोदितम् ।
कृत्वा नीलमहानीलौ प्राप्तौ स्वर्गं गुणोज्वलौ ॥ १८३ ॥
इत्यादिसर्वसम्बन्धं संश्रुत्वामितवेगवाक् ।
ज्येष्ठो दीक्षां समादाय खगेशो सुतपोनिधिः ॥ १८४ ॥
कालं समाधिना कृत्वा स्वर्गं ब्रह्मोत्तराभिधम् ।
गत्वा महर्द्धिको देवः संजातो जिनभक्तिभाक् ॥ १८५ ॥
आर्त्तध्यानेन मृत्वा स सुवेगस्तु खगाधिपः ।
हस्ती जातोयमत्युच्चै-स्तेन देवेन बोधितः ॥ १८६ ॥
भूत्वा जातिस्मरः पुण्या-त्सम्यक्त्वाणुव्रतानि च ।
समादाय च वल्मीकं भक्त्या संपूजयन्स्थितः ॥ १८७ ॥
करकण्डो महीनाथ भो त्वयोत्पाटिते सति ।
वल्मीके सोपि हस्ती च संन्यासेनात्र तिष्ठति ॥ १८८ ॥
त्वं च तेरपुरेत्रैव पुरा गोपोसि भो प्रभो ।
पूजया जिननाथस्य राजा जातोसि साम्प्रतम् ॥ १८९ ॥
तस्मादिदं जगत्सारं सुधीः श्रीमज्जिनार्चनम् ।
येन प्राणी भवत्येवं क्षणात्सत्सौख्यभाजनम् ॥ १९० ॥
इत्युच्चैस्तं सुराजानं करकण्डुं गुणोज्वलम् ।
सुधीर्नागकुमारोसौ संबोध्यैवं सुरोत्तमः ॥ १९१ ॥
नत्वा धर्मानुरागेण संप्राप्तः स्वालयं मुदा ।
अहो पुण्येन जन्तूनां मित्रत्वं तादृशं भवेत् ॥ १९२ ॥

ततस्तेन नरेन्द्रेण तृतीयदिवसे द्रुतम् ।
कारितं जैनसद्धर्म-श्रवणं तस्य दन्तिनः ॥ १९३ ॥
सोपि दन्ती तदा मृत्वा सम्यक्त्वपरिणामभाक् ।
सहस्रारं दिवं प्राप्य देवो जातो महर्द्धिकः ॥ १९४ ॥
पशुश्चापि सुरो भूत्वा बभूव सुखभाजनम् ।
भवेच्छ्रीमज्जिनेन्द्रोक्त-धर्मात्किं प्राणिनां धनम् ॥ १९५ ॥
करकण्डुश्च भूपालो जैनधर्मधुरंधरः ।
स्वस्य मातुस्तथा बाल-देवस्योच्चैः सुनामतः ॥ १९६ ॥
कारयित्वा सुधीस्तत्र लयणत्रयमुत्तमम् ।
तत्प्रतिष्ठां महाभूत्या शीघ्रं निर्माप्य सादरात् ॥ १९७ ॥
स्वपुत्रवसुपालाय राज्यं दत्वा विरक्तधीः ।
संसारदेहभोगांश्च ज्ञात्वासौ बुद्बुदोपमान् ॥ १९८ ॥
पित्रा क्षत्रियभूपाद्यै-श्चेरमाद्यैः विचक्षणः ।
पद्मावत्या समं मात्रा दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥ १९९ ॥
कृत्वा तपो जगत्सारं संसाराम्भोधिपारदम् ।
निर्मलं निर्मलः सोपि संन्यासेन समं स्थिरः ॥ २०० ॥
ध्यायन्पादाम्बुजद्वन्द्वं जिनेन्द्राणां सुखप्रदम् ।
सहस्रारं दिवं प्राप्तः करकण्डुमुनीश्वरः ॥ २०१ ॥
दन्तिवाहनभूपाद्याः कालान्ते तेपि सद्धियः ।
स्वस्वपुण्यानुसारेण स्वर्गलोकं ययुः सुखम् ॥ २०२ ॥
पुरा पद्मेन संपूज्य श्रीजिनं कोटिशर्मदम् ।
करकण्डुः सुखं प्राप्तः किं पुनश्चाष्टधार्चनैः ॥ २०३ ॥

ये भव्याः श्रीजिनेन्द्राणां भक्त्या पादद्वयोर्चनम् ।
नित्यमेव प्रकुर्वन्ति ते लभन्ते परं सुखम् ॥ २०४ ॥
गोपालो धनदत्तवागपि पुरा मुग्धोऽपि पद्मेन च
श्रीमज्जैनपदाम्बुजं शुभतरं संपूज्य पूज्योभवत् ।
देवाद्यैः करकण्डुनामनृपतिः श्रीमत्प्रभाचन्द्रव-
त्तस्माद्भव्यजनैर्जिनेन्द्रचरणाम्भोजं सदाभ्यर्च्यते ॥२०५॥

इति कथाकोशे जिनपूजाफलप्राप्तकरकण्डुनृपते-
राख्यानं समाप्तम् ।

११४–जिनपूजाफलप्राप्तभेकाख्यानम् ।

श्रीमज्जिनं जगत्पूज्यं भारतीं भुवनोत्तमाम् ।
वक्ष्येहं सद्गुरुं नत्वा जिनपूजाफलोदयम् ॥ १ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्राणां पूजा पापप्रणाशिनी ।
स्वर्गमोक्षप्रदा प्रोक्ता प्रत्यक्षं परमागमे ॥ २ ॥
यः करोति सुधीर्भक्त्या पवित्रो धर्महेतवे ।
स एव दर्शने शुद्धो महाभव्यो न संशयः ॥ ३ ॥
यस्तस्या निन्दकः पापी स निन्द्यो जगति ध्रुवम् ।
दुःखदारिद्र्यरोगादि-दुर्गतेर्भाजनं भवेत् ॥ ४ ॥
स्नपनं पूजनं प्रीत्या स्तवनं जपनं तथा ।
जिनानामाकृतीनां च कुर्याद्भव्यमतल्लिकः ॥ ५ ॥

जिनयात्राप्रतिष्ठाभि-र्गरिष्ठाभिर्विशिष्टधीः ।
प्रासादप्रतिमोद्धारैः कुर्याद्धर्मप्रभावनाम् ॥ ६ ॥
यस्यां संक्रियमाणायां सत्यं स्वर्गापवर्गयोः ।
प्राप्यते कारणं पूतं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥ ७ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्क-नरेन्द्रार्चितपंकजाः ।
श्रीजिनेन्द्राः सदा पूज्याः सतां शर्मश्रिये मुदा ॥ ८ ॥
जिनेन्द्रार्चा महापुण्यं प्रसिद्धवचनं यतः ।
जिनपूजासमं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ॥ ९ ॥
अनेकैर्भव्यसंमुख्यै-र्भरतादिभिरुत्तमैः ।
प्राप्तं जिनेन्द्रपूजायाः फलं केनात्र वर्ण्यते ॥ १० ॥
जलाद्यैरष्टभिर्द्रव्यै-र्जिनार्चायाः किमुच्यते ।
पद्मेनैकेन भेकेन फलं प्राप्तं यदुत्तमम् ॥ ११ ॥

तथा च समन्तभद्रस्वामिभिरुक्तं—

अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥

अस्य कथा—

अथ जम्बूमति द्वीपे मेरोर्दक्षिण दिक्कृते ।
क्षेत्रे तीर्थेशिनां जन्म-पवित्रेत्रैव भारते ॥ १२ ॥
देशोस्ति मगधो नाम्ना निवेशो वा जगच्छ्रियः ।
जना यत्र वसन्त्युच्चै-र्धनैर्धान्यैः सुधर्मतः ॥ १३ ॥
तत्र राजगृहं नाम नगरं गुणिभिर्वरम् ।
भोगोपभोगसामग्री-प्राप्त्या यत्र निरन्तरम् ।॥ १४ ॥

मगधः सुप्रशोभाढ्यो नाम्नां वा सुरकल्पकः ।
सम्यक्त्वाननपल्ला-त्स्मात्स्वर्गाधिकं पुरम् ॥ १५ ॥
यत्र शर्मकरो धर्मः प्रसिद्धो जिनभाषितः ।
तस्य किं वर्ण्यते शोभा त्रैलोक्यप्रीतिदायिनी ॥ १६ ॥
तत्राभूद्भूपतिर्धर्मात्मा श्रेणिको दर्शनप्रियः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-सेवनैकमधुव्रतः ॥ १७ ॥
यः प्रतापः स्वशत्रूणां शान्तो वा चन्द्रमाः सताम् ।
प्रजानां पालने नित्यं पिता वा हितकारकः ॥ १८ ॥
तस्य राज्ञी महाराज्ञी रूपसौभाग्यशालिनी ।
चेलिनी जिनचन्द्राणां चरणार्चनकोविदा ॥ १९ ॥
सम्यक्त्वव्रतसद्रूप-रत्नभूषाविराजिता ।
सर्वविज्ञानसम्पन्ना जिनवाणीव सुन्दरा ॥ २० ॥
नागदत्तोऽभवच्छ्रेष्ठी परमिथ्यापदानुगः ।
श्रेष्ठिनी भवदत्ताख्या तस्याभूत्प्राणवल्लभा ॥ २१ ॥
सर्वदासौ महामाया-श्रितः श्रेष्ठिकः कुधीः ।
एकदा स्वाङ्गणे वाप्यां मृत्वा भेको महानभूत् ॥ २२ ॥
नरो मृत्वा पशो जातः पापात्तीव्रतरोत्र सः ।
तस्मात्पापं न कर्तव्यं भो भव्याः संकटेऽपि च ॥ २३ ॥
कदाचित्सा समायाता भवदत्ता जलार्थिनी ।
तां विलोक्य स मण्डूको जातो जातिस्मरस्ततः ॥ २३ ॥
तस्याः समीपमागत्य तदङ्गे चटितो द्रुतम् ।
निर्घाटितस्तया सोऽपि रोमाञ्चितशरीरया ॥ २५ ॥

तथापि पूर्वसम्बन्धाद्द-र्दुरः प्रीतिनिर्भरः ।
तस्यामुच्चैश्चटत्येव मत्वेति प्राक्तनी प्रिया ॥ २६ ॥
ततस्तया ममेष्टोयं कोपि जातः कुयोनिजः ।
इति ज्ञात्वावधिज्ञानी पृष्टः श्रीसुव्रतो मुनिः ॥ २७ ॥
तेनोक्तं सुव्रताख्येन मुनिना ज्ञानचक्षुषा ।
मूढस्ते नागदत्तोयं पतिर्मायासमन्वितः ॥ २८ ॥
संजातः पापतः पुत्रि मण्डूको मोहमण्डितः ।
श्रुत्वेति तं मुनिं नत्वा भक्त्या संसारतारणम् ॥ २९ ॥
तयासौ मोहतो नीत्वा दर्दुरः स्वगृहे धृतः ।
तत्र हृष्टमनाः सोपि तस्थौ यावत्ततोन्यदा ॥ ३० ॥
आगत्य वनपालस्तं राजानं श्रेणिकं मुदा ।
नत्वा व्यजिज्ञपद्देव दिव्ये वैभारपर्वते ॥ ३१ ॥
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्राद्यैः समर्चितपदद्वयः ।
वर्द्धमानो जिनेन्द्रोसौ समायातो जगत्प्रियः ॥ ३२ ॥
श्रुत्वेति श्रेणिको राजा जिनभक्तिपरायणः ।
दत्वा तस्मै महादानं परोक्षे कृतवन्दनः ॥ ३३ ॥
आनन्ददायिनीं भेरीं दापयित्वातिसंभ्रमी ।
चलच्चामरसद्भूत्या चलितो निश्चलाशयः ॥ ३४ ॥
समवादिसृतिं दृष्ट्वा हृष्टो राजा जगद्धिताम् ।
मेघमालां मयूरो वा धातुर्वादीव सद्रसम् ॥ ३५ ॥
तं वीक्ष्य केवलज्ञान-लोचनं परमेष्ठिनम् ।
प्रणम्य प्रातिहार्यादि-संयुक्तं सेवितं सुरैः ॥ ३६ ॥

विशिष्टाष्टमहाद्रव्यै-र्जलाद्यैर्जिनपुङ्गवम् ।
संपूज्य जगतां पूज्यं चकार स्तवनं शुभम् ॥ ३७ ॥
जय त्वं जिनदेवात्र कर्मेन्धनहुताशनः ।
दुःखदारिद्र्यदावाग्नि-शमनैकघनाघनः ॥ ३८ ॥
जय त्वं जिनसद्भानो लोकालोकप्रकाशकः ।
वचनांशुलसज्जालै-र्भव्यपद्मविकाशकः ॥ ३९ ॥
जय जन्मजरामृत्यु-ज्वरनाशभिषग्वरः ।
अनेकगुणमाणिक्य-रोहणाद्रे महास्थिरः ॥ ४० ॥
त्वं त्राता जगतां तात त्वं त्रैलोक्यविभूषणम् ।
त्वं ह्यकारणसद्बन्धु-स्त्वमपि त्क्षयकारणम् ॥ ४१ ॥
त्वत्पादसेवया देव यत्सुखं प्राप्यते ध्रुवम् ।
अन्यैर्भूरितरक्लेशैः स्वप्ने तदपि दुर्लभम् ॥ ४२ ॥
ततः श्रीमज्जिनाधीश भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ।
त्वद्भक्तिर्मे सदा भूया-दासंसारं शुभप्रदा ॥ ४३ ॥
इति स्तुत्वा जिनाधीशं भक्त्या नत्वा मुहुर्मुहुः ।
गौतमादीन्मुनींश्चापि प्रणम्य श्रेणिकः स्थितः ॥ ४४ ॥
तथा च भवदत्तादौ जिनभक्त्या गते सति ।
वन्दनार्थं जिनेन्द्रस्य शर्मकोटिविधायिनः ॥ ४५ ॥
श्रुत्वा सुरखगेन्द्रादि-वादित्रध्वनिमम्बरे ।
प्रोल्लसज्जयघोषं च स भेको जातसंस्मृतिः ॥ ४६ ॥
तद्वापीसंभवं पद्मं समादाय समुत्सुकः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्ज-पूजार्थं चलितो भृशम् ॥ ४७ ॥

मार्गे गच्छन्मुदा हस्ति-पादेनैव प्रचम्पितः ।
त्रैलोक्यप्रभुपूज्यस्य वर्द्धमानजिनेशिनः ॥ ४८ ॥
पूजानुरागतोत्यन्त-समर्जितशुभोदयात् ।
मृत्वा सौधर्मकल्पेसौ देवो जातो महर्द्धिकः ॥ ४९ ॥
क्व भेकः क्व च देवोभू-न्न हि चित्रं जगत्त्रये ।
जिनपूजाप्रसादेन किं शुभं यन्न जायते ॥ ५० ॥
तत्र चान्तर्मुहूर्तेन भूत्वासौ नवयौवनः ।
रूपलावण्यसम्पन्नः पूर्वपुण्येन संयुतः ॥ ५१ ॥
नाना रत्नप्रभाजालै-र्जटिलो दिव्यवस्त्रभाक् ।
सुगन्धकुसुमोद्दाम-मालालंकृतविग्रहः ॥ ५२ ॥
लब्ध्वावधिमहाबोध-ज्ञानं पूर्वभवान्तरे ।
पूजया जिननाथस्य भावनामात्रतो यतः ॥ ५३ ॥
देवो जातोस्मि दिव्योहं तस्मात्सा क्रियते तराम् ।
संविचार्येति सद्भक्त्या मुकुटाग्रे विधाय च ॥ ५४ ॥
भेकचिन्हं महाभूत्या समागत्य सुरोत्तमः ।
प्रवृत्तो जिनपादाब्ज-पूजां कर्त्तुं प्रहर्षतः ॥ ५५ ॥
तं पूजां जिनराजस्य कुर्वाणं शर्मदायिनीम् ।
विलोक्य श्रेणिको राजा नत्वा संपृष्टवान्गुरुम् ॥ ५६ ॥
स्वामिन्नस्य किरीटाग्रे भेकचिन्हं प्रवर्त्तते ।
तस्य किं कारणं ब्रूहि संशयध्वान्तभास्करः ॥ ५७ ॥
तच्छ्रुत्वा गौतमस्वामी संज्ञानमयविग्रहः ।
अवोचत्तस्य वृत्तान्तं सर्वमेव प्रपञ्चतः ॥ ५८ ॥

श्रुत्वा तद्भव्यलोकास्ते सर्वे श्रीश्रेणिकादयः ।
पूजाफलं जगत्सारं तस्यां जातास्तरां रताः ॥ ५९ ॥
मत्वेति श्रीजिनेन्द्राणां पूजातिशयमुत्तमम् ।
महाभव्यैः सदाकार्या जिनार्चा शर्मकारिणी ॥ ६० ॥
धनं धान्यं महाभाग्यं सौभाग्यं राज्यसम्पदा ।
पुत्रमित्रकलत्रं च सत्कुलं गोत्रमुत्तमम् ॥ ६१ ॥
दीर्घायुर्दुर्गतेर्नाशो विनाशः पापसन्ततेः ।
अभीष्टफलसम्प्राप्ति-र्मणिमुक्ताफलादिकम् ॥ ६२ ॥
सम्यक्त्वं मुक्तिसद्बीजं भवभ्रमणनाशनम् ।
सद्विद्या सच्चरित्रं च सौख्यं स्वर्गापवर्गयोः ॥ ६३ ॥
प्राप्यते भो महाभव्या जिनपूजाप्रसादतः ।
तस्मात्प्रमादमुत्सृत्य कार्या सा सौख्यदायिनी ॥ ६४ ॥
सम्यक्त्वद्रुमसिञ्चने शुभतरा कादम्बिनी बोधदा
भव्यानां वरभारतीव नितरां दूती सतां सम्पदे ।
मुक्तिप्रोन्नतमन्दिरस्य सुखदा सोपानपंक्तिः शुभा
पायाद्वस्तु समस्तसौख्यजननी पूजा जिनानां सदा ॥६५॥
शक्राः स्नानविधायिनः सुरगिरिः स्नानप्रपीठं पयः
सिन्धुर्यस्य सुकुण्डिका सुरगणाः सत्किकराः सादराः ।
नर्त्तक्योप्सरसः सुकीर्त्तिमुखरा गन्धर्वसन्नाकिनो
जाता जन्ममहोत्सवेत्र भवतां स श्रीजिनः शं क्रियात् ॥६६॥

श्रीमच्चारुमयूरवाहनपरा पद्मासना निर्मला
मिथ्याध्वान्तभरप्रणाशविलसद्भास्वत्प्रभाभासुरा ।
भव्याब्जप्रवनप्रमोदजननी सन्मार्गसंदर्शिनी
देवेन्द्रादिसमर्चिता जिनपतेर्जीयात्सतां भारती ॥ ६७ ॥

जातः श्रीमति मूलसंघतिलके सारस्वते सच्छुभे
गच्छे स्वच्छतरे प्रसिद्धमहिमा श्रीकुन्दकुन्दान्वये ।
श्रीजैनागमसिन्धुवर्द्धनविधुर्विद्वज्जनैः सेवितः
श्रीमत्सूरिमतल्लिको गुणनिधिर्जीयात्प्रभाचन्द्रवाक् ॥ ६८ ॥

श्रीमज्जैनपदाब्जसारमधुकृच्छ्रीमूलसंघाग्रणीः
सम्यग्दर्शनसाधुबोधविलसच्चारित्रचूडामणिः ।
विद्यानन्दिगुरुप्रपट्टकमलोल्लासप्रदो भास्करः
श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे ॥ ६९ ॥

श्रीसर्वज्ञविशुद्धिभक्तिनिरतो भव्यौघसम्बोधकः
कामक्रूरकरीन्द्रदुर्मदलये कण्ठीरवो निष्ठुरः ।
ज्ञानध्यानरतः प्रसिद्धमहिमा रत्नत्रयालंकृतः
कुर्याच्छर्मसतां प्रमोदजनकः श्रीसिंहनन्दी गुरुः ॥ ७० ॥

प्रोद्यत्सम्यक्त्वरत्नो जिनकथितमहासप्तभङ्गीतरङ्गै—
र्निर्द्धूतैकान्तमिथ्यामतमलनिकरः क्रोधनक्रादिदूरः ।
श्रीमज्जैनेन्द्रवाक्यामृतविशदरसः श्रीजिनेन्दुप्रवृद्धि—
र्जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिचयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः॥७१॥

तेषां पादपयोजयुग्मकृपया श्रीजैनसूत्रोचिताः
सम्यग्दर्शनबोधवृत्ततपसामाराधनासत्कथाः ।
भव्यानां वरशान्तिकीर्तिविलसत्कीर्त्तिप्रमोदं श्रियं
कुर्युः संरचिता विशुद्धशुभदाः श्रीनेमिदत्तेन वै ॥ ७२ ॥

इति कथाकोशे भट्टारकश्रीमल्लिभूषणशिष्य-ब्रह्म-नेमिदत्तविरचिते जिनपूजाफलप्राप्तभेकाख्याने चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ।